प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग
(600ई0पू0 से 100 ई0 तक)

[Crafts and Industries in North India During Early Historic Period]
(600 B.C to 100 A.D.)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध -सार

पर्यवेक्षक :
प्रो0 जय नारायण पाण्डेय
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता :
जय प्रकाश शुक्ल
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कला संकाय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2005

"शोध-सार"

प्राचीन भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्टताओं के कारण आज भी अक्षुण्य है। इन विशिष्टाओं मे से एक है आध्यामित्कता। इसमें संदेह नहीं है कि धर्म और दर्शन पर विशेष बल देने के कारण भारतीय संस्कृति आध्यात्मोन्मुख रही है परन्तु साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्जक जीवन और उँसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे। करीनेदार नगर, सुसज्जित महल, मंत्रियों, अंगरक्षकों और विद्वानों से युक्त राजदरबार वादक और नर्तक, विविध प्रकार के परिधान एवं वेश–भूषाएं, प्रसाधन के लिए अनेक प्रकार के आभूषण और गंध द्रव्य, धातु तथा काष्ठ निर्मित दैनिक प्रयोग की वस्तुएं एवं विविध प्रकार की आयुध सामाग्री ये सब भी तो भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक थे। प्राचीन भारतीय चिन्तकों को सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों में अस्थिरता भले ही दिखलायी पड़ी हो, लेकिन सांसारिकता में पड़े हुए जनसाधारण के लिए तो सभ्यता के ये प्रतीक सत्य और सुन्दर दिखलायी पड़ते थे। सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों से नीरस इतिहास को सरस बनाय जा सकता है।

सभ्यता के निरन्तर विकास के साथ उसके विविध पहलुओं में बदलाव आया। शिल्प एवं उद्योग इसका अपवाद नहीं हो सकते। शिल्प एंव उद्योग का जो स्परूप आज है, वह निश्चित रूप से पहले की तुलना में काफी भिन्न है। शिल्प एवं उद्योग काल विशेष के भौतिक जीवन पर तो प्रकाश डालते ही हैं साथ ही सामाजिक जीवन स्तर के विषय में भी जानकारी देतें है। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग (600 ई0 पू0 से 100 ई0 तक)का क्या स्परूप था, उससे जुड़े लोगों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति कैसी थी इसी जिज्ञासा से मैनें प्रस्तुत शोध शीर्षक–"प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग" **(Crafts and Industies in North India During Early Historic Period)** का चयन किया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग के अध्ययन के प्रयास में हमारे द्वारा लगभग ई0पू0 छठी शदी ई0 पू0 से प्रथम शताब्दी ई0 तक

के काल खण्ड को चयनित करने का कारण यह है कि इसी काल में भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के शिल्पियों की भूमिका के प्रमाण स्पष्ट एवं बड़ी संख्या में प्राप्त होते है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि ई0पू0 छठी शती से प्रथम शताब्दी ई0 तक का काल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सिर्फ इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं था कि इस काल में पूर्वकाल की तुलना में आधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है बल्कि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के दृष्टि से भी यह काल पहले की अपेक्षा प्रगतिशील रहा है।

मैनें अपने शोध प्रबन्ध को यथा सम्भव वैज्ञानिक तटस्थता से युक्त और मौलिक बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु अपने विषय के सन्दर्भ में दूसरों से अपनी भिन्नता और मौलिकता स्पष्ट करते हुए अपने शोध कार्य से पूर्व किये गये शिल्प एवं उद्योग सम्बंधी अध्ययन का संक्षेप में परिचय दिया गया है। जहाँ तक मुझे जानकारी है शिल्प एवं उद्योग पर उक्त काल खण्ड में स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं किया है। जो ग्रन्थ लिखे भी गये है उनमें स्फुट रूप से ही शिल्प एवं उद्योग सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है, लेकिन ऐसे स्फुट विवेचन शिल्प और उद्योग का न तो समग्र अध्ययन प्रस्तुत करते है और न ही यह उनका उद्देश्य रहा है। इसके साथ मैं यह स्पष्ट करना चहाता हूँ कि अभी तक प्रस्तुत शोध विषय से सम्बंधित जो भी कार्य हुआ है, उसकी समीक्षा करना तथा जो कार्य शेष है उसे यथा सम्भव पूरा करना हमारे शोध का लक्ष्य है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में तर्कशास्त्र की प्रचलित दो विधियों–आगमन और निगमन के आधार पर साक्ष्यों के विवेचन करने का प्रयास किया गया है। इसमें नवीन खोज कार्य करने का उतना आग्रह नहीं है जितना कि जो कार्य हो गया उसके विवेचन और विश्लेषण करने का।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को निम्नलिखित अध्यायों में बाँटकर अध्ययन किया गया है–

1. अध्ययन क्षेत्र का भौगोलिक परिचय तथा शिल्प एवं उद्योग का अर्थ और परिभाषा।
2. राजनीति एवं सामाजिक स्थिति।

3. शिल्पियों का विवरण।

4. धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग।

5. मृतिका, प्रस्तर एवं काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग।

6. वस्त्र, चर्म तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग।

7. शिल्पी संगठन और उनकी सामाजिक स्थिति।

प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसमें शोध अवधि 'प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल' का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में शिल्प एवं उद्योग के अर्थ और उसकी परिभाषा पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि प्राचीनकाल के उद्योग वर्तमान उद्योगों से किस प्रकार भिन्न थे।

सिन्धु–गंगा मैदान का वह समस्त भूभाग हमारे शोध क्षेत्र में आता है जो भारतीय सीमा में है। इसमें पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश का उत्तरी भाग और बिहार के क्षेत्र सम्मिलित किये गये है। इतिहासकारें ने उत्तर भारत को जिस प्रकार स्वीकार किया है, उत्तर भारत की वही सीमा हमारे शोध की सीमा है। छठी शती ई0पू0 में उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकारों ने जिन महाजनपदों एवं गणराज्यों का उल्लेख किया है उनमें अश्मक को छोड़कर शेष उत्तर भारत में ही स्थित थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि गंधार और कम्बोज के भू–भाग सम्प्रति पाकिस्तान के अंग बन चुके है लेकिन प्रसंगानुसार उन्हें भी अपने अध्ययन क्षेत्र में स्थान दिया गया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल का आरम्भ बिन्दु छठी शताब्दी ई0पू0 को माना गया है जबकि अन्तिम बिन्दु प्रथम शताब्दी ई0 को भी हमने अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से माना है। भारत का सांस्कृतिक इतिहास यद्यपि प्राचीन है लेकिन राजनीतिक इतिहास अनेक कारणों से छठी शताब्दी ई0पू0 से आरम्भ माना जाता है जैसे छठी शताब्दी ई0पू0 का अनेक कारणों से वैशिष्ट्य है वैसे ही प्रथम शताब्दी ई0 भी कई कारणों से महत्वपूर्ण है। उक्त कारणों के आलोक में हमने

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के अर्न्तगत 700 वर्षों (600 ई0पू0 से 100 ई0 तक) का समय सम्मिलित किया है।

शिल्प और उद्योग शब्दों का साथ–साथ प्रयोग होने के बावजूद दोनों में पर्याप्त अन्तर है। शिल्प शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में दो प्रमुख रूपों में मिलता है। प्रथम अर्थ में ललित कलाओं के लिए तथा द्वितीय अर्थ में कौशल एवं विशिष्टता लिए हुए कारीगर के कलात्मक कार्य के अर्थ में शिल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। प्राचीन साहित्य में शिल्प एवं उद्योग को पृथक्–पृथक् परिभाषित नहीं किया गया है और न ही उनकी पृथक्–पृथक् सीमाएं निर्धारित की गयी है। आधुनिक काल में शिल्प और उद्योग में मूल अन्तर यह है कि शिल्प की तुलना में उद्योग में अधिक पूंजी एवं श्रम के प्रयोग से बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होता है। प्राचीन भारत के सन्दर्भ में भी इस आधार पर मौर्य और मौर्योत्तर काल में अन्य शिल्प की तुलना में प्रस्तरकारी, ईंट निर्माण आदि में बड़े पैमाने पर कार्य होता था। अतः इन्हें हम उद्योग की श्रेणी में रख सकते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में शिल्प की जो परिधि बतलायी गयी है उसके बाहर शायद ही कोई विनिर्माण कार्य आता हो। अतः अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर होने वाले विनिर्माण कार्य को उद्योग की श्रेणी में रख सकते हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल प्राक्–मशीन काल था। इसलिए शिल्प एवं उद्योग पूरी तरह शारीरिक श्रम पर आधारित थे। इसी अध्याय में हमने प्राचीन काल के उद्योगों के सन्दर्भ में वर्तमान काल के उद्योगों के बदलते मानदण्डों का भी संक्षिप्त विवरण दिया है।

द्वितीय अध्याय में तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वैदिक कालीन जन किस तरह बड़े जनपदों में और जनपद महाजनपदों में परिवर्तित होते हुए बड़े राज्यों एवं गणराज्यों का रूप ग्रहण किये, मगध किस तरह सब पर भारी पड़ा और फिर मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई और उसके बाद शुंग–सातवाहनों की सत्ता स्थापित हुई। यही नहीं पारसीक, मेसीडोनियन, इण्डोग्रीक, शक–पह्लव और कुषाण जैसे विदेशी आक्रान्ताओं ने किन परिस्थितियों में भारत पर आक्रमण किया और उनमें से कुछ ने तो भारत में

दीर्घावधि तक शासन कैसे किया, इन सबका भी संक्षेप में विवरण दिया गया है। साम्राज्यों के उत्थान–पतन से शिल्प और उद्योग किस प्रकार प्रभावित हो रहे थे, इसका अध्ययन भी इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। उल्लेखनीय है कि राजनैतिक स्थिरता से वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग को बढ़ावा मिलता है औरा अस्थिरता का विपरीत प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी राज्य स्वयं शिल्प एवं उद्योग को अपने नियंत्रण एवं निर्देशन में विकसित करता था। जैसे अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि राज्य स्वयं अनेक उद्योगों का नियंत्रण करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य व्यापार, उद्योग और खान का नियंत्रण तो करता ही है, राजकीय प्रक्षेत्रों (फार्मो) का अध्यक्ष दासों और कर्मकरों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए, लोहारों, बढ़इयों और मिट्टी खोदने वालों से भी काम लेता है। अर्थशास्त्र में आकराध्यक्ष, लोहाध्यक्ष और कुप्पाध्यक्ष जैसे बड़े अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। आकराध्यक्ष का काम खनिज विज्ञान विशारदों और खनकों तथा आवश्यक यन्त्रों की सहायता से राज्य भर की खानों को देखना और उनमें कार्य कराना था। लोहाध्यक्ष ताँबा, सीसा, रांगा, वैकृन्तक (पारा), पीतल, कांसा और ताल आदि उत्पादन और उनसे पैदा होने वाली चीजों की देख–रेख करता था। कुप्याध्यक्ष जंगलों की देखभाल और उनकी सुरक्षा करता था और सब प्रकार की काठ की ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था करता था जो जीवन और दुर्ग रक्षा के निमित्त आवश्यक थी। इससे सम्बद्ध एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग पोत निर्माण का था जो कि बहुत बड़े पैमाने पर होता था। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य काल में राज्य का अनेक उद्योगों पर एकाधिकार था। आधुनिक शब्दावली में खानों, शस्त्रों, जंगलों, नमक तथा अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया था। इसके अतिरिक्त राज्य के न केवल कपड़े, तेल और चीनी के अपने कारखाने और मिले थीं बल्कि उसका निजी व्यापार और उद्योगों पर भी बहुत अंशो तक नियंत्रण था।

कनिष्क प्रथम के शासनकाल में कुषाण साम्राज्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति थी। उस समय उसके पूर्व में चीन का 'स्वर्गिक साम्राज्य' था। इसके पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य था और पार्थियन साम्राज्य से रोमन साम्राज्य की

शत्रुता थी। रोमन एक ऐसा मार्ग चाहते थे जहाँ से रोम और चीन के बीच व्यापार शत्रु देश पार्थिया से गुजरे बिना हो सके। इसलिए वे कुषाण साम्राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने के इच्छुक थे। महान् सिल्क मार्ग पर कुषाण साम्राज्य का नियंत्रण था। परिणाम स्वरूप कुषाणों के समय में पश्मोत्तर भारत उस समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। इससे शिल्प एवं उद्योगों को बढ़ावा मिला। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी पता चलता है कि कुषाणकालीन भारत अत्यन्त समृद्ध था।

राजनीति के साथ–साथ बदलती सामाजिक स्थिति का भी शिल्प और उद्योग पर प्रभाव पड़ा। ई0पू0 छठी शताब्दी से ई0 सन् की प्रथम शताब्दी तक का काल प्राचीन भारतीय राजनीति, समाज, अर्थ व्यवस्था और धर्म प्रत्येक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ ऐतिहासिक प्रथम मगध साम्राज्य की स्थापना हुई वहीं धर्म के क्षेत्र में महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के क्रांतिकारी अहिंसक उपदेश इस काल में सुनायी पड़े। ऐसे ही प्राचीन भारतीय समाजार्थिक जीवन के मूलाधार और विशेषताएं इसी काल में अपने रूप ग्रहण किये। एक ओर सैन्धव नगर सभ्यता और दूसरी ओर प्राचीन वैदिक साहित्य में जो धर्म प्रधान एवं ग्रामीण जनता की झलक मिलती है, इन दोनों सभ्यताओं की नींव पर प्रतिष्ठित एवं विकसित तत्कालीन प्राचीन भारतीय समाज एवं सभ्यता का स्वरूप इसी काल में स्पष्ट हुआ। जन से जनपद और जनपद से महाजनपदों का उत्कर्ष हो चुका था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था धीरे–धीरे जाति व्यवस्था की तरह अग्रसर हो रही थी। यद्यपि वैदिक काल में व्यापार एवं उद्योग के प्रति कुछ अनादर की भावना परिलक्षित होती है जैसे पणियों क्रो सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन ई0पू0 छठी शताब्दी तक आते–आते इस दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। अब शिल्प और उद्योग को समाज में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। नगर–सभ्यता के पुनरुत्थान के प्रमाण भी सुस्पष्ट है। औद्योगिक और व्यापारिक जीवन श्रेणियों के आधार पर संगठित होने लगे थे। आर्थिक जीवन में मुद्रा की भूमिका उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण होती जा रही थी । तत्कालीन समाज में इन गम्भीर परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक

काल से ही नये–नये उद्योग–धन्धों के विकास के कारण विभिन्न प्रकार के शिल्पी समूहों के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी और परिणामस्वरुप शिल्प एवं व्यवसाय पैतृक होते गये जो समाज में अलग–अलग जातियों की उत्पत्ति में एक सहायक कारक सिद्ध हुए। इस तरह हम कह सकते है कि जातियों–उपजातियों तथा विभिन्न शिल्पी एवं पेशेवर समूहों की उत्पत्ति के प्रमुख आधारों में रक्त और भोजन की शुद्धता, क्षेत्रीयता के अलावा विभिन्न प्रकार के शिल्प एवं उद्योग तथा पेशों की शुद्धता को एक प्रबल आधार के रुप में स्वीकार किया जा सकता है।

अध्याय तीन में महत्वपूर्ण शिल्पियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। वैदिकोत्तर समाज में बढ़ते नगरीकरण और तीव्र आर्थिक विकास के साथ ही साथ शिल्प और उद्योग का भी न केवल और अधिक विकास हुआ अपितु उनमें विविधता और विशिष्टता भी आयी। शिल्प का क्षेत्र व्यापक मानते हुए संगीत और ललितकलाओं को भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया। कौशीतकी ब्राह्मण में नृत्य और गीत को भी शिल्प के अन्तर्गत रखा गया था। ऐसे ही बौद्ध ग्रन्थों में भी नट, लंघक आदि की कलाकारी को भी सिप्प (शिल्प) में सम्मिलित किया गया था। शिल्पियों के सम्बन्ध में पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी व्याकरण ग्रन्थ होने के बावजूद बहुत सी अन्य बातों का भी प्रामाणिक स्रोत है। इसमें शिल्प और उससे सम्बद्ध लोगों (शिल्पकारों) के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति मूलक जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द 'चारु शिल्पी' और 'कारुशिल्पी' दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायक, वादक जिस नृत्य संगीत की साधना करते हैं उस ललित कला को भी उस समय शिल्प कहा जाता था लेकिन इन शिल्पियों को मैंने अपने शोध विषय में सम्मिलित नहीं किया है। अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य में उल्लिखित अन्य शिल्पियों में कुलाल, तक्षा, धनुष्कार, रजक, अयस्कार, कर्मार, मूर्तिकार, स्वर्णकार, खनक, तन्तुवाय, चर्मकार, नगरकार (राजगीर), कटकार, रज्जुकार विशेष महत्वपूर्ण है। इन सभी शिल्पियों की तत्कालीन अर्थव्यवस्था, वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प और उद्योंग में विशिष्ट भूमिका को देखते हुए मैनें इन्हें अपने शोध का विषय बनाया है। इन शिल्पियों का विवरण देते समय

उनकी तुलना वर्तमान शिल्पियों से की गयी है। जैसे तक्षा या बर्द्धकि नामक शिल्पी का उल्लेख करते समय यह बताया गया है कि प्राचीन काल में तक्षा दो तरह के होते थे–ग्राम तक्षा और कौटतक्षा। जो बढ़ई अपने घर पर अथवा अपने छोटे (आसन) पर बैठे–बैठे कार्य करता था और लोग उसके पास आकर कार्य कराते थे, वह कौटतक्षा कहलाता था जबकि मजदूरी (भृत्ति) पर गाँव में जाकर घूम–घूम कर काम करने वाला बढ़ई ग्राम तक्षा कहलाता था। इनमें कौटतक्षा का अपेक्षाकृत अधिक सम्मान था। ग्राम तक्षा जो गाँव में सभी निवासियों के लिए काष्ठ कार्य करता था और आवश्यकतानुसार उनके घर पर जाकर भी मरम्मत और नव निर्माण करता था उसे वर्ष में एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित मात्रा में अन्न राशि मिलती थी। **उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत के अधिकांश ग्रामों में बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, जैसे शिल्पकारों (इन्हें कुछ जगह 'प्रजा' भी कहा जाता है) को वर्ष में एक या दो बार उनकी सेवाओं के बदले निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता है जिसे कुछ क्षेत्रों में 'तिहाई' कहा जाता है। ऐसे क्षेत्रों में शोधकर्ता का गृह जनपद गोण्डा अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जा सकता है।** कौटतक्षा का समीकरण आजकल के नगरों में स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाले काष्ठ शिल्पियों से किया जा सकता है जो अपनी दूकान पर बैठकर कार्य करते हैं और किये काम के लिए उचित नकद राशि लेते हैं। प्राचीन भारत में आज की तह प्रत्येक ग्राम में एक बढ़ई का भी घर होता था और किसी–किसी ग्राम में एक से अधिक भी होता था। इसी तरह अन्य शिल्पियों का भी इस अध्याय में तुलनात्मक परिचय दिया गया है।

अध्याय चार में धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। धातु से सम्बंधित शिल्प एवं उद्योगों में लौह, ताम्र, कांस्य, टिन, जैसी दैनिक उपयोग की धातुओं के साथ ही साथ सोना, चाँदी जैसी बहुमूल्य और विलासितावाली धातुओं पर आधारित शिल्पकारी का भी अध्ययन किया गया है। धातु से सम्बन्धित शिल्पकारों में लोहार सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिल्पी था। भारत में लौह उद्योग की प्राचीनता विवादास्पद रही है लेकिन अधीतकाल में लोहे की भूमिका लगभग प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो गयी थी, इसमें सन्देह नहीं है। लोहे का प्रयोग

किन–किन क्षेत्रो में किस प्रकार होता था और लौह उपकरण बनाने की प्रक्रिया और विधि क्या थी, इन सबका अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। साहित्य के अलावा पुरातत्व से भी इस अवधि में लोहे के विविध प्रयोग की सूचना मिलती है। उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में अधिकांश क्षेत्रों में यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र परम्परा के काल में लगभग 1000 ई0पू0 में हो गया था लेकिन एन0बीपी0 काल में लोहे के व्यापक स्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं जिससे लौह अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणें के बड़े पैमाने पर उपयोग से लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। प्रमुख लौह उपकरणों में वाणफलक, भाले के शीर्ष, वल्लम शीर्ष, बर्छी, कटार, चाकू, हँसिया, खुरपी–कीलें, बसूला, छेनी, कड़ाही तथा दीपक आदि हैं। उत्खनन से प्राप्त लौह धातुमल, धातुविगलन का संकेत देते हैं। खेती के कार्यों विशेषकर जुताई के कार्य में लोहें के बने हुए फालों के प्रयोग से गांगेय क्षेत्र की चूने से युक्त कड़ी जलोढ़क मिट्टी पर कृषि कार्य अधिक आसान हो गया है। लोहे के बर्मे (Drills) बसूले (Adzes), छेनियों एवं रूखानियों के निर्माण से विभिन्न शिल्पकार्यों विशेषकर लकड़ी की वस्तुओं के बनाने में विशेष प्रगति हुई। लोहे की लोकप्रियता के कारण ताँवें का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित होता गया। ताँबे का प्रयोग अब सिक्कों के निर्माण, अजंन, शलाकाओं खिलौनों, मुद्रिकाओं (Rings) मथा मनकों आदि के बनाने में किया जाने लगा। ये सब उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के साथ मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा की तिथि अधीतकाल के सीमा के अन्तर्गत ही आती है।

आभूषणें के प्रति मनुष्य का आकर्षण आदिकाल से ही रहा है। धातुओं के विषय में जैसे–जैसे जानकारी बढ़ती गयी उसकी गुणवत्ता और मांग के अनुसार कीमतें भी बढ़ती गयी। कुछ धातुएं जो सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं, उनकी गुणवत्ता भी अधिक होने के कारण निरन्तर अधिक मूल्यवान होती गयी। यही कारण है कि सोना, चाँदी जैसी धातुएं बहुमूल्य धातुओं के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दू परम्परा

में आनुष्ठानिक उद्देश्य से कतिपय धातुओं की पवित्रता का क्रम निर्धारित किया गया है जैसे सोना, तांबा, चांदी और लोहा। सौन्दर्य प्रेमी होने के कारण स्त्री–पुरुष दोनों अपने शरीर को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अलंकारों का भी प्रयोग करते रहे हैं। मनुष्य की यह सौन्दर्यप्रियता, प्रागैतिहासिक काल से ही रही है। मध्य गंगा घाटी में प्रतापगढ़ जनपद में स्थित मध्य पाषाणिक पुरास्थल से किसी विशिष्ट पुरुष कंकाल के साथ मनके के आभूषण मिलना निश्चित रूप से आभूषणें के प्रति मनुष्य के आकर्षण का एक प्रमाण माना जा सकता है। हड़प्पा और मोहन जोदड़ो के लोग मनके और ताबीज पहनते थे जो सीप की गुरिया के बने होते थे लेकिन धनिकों के आभूषण सोने और चाँदी के बने होते थे। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि स्त्री–पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। वैयाकरण पाणिनि ने सुनारों की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है–निष्टपति सुवर्णनम् (निसस्तपतावना से वने) इस वाक्य का ठीक अर्थ यह है– 'वह सोने की आँच में केवल एक बार तपाता है,' इसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार समझनी चाहिए। अपनी भट्ठी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहकों का काम निपटाता है। पहले वे जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना–चाँदी लाते हैं। दूसरे वे जो पुराने आभूषण लाकर देते है कि उन्हें गलाकर फिर नये गहने बनाये जाय। इन दोनें के सोने को लेकर वह उसे बार–बार तपाता और पीटता या बढ़ाता है उसके लिए भाषा का प्रयोग 'निस्तपति सुवर्णम्' था। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिए नहीं बल्कि सफाई और चमकाने के लिए जाते हैं। सुनार उन्हें लेकर एक बार अग्नि में तपाता है और रगड़कर या बुझाकर उन्हें फिर नए जैसा चमकीला कर देता हैं। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही भाषा में निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकारः' प्रयोग चलता था।

इसी प्रकार स्त्री–पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले विविध प्रकार के रत्न जड़ित आभूषणों, उनके निर्माण की विधियों और सोने–चाँदी ताँबे तथा रत्नों एवं उपरत्नों जैसे कच्चे माल के स्रोतों का भी अध्ययन इस अध्याय में किया गया हैं

विविध प्रकार की धातुओं, जैसे– लोहा, ताँबा, कांसा, सोना, चाँदी आदि के बने विविध प्रकार के उपकरण एवं आभूषण आदि तक्षशिला से बड़ी मात्रा में मिले हैं जिनका इस अध्याय में विस्तार से विवरण दिया गया है।

यहाँ मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि तक्षशिला अब पाकिस्तान में है जो शोध शीर्षक की दृष्टि से हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर है लेकिन यहाँ तक्षशिला के पुरावशेषों के विश्लेषण में अधिक बल दिया गया है। इसका कारण यह है कि तक्षशिला की तरह भारत में स्थित मथुरा जैसे नगर भी मौर्यकाल से लेकर कुषाणों के समय तक साथ–साथ ही एक ही सत्ता द्वारा प्रशासित थे और सम्भवतः शिल्पगत विशिष्टीकरण सुदूर पश्चिमोत्तर से लेकर उत्तर भारतीय नगरों तक एक ही जैसा रहा होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि तक्षशिला के अलावा किसी भारतीय नगर से ताँबे, कांसे तथा अन्य धातुओं के पुरावशेष प्राप्त ही नहीं हुए हैं। ताँबें और कांसे के पुरावशेष भारत के अन्य कई स्थानों से मिले हैं लेकिन दुर्भाग्यवश वे न तो सूचीबद्ध किये जा सके हैं, न ही उनका सादृश्य स्थापित किया जा सका है और न ही उनका विश्लेषण किया गया है। शोधकर्त्ता के अनुसार इस क्षेत्र में बहुत कुछ कार्य किया जाना बाकी हैं

अध्याय पाँच में मृत्तिका, प्रस्तर एवं काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का अध्ययन किया गया हैं। साहित्य एवं पुरातत्व दोनों से ही प्राचीन भारत में मृत्तिका, प्रस्तर और काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योगों के प्रचलन की सूचना मिलती है। मृत्तिका शिल्प से जुड़े वर्ग के लोगों को 'कुलाल' कहा जाता था जिन्हें आज कुम्हार या कुम्भकार कहा जाता है। साहित्यिक परम्परा में इस वर्ग के विकास के बारे में सूचना वैदिक साहित्य से ही मिलने लगती है; किन्तु मिट्टी पर आधारित शिल्प एवं उद्योग पहले से ही उन्नत था, इसमें सन्देह नहीं हैं। भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही मिट्टी के बर्तनों का निर्माण होने लगा था। इस सन्दर्भ में बागोर (भीलवाडा–राजस्थान), आदमगढ़ (होशंगाबाद मध्य प्रदेश), भीम बैठका (रायसेन–मध्य प्रदेश), लेखहिया (मिर्जापुर–उत्तर प्रदेश) और चोपनी माण्डो (इलाहाबाद–उत्तर प्रदेश) जैसे मध्यपाषाणिक पुरास्थलों का उल्लेख किया जा

सकता है जहाँ से मृदभाण्डों, के बहु संख्यक टुकड़े मिले हैं, यह बात दूसरी है कि वे अनगढ़, बेडौल और हस्त निर्मित हैं। साहित्य में ऋग्वैदिक काल से ही कुम्भ और उसके विभिन्न प्रयोगों के बारे में जानकारी मिलने लगती है। 'शतं कुंभान असिचतं सुरायाः' 'शतं कुंभान असिचतः मधूनाम्' और 'हिरण्यस्य इव कलशं' आदि पदावलियों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में मिट्टी के बर्तनों का न केवल निर्माण हो रहा था अपितु इनका दैनिक जीवन में विविध प्रयोग भी होता था।

इस अध्याय में मिट्टी के बर्तनों, खिलौने, ईंटों और मूर्तियों आदि के निर्माण की प्रक्रिया एवं विधियों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया हैं। इसके साथ इस उद्योग की वर्तमान अवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। उल्लेखनीय है कि मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुम्भकार आज भी अपनी शिल्पकारी के लिए प्रसिद्ध हैं। बढ़ते नगरीकरण एवं व्यावसायीकरण से मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग भी अछूता नहीं रहा। यही कारण है कि इस उद्योग से जुड़े लोगों के आकर्षण के केन्द्र नगर बनते गये। गाँव हो या नगर मिट्टी के बर्तन बनाने वाले लोग अपने घर और उसके पास स्थित खुले क्षेत्र में मिट्टी के बर्तन बनाने का कार्य वर्ष भर करते हैं लेकिन गर्मी के दिनों में मिट्टी के बर्तनों की मांग बढ़ जाती है। बर्तनों के अतिरिक्त गर्मी में ये लोग मकानों के छाजन के लिए खपड़े भी बनाते हैं। यही नहीं फूल–पौधे और वनस्पतियाँ लगाने के लिए गमले बनाने का भी कार्य यही करते हैं। **यहाँ उल्लेखनीय है कि धातु विशेषकर स्टेनलेस स्टील के बर्तनों के प्रचलन, कूलर, फ्रिज एवं वातानुकूलित यंत्रों के प्रसार तथा प्लास्टिक एवं फाइबर की वस्तुओं के अधिकाधिक उपयोग से मृतिका शिल्प एवं उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस उद्योग से जुड़े लोग अपनी जीविका के लिए अन्य व्यवसाय अपनाने के पक्ष में है। इस सन्दर्भ में सलोरी, इलाहाबाद के चन्द प्रकाश प्रजापति और धन नगर, गोण्डा के जगराम प्रजापति ने शोधकर्त्ता से साक्षात्कार में बताया कि प्लास्टिक एवं फाइबर की तस्तरियाँ एंव गिलास के प्रचलन से उनके परम्परागत व्यवसाय–कुम्भकारी की कमर टूट गयी हैं। हाल ही में रेलमंत्री, भारत सरकार द्वारा रेलवे स्टेशनों एवं ट्रेनों में**

प्लास्टिक गिलास के स्थान पर मिट्टी के कुल्हड़ों, के अनिवार्य रूप से प्रयोग करने की घोषणा से इस उद्योग को राहत मिली है।

मिट्टी के अलावा इस अध्याय में प्रस्तर एवं काष्ठ उद्योग का भी विवेचन किया गया हैं। प्रस्तर उद्योग के अन्तर्गत उपकरणों, भवनों एवं मुहरों, सिल–लोढ़े और बांटों के निर्माण में प्रस्तर की भूमिका और इससे जुड़े शिल्पियों की कार्य कुशलता पर साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रस्तर उपकरणों का निर्माण आदि मानव के जीवन का सबसे क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यह उसकी प्रकृति पर सर्व प्रथम विजय थी। शारीरिक रूप से प्रायः सभी जानवरों से कमजोर होने पर भी इन अशरीरी अवयवों (उपकरणों) द्वारा ही वह अपने से अधिक विशालकाय तथा शक्तिशाली जीवों से अपनी प्रतिरक्षा करने में न केवल समर्थ रहा अपितु उन पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सका। ऐतिहासिक काल में बौद्ध ग्रन्थों में महासिलाकण्टक और रथमूसल जैसे हथियारों (युद्ध–यन्त्रों) के विषय में जानकारी मिलती है जिनका प्रयोग अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों के विरुद्ध किया था। **महासिलाकण्टक सम्भवतः वह यन्त्र होता था जिसके द्वारा बड़े–बड़े पत्थरों को भींड़ पर फेका जाता था। इसी प्रकार रथमूसल एक प्रकार का रथ होता था जिसमें गदा लगी होती थी। रथ जिस ओर से होकर गुजरता था गदा उसी ओर सैकड़ों का काम तमाम कर देती थी। प्राचीन रथ मूसल की तुलना आजकल के युद्धों में प्रयोग किये जाने वाले टैंकों से की जा सकती है। चूँकि उस समय बारूद तथा अन्य विस्फोटकों का प्रचलन नहीं था। अतः इस बात की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि रथमूसल और महासिलाकण्टक जैसे यन्त्रों से पत्थर के प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा होगा।** इसके अतिरिक्त सिल बट्टे, चक्की, मूसल जैसे दैनिक उपयोग की वस्तुएं पत्थर से बनती थी और इसके बनाने वालों का एक पेशेवर समूह होता था जिसे 'पाषाण कुट्टक' कहा जाता था। ***अन्न पीसने वाली चक्की के पाट के पुरातात्विक साक्ष्य भी उपलब्ध है जिसकी प्राचनीता प्रागैतिहासिक है और मुख्य बात यह है कि आज के वैज्ञानिक युग***

में भी मशीनों से चलने वाली आटा चक्कियों के पाट भी पत्थर के बनाये जाते हैं। अन्तर केवल तकनीकी कौशल का है। प्रस्तर शिल्पी को उत्तर भारत के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में 'पथर कट्‌ट' कहा जाता है। ये लोग पत्थर को तराशकर सिल–बट्‌टे और चक्कियों के पाट, जिसे कहीं–कहीं 'जाँत' और 'बंजारी' भी कहा जाता है बनाकर लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसके बदले में वे जिन्स अथवा नकद धनराशि लेते हैं। इसी क्रम में भवन निर्माण एवं मूर्तिकारी में पत्थर की विशिष्ट भूमिका का भी विवेचन किया गया है।

इसी अध्याय में काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का भी विस्तार से अध्ययन किया गया है। काष्ठ उद्योग के अन्तर्गत रथ एवं बैलगाड़ी, नाव, दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुओं के निर्माण के अलावा गृह निर्माण में काष्ठ की विविध वस्तुओं के निर्माण कार्य को सम्मिलित किया गया है। इसी के अन्तर्गत, वेणुकार जैसे शिल्पी का भी अध्ययन किया गया जिसका प्रमुख धन्धा बाँस अथवा लकड़ी के सामान बनाना था। यही नहीं काष्ठ उद्योग में सहायक उपकरणों का भी विवेचन किया गया है।

अध्याय छः वस्त्र, चर्म तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग से सम्बन्धित हैं रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं रहीं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा है। सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा भौतिक उन्नति के साथ रोटी, कपड़ा और मकान के मानदण्ड भी बदलते गये। जहाँ आदि मानव अपनी क्षुधा–तृप्ति के लिए मांस एवं कन्दमूल पर निर्भर था तथा शैलाश्रयों एवं गर्तावासों में रहता था वहीं तन ढकना या तो आवश्यक नहीं समझता था और जब आवश्यक समझता भी था तो वृक्षों के पत्ते एवं छालें ही पर्याप्त होती थी। यही उनकी रोटी और मकान के बाद तीसरी आवश्यकता कपड़ा का विकल्प था। जैसे–जैसे मानव सभ्य बनता गया कपड़ा अर्थात् वस्त्र आवश्यकता ही नहीं विलासिता के परिचायक बन गये। इसी आवश्यकता और विलासिता के कारण सन, जूट, कपास, क्षौम, रेशम और ऊन आदि के कपड़े बनाये जाने लगे। प्राचीन भारत में ऐसे कपड़े बनाये जाने सम्बन्धी साक्ष्य साहित्य और

पुरातत्व दोनों में उपलब्ध हैं। इस अध्याय में सूती वस्त्र उद्योग, रेशमी वस्त्र उद्योग और ऊनी वस्त्र उद्योग के साथ–साथ चर्म उद्योग और कुछ अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योगों की विवेचना की गयी है।

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आरम्भिक ऐतिहासिक काल में वस्त्र उद्योग अत्यन्त विकसित था। वस्त्र उद्योग से जुड़े कुछ शिल्पी तो इतने प्रवीण थे कि बुने हुए मोटे वस्त्र को एक विशेष प्रकिया द्वारा बारीक वस्त्र में परिवर्तित कर सकते थे। यदि ऐसा था तो हम कह सकते हैं कि वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त होने वाली यह तकनीक आज के वैज्ञानिक युग के लिए भी एक चुनौती है। सूती, रेशमी और वस्त्रों का निर्माण कैसे किया जाता था, उस समय भारत में महत्वपूर्ण वस्त्र–निर्माण केन्द्र कौन–कौन थे, वस्त्र निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल कहाँ से प्राप्त होता था, विदेश में भारतीय वस्त्रों की कितनी माँग थी, इन सबके बारे में विस्तार से इस अध्याय में बतलाया गया है। यहीं नहीं वस्त्रों को रंगने और धुलने की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। पीले, नीले, लाल, हरे, काले, सफेंद रंग के वस्त्रों को किस समय पहना जाता था, इस का भी अध्ययन किया गया है। महाभारत के अनुसार विभिन्न सभाओं और समारोंहों में श्रीकृष्ण पीत–कौशेय वस्त्र धारण किये सम्मिलित होते थे। पीताम्बर(पीला वस्त्र) तो श्रीकृष्ण का प्रिय वस्त्र था। रामायण में बाल्मीकि ने रावण को 'पीताम्बर' धारण किये हुए वर्णित किया है। महभारत में अश्वत्थामा के वस्त्र नीले रंग के प्रदर्शित किये गये है। बलभद्र(बलराम) का भी वस्त्र नीले रंग का था। लाल वस्त्र उस समय भी खतरे का प्रतीक था जैसा आज भी है। लाल रंग के वस्त्र से रौद्र का वातावरण आधिक व्यक्त होता था। जिस समय मेघनाथ युद्ध के लिए तैयार होकर चला था उस समय उसने रक्त वर्ण का वस्त्र पहन रखा था। सत्यवान का प्राण लेने के लिए आये यमराज का वस्त्र भी रक्त वर्ण था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब कभी किसी के प्राण लेने का उपकम होता था तब लाल रंग के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इसलिए रक्त रंजित युद्ध भूमि में वस्त्रों का रंग लाल होना स्वाभाविक था। इसी तरह काला वस्त्र मृत्यु, शोक और दुःख का परिचायक माना जाता था। महाभारत के अनुसार परीक्षित ने समूचे

सर्प वंश के विनाशार्थ जो यज्ञ आयोजित किया था, उसमें सभी पुरोहित ने काले वस्त्र पहने थे। श्वेत वस्त्र शुभ और कल्याण का प्रतीक था। आज भी श्वेत वस्त्र शान्ति का प्रतीक माना जाता है। रामायण के अनुसार त्रिजटा ने स्वप्न में जब राम और लक्ष्मण को श्वेत वस्त्र पहने हुए देखा तो उसने यह निश्चित रूप से समझ लिया कि युद्ध में विजय इन्हीं की होगी। इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न रंग के वस्त्रों का भिन्न–भिन्न अवसरों पर प्रयोग होता था।

चर्म उद्योग के अन्तर्गत प्रत्यंचा, गुलेल, रथों को कसने वाले पट्टे, लगाम, चाबुक, चमड़े के थैले, वाद्ययंत्र, चमड़े के पात्र, दुवाली (रस्सी), जूता(उपानह) चरस, मोट या पुर आदि का का निर्माण किया जाता था। उल्लेखनीय है कि कुएं से पानी निकालने के लिए प्राचीन काल में सिंचाई के साधन के रूप में चरस या मोट या पुर का प्रयोग किया जाता था। यह एक बड़ा थैला होता था जिसे बैलों से खींचा जाता था। इसके निर्माण में गाय–भैंस का पूरा का पूरा चमड़ा लग जाता था। ऐसी वस्तुों के अर्थ में ही शायद पाणिनि ने सर्व चर्मीण या सार्वचर्मीण शब्द का प्रयोग किया है। *यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि कुंए से पुर या चरस द्वारा पानी निकालने का कार्य आधुनिक काल तक चलता रहा है। आधुनिक काल में नहरों की बहुलता तथा नलकूपों के अधिकाधिक प्रचलन के कारण ढेकुल, चरस जैसे परम्परागत साधन लुप्त होते जा रहे हैं।* पाणिनि ने पनही (जूते) के लिए अनुपदीना शब्द का उल्लेख किया है। *'अनुपदीना' ऐसे जूते के लिए प्रयुक्त हुआ है जो मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर बनवाये जाते थे। लगता है कि आजकल की तरह 'आर्डर' देकर जूते बनवाने का प्रचलन प्राचीन काल में भी था। 'अनुपदीना' ऐसे ही अग्रिम आदेश एवं भुगतान पर बनवाये जाने वाले जूते रहे होंगे। उल्लेखनीय है कि जूते प्रायः बाजार में या मोची के घर जाकर अपनी पसन्द एवं नाम के ही खरीदे जाते रहे हैं लेकिन कभी–कभी जब जूते अपनी पसन्द एवं नाप के नहीं मिलते तो उन्हें अग्रिम भुगतान एवं आदेश पर भी बनवाये जाते हैं।* इसी सन्दर्भ में किन–किन पशुओं के चमड़े का प्रयोग किया जाता था और चमड़ा कैसे कमाया जाता था इसका भी विवरण दिया गया है।

इसी अध्याय में दन्तकारी, सुरा निर्माण आदि पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। हाथी दाँत से सम्बन्धित शिल्प प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में अत्यंत विकसित था। राजमहलों तथा सम्पन्न लोगों के महलों की सजावट में हाथी दाँत के बने सामानों की विशिष्ट भूमिका थी। इन्हें सम्पन्न लोग विशेष महत्व देते थे। इनके बने आभूषण भी विशेष रूप से पसन्द किये जाते थे। इस समय आज की अपेक्षा भारत कें बड़े जंगल थे जहाँ बड़ी संख्या में हाथी रहते थे। अतः कच्चे माल की सुलभता के साथ नवीन तकनीकी जानकारी ने भी इस उद्योग को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। भारत ही नहीं विदेशों में भी इन वस्तुओं की विशेष माँग थी। यही कारण है कि ई0 सन् की आरम्भिक शताब्दियों में भारत से में विदेशों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में हाथी दाँत की वस्तुएं अनिवार्य रूप से सम्मिलित दिखलायी पड़ती हैं।

इसी प्रकार शराब निर्माण के बारे में भी विवरण दिया गया हैं। सुरा या शराब के प्रति शौक प्राचीनकाल से ही रहा है। विभिन्न प्रकार की शराब के निर्माण की विधियों का विस्तार से विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु नामक सुरा का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने सुरा के निर्माण में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं एवं उनकी मात्रा का भी उल्ख किया हैं। मेदक नामक सुरा का निर्माण एक द्रोण जल, आधा आढ़क चावल और तीन प्रस्थ किण्व मिलाकर किया जाता था। खमीर उठाने के लिए उसमें किण्व डाला जाता था। 'प्रसन्न' सुरा को बनाने के लिए अन्न की पीठी के अतिरिक्त दालचीनी आदि मसाले भी पानी में मिलाए जाते थे। *देश के अन्दर बनने वाली इन विभिन्न प्रकार की शराबों के बावजूद लगता है कि राजपरिवारों में विदेशी मदिरा की भी माँग रहती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार बिन्दुसार ने एष्टिओकस को पत्र लिखकर अपने लिए सूखे अंजीर और एक दार्शनिक के साथ मीठी शराब की भी माँग की थी जिसमें दार्शनिक को छोड़कर अन्य चीजें भेजने पर एण्टिओकस सहमत हो गया था।*

अध्याय सात में नवीन आर्थिक संस्थाओं, शिल्पी संगठन और समाज में शिल्पियों की स्थिति का अध्ययन किया गया है। ऐतिहासिक काल में पहली बार छठी शताब्दी ई0पू0 में शिल्प एंव उद्योग तथा वाणिज्य–व्यापार के विकास के फलस्वरूप अनेक नगरों का उदय हुआ जो राजनीतिक सत्ता के केन्द्र तो थे ही साथ ही शिल्प एवं उद्योग के केन्द्र के रूप में भी विकसित हुए। यह बात दूसरी है कि छठी शताब्दी ई0पू0 में ग्राम एवं नगर के बीच आज जैसा अंतर नहीं हो पाया था। पाणिनि ने ग्राम तथा नगर शब्दों का प्रयोग करते हुए बतलाया है कि उत्तर पश्चिम भारत में इनके बीच कोई अन्तर नहीं था लेकिन पूर्वी भाग में नगर ग्राम से भिन्न हुआ करते थे। जो भी हो ई0पू0 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। पालिग्रंथों में उस समय मध्य गंगा घाटी में विकसित अनेक नगरों का उल्लेख मिलता हैं जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, पाटलिपुत्र, कुशीनगर, वाराणसी, श्रावस्ती और कौशाम्बी विशेष महत्वपूर्ण थे। इन नगरों में स्वाभाविक रूप से शिल्प और उद्योगों का केन्द्रीकरण होता गया। जैसे–जैसे शिल्प एवं उद्योग विकसित होते गये, इनसे जुड़े लोगों में संघटक प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। बड़े–बड़े व्यापारी तथा चोर लुटेरों के उत्पीड़न से बचने के लिए शिल्पियों ने वर्गीय संगठन की आवश्यकता समझी। शिल्पियों के संगठन को 'श्रेणी' और व्यापारियों के संगठन को 'निगम' कहा जाता था। भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ भिन्न–भिन्न शिल्पों एवं व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थीं। प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन को समुन्नत करने में श्रेणियों का महत्वपूर्ण योगदान तो था ही, साथ ही इन संगठनों की प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में बढ़–चढ़कर भागीदारी दिखलायी पड़ती है। शिल्पी संगठनों के अपने–अलग नियम थे जो राज्य द्वारा मान्य थे। राजा इन संगठनों के नियमों का आदर और सम्मान करता था तथा उनके प्रतिनिधियों को राज्य की प्रशासनिक समिति में सदस्य मनोनीत करता था।

इस अध्याय में वैदिक काल से लेकर कुषाण काल तक के विभिन्न प्रकार के शिल्पी संगठनों के क्रमिक विकास का लेखा–जोखा है। शिल्पी संगठनों का निर्माण,

सदस्यों की योग्यता, संगठन के नियमों की सीमाएं, शिल्पी संगठनों की सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं राजकीय संरक्षण, राजनीतिक गतिविधियों में शिल्पियों की भूमिका, शिल्पियों को क्षति पहुँचाने वाले को राज्य द्वारा निर्धारित दण्ड, दुर्घटना के समय क्षतिपूर्ति आदि का विवरण इस अध्याय में दिया गया हैं। जैसे स्ट्रैबों के अनुसार जो व्यक्ति किसी शिल्पी के एक हाथ को तोड़ देता था, एक आँख को फोड़ देता था तो उस व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। शिल्पी संगठनों द्वारा कल्याणकारी कार्यों के अलावा बैंकिंग का भी कार्य किया जाता था। उनके पास एक निश्चित धनराशि जमा कर दी जाती थी जिसे 'अक्षय नीवी' कहा जाता था। इसका मूलधन खर्च नहीं किया जाता था बल्कि इससे जो ब्याज मिलता था वही खर्च किया जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रेणियाँ जहाँ अपने व्यवसाय को संगठित रूप से संचालित करती थी वही दूसरे लोगों का धन भी धरोहर के रूप में रखकर उस पर व्याज देती थीं। श्रेणियों की स्थिति समाज में इतनी सम्मानजनक तथा विश्वसनीय थी कि उनके पास धन जमा करने में किसी को संकोच नहीं होता था। मुख्य बात यह थी कि धन मूल रूप में लौटाया नहीं जाता था। केवल उसका व्याज किसी धर्म कार्य में लगाया जाता था। इस प्रकार के जमा धन से शिल्पियों के आर्थिक कार्यों के लिए पूंजी इकट्ठा हो जाती थी और वे अनेक सांस्कृतिक गतिविधियों में बढ़ चढ़कर भाग लेती थी। जहाँ मौर्योत्तर काल में शिल्पी संगठनों में लोगों का अधिक विश्वास दिखलायी पड़ता है, वहीं इसके पूर्व मौर्यकाल में श्रेणियों द्वारा धोखा–धड़ी किये जाने का उल्लेख मिलता है और इसीलिए कौटिल्य ने लोगों को शिल्पियों के पास धन न जमा करने का सुझाव दिया था। जबकि इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि नासिक अभिलेख में केवल इस बात का ही उल्लेख नहीं है कि वहाँ की कुछ श्रेणियाँ के पास कतिपय धार्मिक कार्यों के खर्च के लिए धन जमा किया गया था बल्कि इस जमा धन के सम्बन्ध में निगम सभा के कार्यालय में नियमानुसार इसकी लिखापढ़ी भी करायी गयी थी जिसे आज की भाषा में पंजीकरण माना जा सकता है। अतः यह कहा जा

सकता है कि श्रेणियों और अक्षयनीवी के रूप में धन जमा करने वाले व्यक्तियों के बीच में लिखित अनुबंध भी किया जाता था।

विभिन्न प्रकार के शिल्पों को अपनाने वाले लोग किस वर्ण और जाति के थे, समाज में उनकी क्या स्थिति थी, इसका भी अध्ययन इसी अध्याय में किया गया है। जैसे काष्ठ शिल्प से संम्बंधित शिल्पियों में तक्षक (बढ़ई) के अतिरिक्त एक दूसरा शिल्पी–वेणुकार उल्लेखनीय है। वेण, शिकार और बांस का काम करके निर्वाह करने वाली जाति थी। एक परवर्ती जातक में वेणुकार या वेलुकार का वर्णन मिलता है जो बांस काटकर बोझा बनाने के लिए चाकू लेकर जंगल जाता था ताकि उसका व्यापार कर सके। विनय पिटक की टीका में यह उल्लेख मिलता है कि वेण के रूप में जन्म लेने का अर्थ हुआ बढ़ई के रूप जन्म लेना। यहाँ उल्लेखनीय है कि बढ़ई के काम को भी विनय पिटक में हीन कोटि (हीन सिप्प) का बताया गया है। *जब वेण और तच्छक (बढ़ई) समान अर्थ बोधक हैं तो यह बात विचित्र लगती है कि जिस तक्षक को वैदिक कालीन समाज में ऊँचा दर्जा मिला हुआ था उसे बौद्ध ग्रन्थों में अधम कोटि में दिखया जाए। तक्षक के विषय में तो नहीं कह सकते लेकिन शोधकर्त्ता के अनुसार वेणुकारों को बौद्धों द्वारा हीन मानने का एक मुख्य कारण यह हो सकता है कि चूँकि उनका एक काम शिकार करना भी था जिसमें जीवों की हिंसा होती थी और बौद्ध हिंसा के विरोधी थे।*

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कृषि पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे किन्तु उनके विस्तार के साथ–साथ अनेकानेक शिल्प तथा उद्योग–धन्धों का भी विकास हुआ। इन उद्योग–धन्धों में लगे रहने के कारण विभिन्न वर्गों का भी उदय हुआ। इस प्रकार विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए लोगों का विभिन्न वर्ग प्रकाश में आया जब लोगों ने अपने घुमन्तू जीवन को छोड़कर विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों में अपने को लगाया, तब अलग–अलग व्यावसायिक एवं शिल्पी संघों का निर्माण हुआ। इनमें कुछ ऐसे पेशे वाले थे जो उच्च थे और कुछ निम्न। निम्न पेशा अपनाने वाले कालान्तर में सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्य माने जाने लगे। जैसे चर्मकार, वेणुकार, पाण्डुसोपांक, रजक, तंतुवाय (बुनकर या जुलाहा) आदि।

उल्लेखनीय है कि अस्पृश्यता का संवैधानिक स्तर पर अन्त किए जाने के बावजूद उपरोक्त शिल्पियों को आज भी कई क्षेत्रों में सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ रहा है। *यह आश्चर्य की बात है कि जिस चर्म शिल्पी द्वारा बनाये गए जूते, चप्पलें, बेल्ट आदि को पहनकर लोग न केवल अपनी आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं अपितु फैशन के प्रतीक भी मानते हैं उस चर्मकार के प्रति भेदभाव करते हुए उसे सामजिक दृष्टि से हीन मानते है। इसी प्रकार मशीनीकरण के बावजूद कपड़ा निर्माण में संलग्न परम्परागत जुलाहा समुदाय भी समाज में सम्मान का पात्र नहीं माना जाता जिसके बनाये हुए वस्त्र हमें सर्दी, गर्मी, वर्षा से राहत प्रदान करते हैं और तीन मौलिक आवश्यकताओं (रोटी–कपड़ा और मकान) में से एक–कपड़ा की पूर्ति करते हैं वह शिल्पी– बुनकर, समाज में सम्मान का पात्र क्यों नहीं हो सका।*

अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी गयी है जिसमें प्राथमिक एवं द्वितीय स्रोतों का विवरण है। इनमें मुख्य रूप से वैदिक साहित्य परम्परा से सम्बद्ध सूत्र और स्मृति साहित्य महत्त्वपूर्ण हैं। सूत्र ग्रंथों में गौतम, वशिष्ठ, बौधायन, आपस्तम्ब धर्म सूत्र विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति अपनी प्राचीनता के कारण प्रस्तुत शोध कार्य के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्य स्मृतियों की रचना बाद के काल में होने के कारण अधिक सहायक सिद्ध नहीं हुई है। स्मृतियों के काल निर्णय के लिए हमने डॉ0 पी0वी0 काणे के मत को ही मानक माना है। प्राचीन पालि प्राकृत ग्रन्थों विशेष रूप से बौद्ध एवं जैन साहित्य को भी मूल स्रोत के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि जातकों के रचनाकाल के बारे में विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं है, फिर भी सर्व श्री गर्गर, विमल चरन लाहा, रीज डेविड्स दम्पत्ति, फिक्, गिरजा शंकर प्रसाद मिश्र इत्यादि विद्वानों का अनुसरण करते हुए जातकों की सामग्रियों का उपयोग किया गया है। अर्थशास्त्र के साक्ष्यों का उपयोग व्यापक स्तर पर किया गया है। मैनें अर्थशास्त्र के विद्वान प्रोफेसर कांग्ले द्वारा सम्पादित संस्करण को ही अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय पाया है। जातक की तरह ही महाकाव्यों का भी प्रयोग इसी आधार पर किया गया है कि रामायण और

महाभारत की सामग्रियाँ प्रस्तुत शोध प्रबंध के काल के लिए प्रयोज्य हैं। यही नहीं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी और पतंजलि कृत महाभाष्य यद्यपि मुख्य रुप से व्याकरण ग्रंथ है फिर भी शिल्प एवं उद्योग से संबन्धित शब्दावलियों और उनके विस्तृत अर्थ के मानक ग्रंथ होने के कारण ये दोनों ही ग्रंथ हमारे अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य के साथ–साथ पुरातात्विक सामाग्री से भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। इस कारण ये हमारे शोध के मूलस्रोत के रूप में उल्लेखनीय है।

हमने प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग तथा उससे जुड़े लोगों की समाजार्थिक स्थिति के सर्वेक्षण का प्रयास किया है। अधीतकाल में शिल्प एवं उद्योग के स्वरूप को समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में वैदिक साहित्य का भी अध्ययन किया गया है। उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों के विश्लेषण से शिल्प एवं उद्योग की क्रमिक उन्नति का बोध होता है।

छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में द्वितीय नगरीकरण हुआ। नगरीकरण ने शिल्प और उद्योग को तथा शिल्प एवं उद्योग ने नगरीकरण को बढ़ावा दिया। यहाँ उल्लेखनीय है कि लौह प्रौद्योगिकी (Iron Technology) ने गंगा धाटी की अर्थ व्यवस्था में क्रांतिकारी भूमिका निभायी।

जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के उत्थान से वणिक वर्ग का विकास हुआ क्योंकि उन्हें व्यापार हेतु विदेश यात्रा करने एवं ब्याज लेने (सूदवृत्ति) का अधिकार मिला। उल्लेखनीय है कि ब्राहमण व्यवस्था के अन्तर्गत उक्त दोनों कार्य निन्दनीय माने गये थे। वणिक वर्ग के विकास से शिल्प एवं उद्योग का भी उत्थान हुआ।

बड़े–राज्यों की स्थापना से देश में स्थिरता एवं शान्ति का वातावरण बना। स्थिरता एवं शान्ति वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग के विकसित होने की अनिवार्य शर्त है। अतः ऐसे वातावरण में विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उत्थान होना स्वाभाविक था।

मौर्यकाल में सशक्त राजकीय नियंत्रण एवं संरक्षण से शिल्प एवं उद्योग भी अछूता नहीं रहा। समकालीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अनेक उद्योग राजकीय

नियंत्रण में थे। आधुनिक शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि मौर्यकाल में अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया था। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की अपनी सीमाएं एवं सम्भावनाएं होती है। यही कारण है कि मौर्य काल में शिल्पी संगठनों का उतना विकास नहीं दिखलायी पड़ता जितना कि मौर्योत्तर काल में। उल्लेखनीय है कि विवेच्यकाल के आर्थिक जीवन में शिल्पियों का महत्वपूर्ण योगदान था। शिल्पी आर्थिक जीवन के मेरुदण्ड थे। ग्राम तथा नगर के जीवन में शिल्पियों की विशिष्ट भूमिका थी। शिल्पियों ने अपने आर्थिक तथा सामाजिक हितों की रक्षा के लिए संगठन बनाये। शिल्पी अपने दायित्वों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सतत सचेष्ट रहे।

विकसित शिल्पी संगठनों के जितने पुरातात्तिवक साक्ष्य मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल के मिले हैं उतने इससे पूर्व काल के नहीं मिलते। पुरातात्त्विक साक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणिक होते हैं, इस बात को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोधकार्य को वर्तमान स्वरूप दिया गया है। शिल्पियों और उनके व्यवसायों से सम्बन्धित भौतिक साक्ष्य विविधताओं से युक्त है। अभी भी शिल्प एवं उद्योग के विषय में किए गए अनुसन्धानों में अनेक अन्तराल है, उनकी भौतिक पृष्ठभूमि को ठीक ढंग से तथा विस्तार से समझने की नितान्त जरूरत है। अधीतकाल में शिल्पियों से सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्य बहुत कम मिलें हैं जो मिले भी हैं वे अधिकांशतः उत्तर भारत में नहीं आते जो कि प्रस्तुत शोध का भौगोलिक क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में अभिलेखों के अलावा जो पुरातात्त्विक साक्ष्य उत्तर भारत में मिले हैं उसी के आधार पर शिल्प एवं उद्योगों के विकास की अवस्था का सर्वेक्षण किया गया है। विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों से सम्बन्धित पुरातात्त्विक साक्ष्यों के स्पष्टीकरण की नितान्त आवश्यकता है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग
(600ई0पू0 से 100 ई0 तक)

[Crafts and Industries in North India During Early Historic Period]
(600 B.C to 100 A.D.)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत
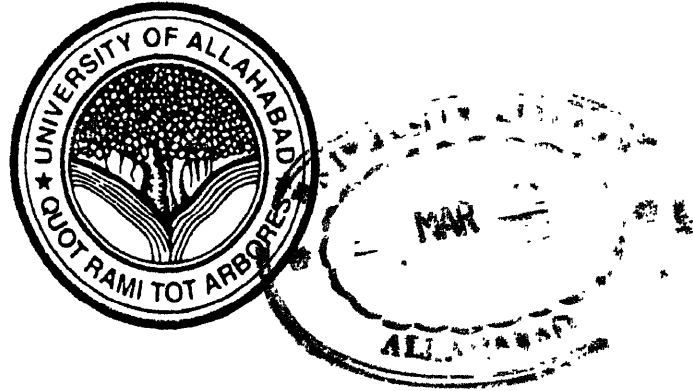
शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक :
प्रो0 जय नारायण पाण्डेय
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता :
जय प्रकाश शुक्ल
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कला संकाय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2005

प्रमाण-पत्र

मैं सहर्ष प्रमाणित करता हूँ कि श्री जय प्रकाश शुक्ल ने डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जिसका विषय "प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग" (Crafts And Industries In North India During Early Historic Period) है, मेरे पर्यवेक्षण में पूरी निष्ठा और परिश्रम से पूर्ण किया है। इन्होंने शोध सम्बन्धी सभी आवश्यक नियमों-निर्देशों का भी सद्यः पालन किया है तथा इनकी उपस्थिति भी निर्धारित नियमों के अनुकूल रही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय में शोधकर्ता द्वारा जिन निष्कर्षों एवं मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है, प्रायः वे ज्ञानवर्धक एवं मौलिक हैं। मुझे इनके डी0 फिल्0 उपाधि हेतु इस शोध-प्रबन्ध को इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के समक्ष प्रस्तुत करने में कोई आपत्ति नहीं है।

दिनाँक : 10.01.2005

Forwarded

पर्यवेक्षक

10/1/2005

प्रो0 जय नारायण पाण्डेय

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

प्राचीन भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्टताओं के कारण आज भी अक्षुण्य है। इन विशिष्टताओं में से एक है आध्यात्मिकता। इसमें सन्देह नहीं है कि धर्म और दर्शन पर विशेष बल देने के कारण भारतीय संस्कृति आध्यात्मोन्मुख रही है परन्तु साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्जक जीवन और उसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे। करीनेदार नगर, सुसज्जित महल, मंत्रियों, अंगरक्षकों और विद्वानों से युक्त राज दरबार, वादक और नर्तक, विविध प्रकार के परिधान एवं वेश–भूषाएं, प्रसाधनों के लिए अनेक प्रकार के आभूषण और गंधद्रव्य, धातु तथा काष्ठ निर्मित दैनिक प्रयोग की वस्तुएं एवं विविध प्रकार की आयुध सामग्री से सब भी तो भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक थे। प्राचीन भारतीय चिन्तकों को सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों में अस्थिरता भले ही दिखलायी पड़ी हो, लेकिन सांसारिकता में पड़े हुए जनसाधारण के लिए तो सभ्यता के ये प्रतीक सत्य और सुन्दर दिखलायी पड़ते थे। सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों से नीरस इतिहास को सरस बनाया जा सकता है।

सभ्यता के निरन्तर विकास के साथ उसके विविध पहलुओं में बदलाव आया। शिल्प एवं उद्योग इसका अपवाद नहीं हो सकते। शिल्प एवं उद्योग का जो स्वरूप आज है, वहं निश्चित रूप से पहले की तुलना में काफी भिन्न हैं शिल्प एवं उद्योग काल विशेष के भौतिक जीवन पर तो प्रकाश डालते हैं साथ ही सामाजिक जीवन स्तर के विषय में भी जानकारी देते हैं।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (600 ई0पू0 से 100 ई0तक) उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग का क्या स्वरूप था, उससे जुड़े लोगों की समाजार्थिक स्थिति कैसी थी इसी जिज्ञासा से मैने प्रस्तुत शोध शीर्षक–'प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग' (Crafts and Industries in North India During Early Historic Period) का चयन किया है। इस विषय पर शोध करने की प्रेरणा मुझे हमारे पूज्य गुरुवर डॉ0 जय नारायण पाण्डेय जी से

मिलीं। किसी भी समाज के अध्ययन के लिए शिल्प एवं उद्योग और उससे जुड़े लोगों की भूमिका का स्पष्टीकरण महत्वपूर्ण होता है। प्राचीन भारतीय समाज के सन्दर्भ को समझने के लिए शिल्प एवं उद्योग से जुड़े समूहों के अध्ययन की आवश्यकता और अधिक हो जाती है क्योंकि जातियों का एक मुख्य आधार व्यवसाय चयन रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में शिल्प एवं उद्योग तथा उससे जुड़े लोगों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का गहनता के साथ अध्ययन करने का एक विनम्र प्रयास किया गया है। शोध प्रबन्ध के अध्ययन का दृष्टिकोण सामान्य रूप से प्राचीन भारतीय सामाजिक–आर्थिक इतिहासोन्मुख रहा है जिसमें तकनीकी कौशल पर विशेष ध्यान दिया गया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग के अध्ययन के प्रयास में छठी शताब्दी ई0पू0 से प्रथम शताब्दी ई0 तक के काल खण्ड को चयनित करने का कारण यह है कि इसी काल में भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के शिल्पयों की भूमिका के प्रमाण स्पष्ट एवं बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। यह काल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सिर्फ इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसकाल में पूर्वकाल की तुलना में अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है बल्कि राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास के दृष्टिकोण से भी यह काल पहले की अपेक्षा अधिक प्रगतिशीत रहा है।

इसी काल मे कृषि के क्षेत्र में और अधिक उन्नति परिलक्षित होती है और इसके लाभ पहली बार बड़े व्यापक रूप में सामने आने लगे। इस प्रकार की कृषि आधारित अर्थव्यवस्था से बड़े पैमाने पर आर्थिक जीवन में स्थायित्व आया। राज्य की आर्थिक उन्नति में कृषकों से प्राप्त होने वाले कर अधिक सहायक सिद्ध हुए और राज्य प्रशासन की दृष्टि में कृषि एक स्थायी आर्थिक स्रोत के रूप में उभरकर सामने आयी। विद्वानों की मान्यता है कि कृषि के क्षेत्र में सर्वप्रथम लोहे के बने उपकरणों का प्रचलन इसी काल में सम्भव हो सका। पुरातात्तिक साक्ष्यों के अध्ययन से लगता है कि कृषकों द्वारा खेती में धातु के बने उपकरणों का प्रयोग व्यापक स्तर पर होने लगा था जो विकसित कृषि का ही एक आवश्यक अंग समझा जाता हैं इस

प्रकार कृषि उत्पादों की अधिकता से नगरीकरण और शिल्प तथा उद्योगों को विकसित होने का अवसर मिला। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जिस काल विशेष का अध्ययन किया गया है वह 'द्वितीय नगरीकरण' के अन्तर्गत आता है। देशी व्यापार के साथ–साथ विदेशी व्यापार में पहले की अपेक्षा काफी वृद्धि हो चुकी थी, इसके पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। शिल्प तथा उद्योग के विकास में जिन घटकों का योगदान था, उनके ऊपर मुख्य रूप से विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

शिल्प एवं उद्योग के विकास के साथ–साथ उससे जुड़े शिल्पियों के प्रकार और संख्या में भी वृद्धि होती गयी। प्रस्तुत शोध प्रबंध में ऐसे विभिन्न प्रकार के शिल्पियों पर प्रकाश डाला गया है। यही नहीं धीरे–धीरे आर्थिक पक्ष मजबूत होने पर शिल्प तथा उद्योग से जुड़े लोगों के बढ़ते महत्व का भी प्रमाण मिलता है। इस शोध प्रबन्ध में इन्हीं लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का भी अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन के स्रोत एवं शोध विधिः–

शोध कार्य को पूर्ण करने में हमारे अध्ययन के जो स्रोत रहे हैं उन्हे दो वर्गों में रखा जा सकता है–

1. प्राथमिक या मूल स्रोत ।
2. द्वितीयक या सहायक स्रोत ।

प्राथमिक स्रोत स्पष्टतः साहित्यक एवं पुरातात्त्विक है। प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रंथ प्रमुख साहित्यक स्रोत हैं। जिनका तिथि निर्धारण अत्यन्त कठिन है। अतएव इन साक्ष्यों के उपयोग की अपनी सीमाएं एवं सम्भावनाएं हैं। प्राचीन यूनानी–रोमन साहित्य भी इस सन्दर्भ में उपयोगी है। वैदिक परम्परा से सम्बद्ध सूत्र और स्मृति साहित्य महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत है। सूत्र ग्रंथों में गौतम, वशिष्ठ, बौधायन और आपस्तम्ब धर्म सूत्र विशेष उपयोगी है । स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति अपनी प्राचीनता के कारण शोध प्रबंध के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्य स्मृतियों की रचना बाद के काल में होने के कारण अधिक सहायक नहीं

है। स्मृतियों के काल निर्णय के लिए हमने डॉ0 पी0वी0 काणे के मत को ही मानक माना है। उल्लेखनीय है कि पृष्ठभूमि के रूप में प्रारम्भिक वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल के शिल्प एवं उद्योगों का भी संक्षेप मे अध्ययन किया गया हैं इस सन्दर्भ में ऋग्वेद और उत्तर वैदिक साहित्य मूल स्रोत के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन पालि–प्राकृत ग्रंथों विशेष रूप से बौद्ध एवं जैन साहित्य को भी मूल स्रोत के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि जातकों के रचनाकाल के बारे में विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं है। फिर भी सर्वश्री गर्गर, विमलचरन लाहा, रीजडेविड्स दम्पत्ति, फिक, गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र इत्यादि विद्वानों का अनुसरण करते हुए जातकों की सामग्रियों का उपयोग किया गया है। 'अर्थशास्त्र' की सामग्री हमारे अध्ययन काल के अन्तर्गत ही आती है और इसी आधार पर अर्थशास्त्र के साक्ष्यों का व्यापक स्तर पर उपयोग किया गया है। मैंने अर्थशास्त्र के विद्वान प्रो0 कांग्ले द्वारा सम्पादित संस्करण को ही अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय माना है लेकिन आवश्यकतानुसार अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित संस्करणों के उपयोग से भी संकोच नहीं किया गया है। जातक की तरह ही महाकाव्यों का भी प्रयोग इसी आधार पर किया गया है कि रामायण और महाभारत की सामग्रियाँ प्रस्तुत शोध के लिए प्रयोज्य हैं। यही नहीं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी और पतंजलि कृत महाभाष्य यद्यपि मुख्य रूप से व्याकरण ग्रंथ है, फिर भी शिल्प एवं उद्योग से सम्बंधित शब्दावलियों और उनके विस्तृत अर्थ के मानक ग्रंथ होने के कारण ये दोनों ही ग्रंथ हमारे अध्ययन स्रोत की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

साहित्यिक के साथ–साथ पुरातात्त्विक सामग्री से भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। स्वतन्त्रता के बाद देश के विभिन्न भागों में जो पुरातात्त्विक अन्वेषण एवं उत्खनन हुए हैं, उनसे नवीन सामग्री प्रकाश में आयी हैं। पुरातत्त्व से हमें दो प्रकार की जानकारी मिलती है। एक तो साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि होती है और दूसरे सर्वथा नवीन जानकारी भी मिलती है। पुरातात्त्विक सामग्री का तिथिक्रम अपेक्षाकृत अधिक निश्चित भी रहता हैं। उल्लेखनीय है कि एन0बी0पी0 से जुड़ें पुरास्थलों से प्राप्त सामग्री अधीतकाल में ही आती है और इस कारण एन0बी0पी0का प्रस्तुत शोध

थे। क्रिश्चियन लासेन नामक विद्वान ने 1847 से 1861 ई0 के बीच में प्राचीन भारत का इतिहास चार खण्डों में लिखा जिसमें प्राचीन काल से लेकर विजय नगर राज्य तक का राजनीतिक इतिहास और प्राचीन भारत के उद्योग तथा व्यापार के विषय में अपेक्षाकृत विस्तार से विवेचना की गयी थी। इसके पश्चात 1897 ई0 में रिचर्ड फिक नामक विद्वान ने साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर उत्तर पूर्वी भारत का प्राचीन इतिहास–'दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ–ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम' (अंग्रेजी अनुवाद एस0के0 मिश्रा कलकत्ता,1920) लिखा। प्रसंगानुसार उन्होंन बुद्ध कालीन आर्थिक जीवन पर भी विचार करते हुए शिल्पियों की गतिविधियों पर प्रकाश डाला। उल्लेखनीय है कि फिक की यह रचना मुख्य रूप से प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य और जातक कथाओं पर आधारित थी। श्रीमती रीज डेविड्स ने जातक कथाओं के आधार पर बुद्वकालीन आर्थिक जीवन का 'नोट्स आन अर्ली इकोनॉमिक कंडीशन्स इन नार्थ इंडिया' (1901) नामक लेख में विवेचन किया जिसे उन्होंने ही कालान्तर में संशोधित करके 'कैम्ब्रिज़ हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के प्रथम खण्ड के एक अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया । उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि छठवीं शताब्दी ई0पू0 में शिल्पियों का श्रेणियों के रूप में कोई संगठन नहीं था। लेकिन कालान्तर में जो शोधकार्य हुए उससे रीज डेविड्स का विचार सही नहीं माना गया। जेम्स मिल नामक विद्वान ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' (1917) में लिखा कि भारतीय समाज प्राचीन काल से लेकर अब तक लगभग अपरिवर्तित रहा। उनकी इस धारणा के समर्थक अन्य विदेशी इतिहासकारों ने भी प्राचीन भारतीय ग्रामीणों के रहन–सहन में परिवर्तन का अभाव देखा। कार्ल–मार्क्स ने भी एशियाई देशों के अन्तर्गत भारतीय समाज की अपरिर्तनशील प्रवृत्ति का उल्लेख किया था। विंसेंट आर्थर स्मिथ ने भी प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास के विवेचन में इसी तथ्य को रेखाँकित करने का प्रयास किया है कि भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था और यहाँ पर परिवर्तन प्रायः नहीं घटित हुआ। 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडियां' में उन्होंने विचार व्यक्त किया था कि भारत में उन्हीं

स्थितियों में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए जब इसका सम्पर्क विदेशी शक्तियों के साथ हुआ।

आर0 जी0 रालिन्सन ने प्राचीन भारत और यूनानी रोमन जगत के बीच व्यापारिक सम्पर्क का विवेचन करते हुए–'इटरकोर्स बिटवीन इंडियां एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड' (1916ई0) में यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में शिल्प एवं कला की उन्नति विदेशी सम्पर्क के फल स्वरूप हुई। इसी सन्दर्भ में उन्होंने प्राचीन भारत के कुछ शिल्पों पर भी प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् ई0एच0 वार्मिंगटन ने 'दि कामर्स विटवीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इंडिया' (1928ई0)में प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के आधार पर प्राचीन भारत और रोम के बीच व्यापारिक सम्पर्कों का विवेचन किया। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि 45ई0 में हिप्पालस नामक नाविक द्वारा मानसून की खोंज हो जाने से भारत और भू–मध्यसागरीय क्षेत्र के रोमन साम्राज्य के बीच व्यापारिक सम्पर्क अधिक घनिष्ठ हुए क्योंकि मानसून की खोज के फलस्वरूप गहरे समुद्र से होकर यातायात करने में दूरी अपेक्षाकृत कम हो गयी। 1950 के दशक तक भारत रोम व्यापारिक सम्पर्क का इतिहास अंग्रेज इतिहासकारों की अभिरुचि का विषय बना रहा। इस सन्दर्भ में दक्षिण भारत में अरिकामेडु नामक स्थान का उत्खनन भी अंग्रेज विद्वान् एवं भारतीय पुरातत्व के तत्कालीन महानिदेशक मार्टीमर व्हीलर के निर्देशन में किया गया। यहाँ से रोमन मृद्भाण्ड एवं अन्य पुरावशेषों के अलावा पहली शताब्दी ई0 में सूती और रेशमी वस्त्रों की रंगाई के लिए प्रयुक्त होने वाले पक्के टैंक के भी साक्ष्य मिले ।

1912 ई0 में आर0 के0 मुकर्जी ने भारत में जलयान निर्माण एवं समुद्री व्यापार पर एक पुस्तक लिखी जिसमें प्राचीन यूनानी एवं रोमन साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्यिक साक्ष्यों का भी उपयोग किया गया था। 'इंडियन शिपिंग एण्ड मेरिटाइम एक्टिविटी' (आक्सफोर्ड) नामक इस पुस्तक में नौका निर्माण उद्योग पर तो विस्तार से प्रकाश डाला ही गया है साथ ही प्राचीन भारत के आर्थिक पक्ष का अपेक्षाकृत संतुलित इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन भारतीय इतिहास पर लिखी जाने वाली पुस्तकों पर भी भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रभाव पड़ा। 1918 ई0 में आर0सी0 मजूमदार ने प्राचीन भारत के समुदायिक संगठन को आधार बनाकर 'कारपोरेट लाइफ इन एंशियन्ट इंडिया' नामक पुस्तक लिखी। इसे इस विषय पर लिखी गयी सबसे प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। इसमें यह बतलाया गया है कि प्राचीन भारत में विभिन्न शिल्प एवं उद्योगों का विकास हुआ था और इनसे जुड़े कारीगर एवं व्यवसायी सामुदायिक जीवन व्यतीत करते थे। बाद में इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद के0डी0 बाजपेयी ने 'प्राचीन भारत में संघटित जीवन' नाम से करके हिन्दी भाषी लोगों के लिए भी ग्राह्य एवं सुबोध बना दिया। 1920 ई0 में आर0के0 मुकर्जी ने 'लोकल गवर्नमेन्ट इन एंशियन्ट इंडियां' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें मजूमदार द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को विस्तृत साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गयां इसमें उस समय तक उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्यों–विशेषतः दक्षिण भारतीय साक्ष्यों का समुचित रूप से उपयोग किया गया ।

1924 ई0 में जी0एल0 आद्या ने 'अर्ली इण्यिन इकोनॉमिक्स' में वाणिज्य–व्यापार के साथ उस काल (200ई0 पूर्व से 300 ई0) में प्रचलित उद्योगों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में उन्होनें भूमि व्यवस्था, वाणिज्य एवं व्यापार के साथ–साथ औद्योगिक गतिविधियों के आधार पर प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

इसी प्रकार एस0 के0 दास ने 'इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एंशियन्ट इंडिया' (1919 ई0), और जे0 एस0 समद्दार ने 'इकोनॉमिक कंडीशन ऑफ एंशियंट इंडिया' (1922 ई0), और प्राणनाथ ने 'ए स्टडी इन द इकोनॉमिक कंडीशन आफ एंशियंट इंड़िया' (1929 ई0) नामक पुस्तक लिखी। प्राचीन भारत के सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास को अपना विषय बनाने वाली इन पुस्तकों में शिल्प एवं उद्योग पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। ये पुस्तके मूलतः प्राचीन भारतीय साहित्यिक साक्ष्यों पर आधारित हैं।

एन0सी0 बन्द्योपाध्याय ने 'इकोनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशियन्ट इंडिया' (1945) में कृषि, व्यापार के साथ ही औद्योगिक गतिविधयों का अध्ययन

किया है। ए0एन0 बोश ने 'सोशल एण्ड रूरल इकोनॉमी ऑफ नार्दर्न इण्डिया' (1945) में औद्योगिक वस्तुओं, औद्योगिक संगठनों, व्यापारी, व्यापारिक मार्ग, माप तौल और राजकीय नियन्त्रण आदि के आधार पर ग्रामीण अर्थ व्यवस्था एवं व्यापार –व्यवस्था की विवेचना किया है।

वी0सी0 अग्रवाल ने 'इंडिया एज नोन टु पाणिनि' (1953) में पाणिनि कालीन समाज और अर्थ व्यवस्था का विस्तार से अध्ययन किया है। आर्थिक जीवन का विवेचन करते हुए उन्होंने तत्कालीन शिल्प एवं शिल्पकारों पर भी प्रकाश डाला है।

लल्लन जी गोपाल ने 'इकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्यिा' (1965) में उत्तर भारत के आर्थिक जीवन पर विचार करते हुए विभिन्न प्रकार के शिल्प एवं उद्योग पर भी प्रकाश डाला है।

एन0पी0जोशी ने 'लाइफ इन उत्तरापथ' (1967) में प्राचीन उत्तर भारतीय नगरों, नगर जीवन, व्यापार, वाणिज्य और शिल्प तथा उद्योग का संक्षेप में विवेचन किया है। आजादी के बाद प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा उसके सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देने वालों में समाजवादी और मार्कसवादी विचार धारओं से प्रभावित इतिहासकारों की भी संख्या बढ़ती गयी । इस सन्दर्भ में डी0डी0 कौसाम्बी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने 1965 ई0 में 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जिसमें प्राचीन काल से लेकर अंग्रेजों द्वारा भारत की विजय तक के आर्थिक इतिहास का विवेचन किया गया है। कोसाम्बी ने 1965 ई0 में 'कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एंशियन्ट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जिसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर सामन्तवाद तक के भारतीय इतिहास का विवेचना किया है। कोसाम्बी ने प्राचीन साहित्यिक तथा पुरातात्त्कि साक्ष्यों के बीच सन्तुलन एवं समन्वय स्थापित करते हुए प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास का मूल्यांकन करने की चेष्टा की है। इसी सन्दर्भ में शिल्प एवं उद्योगों की प्रगति पर भी प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार आर0एस0 शर्मा ने 'शूद्राज इन एंशियन्ट इंडिया' (1958) नामक पुस्तक लिखी। इसमें तथा इसके बाद के अपने कई अन्य ग्रन्थों में उन्होंने प्राचीन भारत के विभिन्न कालों के आर्थिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन किया है। शर्मा तथा उनकी कोटि के अन्य विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन भारत में ई0पू0 छठी शताब्दी में विभिन्न शिल्प–उद्योगों और व्यवसायों का उदय हुआ, व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ। नगरीय जीवन की शुरुआत हुई तथा गुप्तकाल के पूर्व तक इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। गुप्तकाल तक आते–आते व्यापार वाणिज्य का ह्रास होने लगा, नगरों की समृद्धि घट गयी। गुप्त काल और उसके पश्चात् व्यापारिक लेन–देन में सिक्कों का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया। आम लोगों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रही। धार्मिक और प्रशासनिक कार्यों के बदले भूमि अनुदान दिये जाने लगे। भूमि अनुदानों के साथ ही दान–ग्राहियों को कुछ प्रशासनिक अधिकार भी दिये गये। कृषकों और कारीगरों का बोझ बढ़ गया, कारीगरों और शिल्पियों को कर के बदले सप्ताह में एक दिन बेगार (विष्टि) करने के लिए बाध्य होना पड़ा। आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभ्युदय हुआ, क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता की वृद्धि से व्यापार और वाणिज्य का ह्रास हुआ और नगर तथा नगर जीवन ह्रासोंन्मुस हो गया।

कुछ अन्य विद्वानों ने भी अपनी रचनाओं में प्राचीन भारतीय शिल्प एवं उद्योग पर भी प्रकाश डाला है। पुरुषोत्तम चन्द्र जैन ने 'लेबर इन एंशियन्ट इंडिया' (1971 ई0) में वैदिकाल से लेकर गुप्त काल तक की सामाजिक संरचना और श्रम की स्थिति, कृषि श्रम, औद्योगिक श्रम, दास श्रम, श्रेणी और निगम आदि का विवेचन किया है।

ए0 घोष ने 'दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया' (1973 ई0) में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के भारतीय नगरों के विषय में साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विचार व्यक्त किया है। चूँकि शिल्प एवं उद्योगो का नगरों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है इसलिए इस ग्रंथ में शिल्पकारी पर भी प्रकाश डाला गया है।

आर0 एन0 सलतोरे ने 'अर्ली इण्डियन इकोनॉमिक हिस्ट्री' (1973) में प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था के विविध पक्षों का विस्तार से अध्ययन किया गया है जिसमें औद्योगिक गतिविधियों और उससे जुड़े लोगों की सामाजिक–आर्थिक भूमिका का भी विवेचन किया गया है।

पी0डी0 अग्निहोत्री ने वी0एस0 अग्रवाल की रचना 'पाणिनि कालीन भारत वर्ष' से प्रेरित होकर 'पतंजलिकालीन भारत' (1963 ई0) लिखा जिसमें पतंजलिकाल में प्रचलित विभिन्न प्रकार के शिल्पों और शिल्पकारों के विषय में भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

ओम प्रकाश ने 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास' (1975 ई0) में शिल्प एवं उद्योग अध्याय के अन्तर्गत नवपाषाण काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक के शिल्प तथा उद्योगों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है।

कैलाश चन्द्र जैन ने 'प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं (1976 ई0) में सामाजिक संस्थाओं के साथ ही प्रागैतिहासिक काल से लेकर पूर्व मध्य काल तक कृषि, उद्योग, वाणिज्य–व्यापार, श्रेणी संगठन आदि पर भी प्रकाश डाला है।

मगनलाल ए0बुच ने 'इकोनॉमिक लाइफ इन एंशियंट इण्यिां' (1979 ई0) में पूर्व–वैदिककाल से लेकर प्रथम शताब्दी ई0 तक की भारतीय अर्थनीति, कृषि, पशुपालन, कला एवं उद्योग, उत्पादन की दशाएं, श्रम एवं पूँजी, वर्ण, जाति एवं व्यवसाय, सम्पत्ति, मुद्रा, कीमत, व्यापार, परिवहन आदि का विस्तार से अध्ययन किया है।

विजय कुमार ठाकुर ने 'अर्बनाइजेशन इन एंशियन्ट इण्डियां' (1981 ई0) में प्राचीन भारत में नगरों के विकास पर विस्तार से लिखा है। इसमें उन्होंने नगरों के उदय के कारण, नगरीय अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति और नगर प्रशासन के साथ ही विभिन्न प्रकार के उद्योगों पर भी प्रकाश डाला है।

आर0एस0 अग्रवाल ने 'ट्रेड सेंटर्स एण्ड रूट्स इन नार्दर्न इण्डिया' (1982 ई0) में 332 ई0पू0 से लेकर 500 ई0 तक के उत्तर भारत के व्यापारिक केन्द्रों, शिल्प एवं उद्योगो तथा व्यापारिक मार्गों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

शिल्प एवं उद्योग के सम्बन्ध में डॉ0 मोती चन्द्र ने प्राचीन भारतीय वेश भूषा' (प्रयाग,1950 ई0) में प्रागैतिहासिक युग से सातवीं शताब्दी ई0 तक भारत में प्रचलित अनेक प्रकार के वस्त्रों के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के आभूषणों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। 'कास्ट्यूम टेक्सटाइल्स कास्मेटिक्स एण्ड क्वायफर इन एंशियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया'(संसोधित संस्करण दिल्ली, 1973) डॉ0 मोती चन्द्र की दूसरी पुस्तक है जिसमें उन्होंने श्रृंगारपरक वेशभूषा पर लिखा है। चूँकि वस्त्र और आभूषण भी शिल्प एवं उद्योग के उत्पादों में आते हैं अतः डॉ0 मोती चन्द्र की उक्त दोनों पुस्तकों से प्राचीन भारतीय शिल्पकारी एवं औद्योगिक कुशलता पर भी प्रकाश पड़ता हैं लेकिन मोतीचन्द्र का मुख्य उद्देश्य वस्त्राभूषणों को रेखांकित करना ही था, इस कारण इनमें शिल्प एवं उद्योग से सम्बन्धित अन्य तथ्य उपेक्षित रह जाना स्वाभाविक है।

'प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम मुम्बई के पूर्व निदेशक डॉ0 मोती चन्द्र ने 'सार्थवाह' (1953 ई0) नामक पुस्तक भी लिखी। इसमें प्राचीन भारतीय साक्ष्यों–विशेषकर साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर भारत के व्यापारियों एवं शिल्पियों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्राचीन भारत के वैश्य, श्रेष्ठि अथवा गहपति वाणिज्य–व्यापार को प्रोत्साहित करते थे, शिल्प तथा अन्य व्यावसायिक क्रियाकलापों को संरक्षण प्रदान करते थे।

वस्त्राभूषणों से सम्बंधित तकनीकी ज्ञान, शिल्पगत विशिष्टीकरण और औद्योगिक दक्षता पर जार्ज बर्डवुड की 'इण्डस्ट्रियल आर्ट ऑफ इण्डिया (1880 संशोधित संस्करण 1974 ई0), कुमार स्वामी की 'दि आर्ट्स एण्ड फाइव थाउज़ैण्ड इयर्स ऑफ क्राफ्ट्स इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (1968 ई0) पुस्तकों से भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुसंख्यक शोध पत्रों–पत्रिकाओं से भी प्राचीन भारत के विभिन्न प्रान्तों एवं क्षेत्रों के हस्त कौशल, शिल्प एवं उद्योगों पर थोड़ा–बहुत प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों एवं शोध पत्रिकाओं में से कुछ में 600 ई0पू0 से पहले के शिल्प एवं उद्योग पर प्रकाश पड़ता है तो कुछ में मौर्योत्तर काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक की दस्तकारी पर। कुछ

ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर मुस्लिम सत्ता की स्थापना तक की कालावधि में तकनीकी दक्षता एवं शिल्पकारी का अध्ययन किया गया है। ऐसे में आरम्भिक ऐतिहासिक काल (600ई0पू0 से 100 ई0) के शिल्प एवं उद्योग पर पर्याप्त प्रकाश न पड़ना स्वाभाविक है। मैंने इसी बात को ध्यान में रखते हुए शोधकार्य को वर्तमान स्वरूप देने का प्रयास किया है। लेकिन इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि 600 ई0पू0 और प्रथम शताब्दी ई0 के पूर्व और बाद के शिल्प एवं उद्योग को अछूता छोड़ दिया गया है। वास्तव में मैंने अपने अध्ययन काल पर विशेष ध्यान देते हुए आवश्यकतानुसार पहले से चले आ रहे शिल्प एवं उद्योग पर भी संक्षेप में अध्ययन किया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत के प्रमुख शिल्प एवं उद्योगों के स्वरूप तथा विकास को पुरातात्तिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आलोक में उनकी राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया गया है।

शोध कार्य का अध्यायों में वर्गीकरण और शोध की परिकल्पनाः

मैंने अपने शोधकार्य को अध्ययन की सुविधा के लिए सात अध्यायों में वर्गीकृत किया है। प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसमें शोध के अध्ययन क्षेत्र 'उत्तर भारत' का भौगोलिक परिचय देने के साथ ही साथ शोध अवधि या अधीत काल 'प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल' (600 ई0पू0से 100 ई0 तक) का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में शिल्प एवं उद्योग का अर्थ और उसकी परिभाषा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि प्राचीनकाल के शिल्प एवं उद्योग वर्तमान शिल्प एवं उद्योगों से किस प्रकार भिन्न थे।

अध्याय दो में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। शिल्प और उद्योग अर्थ–व्यवस्था के अभिन्न अंग होते है, और अर्थव्यवस्था अपने युग की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होती रहती है। आरम्भिक ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि सोलह महाजनपदों से होती हुई जो राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई थी वह

बिम्बिसार द्वारा प्रथम मगध–साम्राज्य की स्थापना के साथ और अधिक विकसित हुई तथा अशोक द्वारा कलिंग–विजय के साथ पूरी हुई। उसके बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का दौर आरम्भ हुआ और भारत में यवन, शक, कुषाण आदि आक्रान्ताओं का राज्य स्थापित हुआ और फिर इन्हीं आक्रान्ताओं में से कुषाण के वंशज कनिष्क प्रथम ने एक बार फिर उत्तर भारत में विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस काल में सामाजिक स्थिति में भी उतार–चढ़ाव दिखलायी पड़ता है। बुद्ध कालीन समाज और स्मृतियों में वर्णित समाज में स्पष्ट अन्तर दिखलायी पड़ता है। इस अध्याय में राजनीति एवं समाज के बदलते सन्दर्भ में शिल्प एवं उद्योग की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय तीन में उन महत्वपूर्ण शिल्पियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है जो तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो करते ही थे, राज्य की अर्थव्यवस्था को भी दृढ़ता प्रदान करते थे। ऐसे शिल्पियों में धातु पर आधारित शिल्पी–लोहार, कर्मार, अयस्कार तथा स्वर्णकार, मृत्तिका पर आधारित शिल्पी–कुलाल या कुम्भकार तथा ईंट खपड़े, मूर्तियाँ, मनके आदि बनाने वाले शिल्पी, प्रस्तर पर आधारित शिल्पी–पत्थर तराशने वाले और मूर्तियाँ, मनके आदि बनाने वाले शिल्पी, वस्त्र पर आधारित शिल्पी–तक्षा, रथकार, धनुष्कार, वेणुकार, वस्त्र उद्योग से जुड़े शिल्पी–तन्तु वाय, रजक और रंगरेज, चर्मपर आधारित शिल्पी–चर्मकार या कारावर तथा हाथी दाँत से जुड़े शिल्पी– दन्तकार, मदिरा के निर्माणकर्ता–सुराकार भवनों की छतों और भित्तियों पर चित्र बनाने वाले शिल्पी चित्रकार तथा सभी शिल्पियों को निरोग बनाने वाले शिल्पी–भिषक् आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अध्याय चार में धातु पर आधारित शिल्प एवं उद्योगों का परिचय दिया गया है। इसके अन्तर्गत लोहा, ताँबा, कांस्य, टिन के अलावा सोना–चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं के साथ–साथ वेश कीमती रत्नों पर आधारित शिल्प एवं उद्योगों का आवश्यकतानुसार चित्रों के साथ विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय पाँच में मिट्टी, प्रस्तर तथा काष्ठ उद्योग के सन्दर्भ में क्रमशः कुम्भकारों, प्रस्तर तराशने एवं काटने वाले शिल्पियों तथा तक्षा, रथकार, धनुष्कार एवं वेणुकारों के हस्तकौशल की समीक्षा की गयी है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में कच्चे माल के स्रोतों और निर्माण की तकनीक पर भी प्रकार डाला गया है।

अध्याय छः में सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों के निर्माण रंगाई एवं छपाई, निर्माण केन्द्रों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों के साथ ही कच्चे माल के स्रोतों का भी अध्ययन किया गया है। इस सन्दर्भ में साहित्यिक परम्परा में विद्यमान प्रमाणों का ऐतिहासिक काल के उत्खनित पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्यों से सामांजस्य स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया गया है। इसी अध्याय में चर्म उद्योग, दन्तकारी और शराब उद्योग का भी अध्ययन किया गया है।

अध्याय सात में श्रेणी, निगम, पूग जैसे शिल्पी संगठनों एवं व्यावसायिक संस्थाओं के साथ शिल्प और उद्योग से जुड़े लोगों की सामाजिक स्थिति का भी अध्ययन किया गया है। इसमें इस बात का भी संकेत किया गया है कि अर्थव्यवस्था की रीढ़ समझे जाने वाले शिल्पियों में से कुछ को हीन अथवा निम्नकोटि का शिल्पी मानते हुए उन्हें समाज में उचित सम्मान क्यों नहीं मिला था।

अन्त में 'उपसंहार' शीर्षक देते हुए मैंने शोध कार्य का समापन किया है। इसमें अध्याय एक से लेकर अध्याय सात तक के सभी अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

शोध की सर्व प्रमुख परिकल्पना यह है कि छठी शताब्दी ई0पू0 से लेकर प्रथम शताब्दी ई0 तक की अवधि में शिल्प एवं उद्योग का तीव्र गति से विकास हुआ। शिल्प तथा उद्योगों ने नगरीकरण को और नगरीकरण ने शिल्प और उद्योगों के विकास में योगदान किया। दूसरी परिकल्पना यह है कि राज्य द्वारा शिल्प तथा उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर विकसित होने का अवसर प्रदान किया। यातायात के स्थल एवं जलमार्गों के विकास से औद्योगिक उत्पादों को देश के अन्दर और बाहर विदेशों तक भेजना सम्भव हो सका। तीसरी परिकल्पना यह है कि भारत के लोगों ने अपने आर्थिक संसाधनों का दोहन करके आर्थिक जीवन के प्रति अपनी

जागरूकता का परिचय दिया और शिल्पगत विशिष्टीकरण हेतु वैदेशिक सम्पर्क से परहेज नहीं किया। इसी जागरूकता के कारण अधीतकाल में भारतीय व्यवसायियों ने लम्बी समुद्री यात्राएं करके विदेशी व्यापारियों को भारतीय उत्पादों की ओर आकर्षित किया और यही कारण है कि उस समय भारत का व्यापार सन्तुलन भारत के पक्ष में था।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध की रचना पूज्य आचार्यों, गुरूजनों, परिजनों, शुभेच्छुओं और प्रियमित्रों के आशीष, स्नेह, प्रेरणा एवं सहयोग के फल स्वरूप की सम्भव हो सकी है, अतः उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना परमदायित्व समझता हूँ। इस क्रम में मैं सर्वप्रथम अपने पर्यवेक्षक गुरुप्रवर डॉ0 जयनारायण पाण्डेय, आचार्य, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनकी प्रेरणा, निर्देश एवं कृपा से मुझे इस विषय पर शोध करने का अवसर मिला। उनके बहुमूल्य विचारों, शोध अनुभवों और सुझाओं से शोधार्थी का सदैव मार्गदर्शन होता रहा है। वस्तुतः शोध का प्रस्तुत स्वरूप उन्हीं के प्रोत्साहन, आशीर्वाद एवं अनुग्रह का प्रतिफल है। गुरूदेव के स्वयं प्रतिष्ठित पुरातत्त्ववेत्ता होने के कारण प्रस्तुत शोध कार्य को पुरातात्त्विक पृष्ठिभूमि प्रदान करने में मुझे कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ा। स्नातक स्तर से लेकर अद्यतन अध्ययन और शोधकार्यों में आप से जो आत्मीय एवं अनुग्रहपूर्ण मार्गदर्शन मिलता चला आ रहा है, यह शोधकृति उसी का परिणाम है। इसके लिए मैं विनयपुरस्सरनत हूँ।

गुरुवर्य प्रोफेसर विद्याधर मिश्र, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद एवं सम्प्रति सदस्य, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद नई दिल्ली की मुझ पर सदैव जो अनुकम्पा बनी रही है, वह आपका मुझ पर सहज स्नेह ही है। आपके स्नेहशील एवं उदार संकलित विचारों से मैं सदा लाभान्वित होता रहता रहा हूँ। इसके लिए मैं आप के प्रति हृदय से उपकृत हूँ।

वर्तमान विभागाध्यक्ष, डा0 आर0 पी0 त्रिपाठी, डा0 एच0 एन0 दूबे और डॉ0 ए0पी0 ओझा से समय–समय पर प्राप्त प्रोत्साहन, आशीर्वाद एवं सहयोग के लिए मै अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पूर्व अध्यक्ष प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद प्रोफेसर बी0एन0एस0 यादव, प्रख्यात पुरावेत्ता एवं पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय (रीवाँ) प्रोफेसर राधाकान्त वर्मा, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय गोरखपुर एवं सम्प्रति फेलो, उच्च अध्ययन संस्थान शिमला और अध्यक्ष भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली प्रोफेसर दयानाथ त्रिपाठी, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, प्रोफेसर सुशील कुमार सुलेरे और प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, डॉ0 विजय कुमार पाण्डेय, गुरुवर श्री शीतला प्रसाद सिंह प्रवक्ता (इतिहास) जनता इण्टर कालेज, अम्दही गोण्डा तथा गुरुवर श्री उमाशंकर सिंह प्रधानाचार्य मनोहर लाल इण्टर कालेज फैजाबाद के प्रति मैं श्रद्धानत हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोधकार्य को पूरा करने में सहयोग प्रदान किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन में जिन पुस्तकों एवं लेखों की सहायता ली गयी है, उनका विवरण अंत में दी हुई सन्दर्भ–ग्रंथ सूची में सम्मिलित है। इन स्रोतों के प्रति एवं उनके लेखकों के प्रति मैं परम आभार व्यक्त करता हूँ। इनके बिना मेरा यह शोध कार्य सम्भव नहीं होता। इसके साथ ही मैं उन सभी पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों के अधिकारियों एवं कर्मियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने शोध के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र करने में मेरी सहायता की। ऐसे सज्जनों में सर्व श्री सतीश राय (सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय और यहीं के पुस्तकालय सहायक श्री प्रकाश मिश्र

के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ। इन्होंने मुझे आवश्यकतानुसार शोध–सामग्री उपलब्ध कराके विशेषरूप से उपकृत किया है।

मित्रों में सर्वश्री राधेश्याम वर्मा, श्री प्रेमभूषण सिंह, श्री विनोद कुमार शुक्ल, डॉ0 सन्तोष कुमार चतुर्वेदी, श्री सत्य पाल तिवारी, श्री राकेश कुमार सिंह, श्री नरसिंह नरायन मिश्र, श्री दयाशंकर तिवारी और श्री सुभाष चन्द्र सिंह ने मुझे प्रत्येक स्तर पर आत्मीय सहयोग प्रदान करके न केवल शोधकार्य पूर्ण कराने में महती भूमिका निभायी है, बल्कि मेरी व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में हाथ बंटाकर मेरा इलाहाबाद में रहकर शिक्षा ग्रहण करना भी सम्भव बनाया है। इनके सहयोग के बिना मैं शायद ही शोध कर पाता। एतदर्थ मैं आप सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। श्री सुशील कुमार सिंह गौतम, श्री प्रत्यूष कुमार मिश्र एवं कु0 अंशू गोयल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने किसी न किसी रूप में शोधकार्य में मेरी मदद की है।

इसके अतिरिक्त स्वजनों में मामा श्री लालता प्रसाद तिवारी (प्रतापगढ़), बड़े भाई श्री राम मनोहर मिश्र, अनुज शिव कुमार मिश्र (गोण्डा), एवं अतुल कुमार तिवारी, चाचा श्री राम मिलन दूबे और भाई श्री सुरेन्द्र कुमार दूबे (फैजाबाद) का मै अनुगृहीत हूँ जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी सम सहयोग प्रदान करके मुझे सदैव प्रोत्साहित किया है।

मैं जो हूँ, जैसे भी हूँ और जहाँ हूँ, यह सब कुछ मेरे पिता श्री राम लाल शुक्ल, माता श्रीमती श्यामा शुक्ला व ताऊ श्री राम पाल शुक्ल और अग्रजद्वय सर्वश्री राम प्रकाश शुक्ल तथा श्री ओम प्रकाश शुक्ल के स्नेह एवं आशीर्वाद का प्रतिफल है, जो स्वयं अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए गृहस्थी के सम्पूर्ण जंजालों को समेट, मेरे कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपना पवित्र आशीर्वाद प्रदान करते रहे हैं। इसके लिए आभार प्रकट कर मै आप सब के सुकृतों को शब्दसीमा में बाँध नहीं सकता। एतदर्थ मैं आप सबके प्रति श्रद्धानत हूँ। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती तारावती शुक्ला ने घरेलू दायित्व को स्वयं लेकर मुझे इस कठोर शोध–साधना के लिए मुक्त रखकर अपने सहधर्मिणी के कर्तव्य का निर्वाह किया है,

जिसके लिए आभार प्रकट करना मात्र औपचारिकता नहीं होगी। मुझे भ्रातृज अंजनी कुमार शुक्ल ने अनेक अवसरों पर यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिए वह साधुवाद का स्वाभाविक पात्र है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ, जिसने मुझे भी शोधकार्य करने हेतु अपनी प्रतिष्ठित अनुसंधान वृत्ति (जे0आर0एफ0/एस0आर0एफ0) प्रदान करने का पात्र समझा। अब तक आयोग द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता ने निश्चित रूप से मेरे शोध कार्य को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में विशिष्ट भूमिका निभायी है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का मुद्रण 'सॉस कम्प्यूटर' ईश्वर शरण आश्रम, सलोरी, इलाहाबाद के तत्त्वाधान में हुआ है। केन्द्र के निदेशक श्री अवधेश कुमार मौर्य तथा कम्प्यूटर आपरेटर 'अजीत कुमार एवं चन्द्रेश कुमार' ने जिस निष्ठा, लगन एवं उत्साह से इस दायित्व का निर्वाह किया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे यह उन्हीं का शोध–प्रबन्ध हो। इसके बावजूद मुद्रण सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ रह ज़ाना स्वाभाविक है, जिसके लिए मैं क्षमा प्राथी हूँ।

शोध का विषय–क्षेत्र विस्तृत है और शोधकर्ता के ज्ञान–क्षेत्र की सीमाएं संकुचित हैं। अतः प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में कुछ कमियाँ रह जाना स्वाभाविक हैं। आरम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारतीय शिल्प एवं उद्योग के अध्ययन की दिशा में मेरा यह अत्यन्त विनम्र प्रयास है। आशा है इससे अब तक इस दिशा में किये गये अनुसंधानों की श्रृंखला में एक नयी कड़ी जुड़ेगी। इस शोध–प्रबन्ध को अधिक सार्थक एवं उपयोगी बनाने के लिए इतिहासविदों के रचनात्मक सुझाव मुझे सदैव सहर्ष स्वीकार्य हैं।

Jaya Prakash Shukla
जय प्रकाश शुक्ल

अध्याय : 1

अध्ययन क्षेत्र का भौगोलिक परिचय तथा शिल्प एवं उद्योग का अर्थ और परिभाषा

भारत $8^{0}4'$ और $37^{0}\ 6'$ उत्तरी अक्षांश तथा $68^{0}7'$ से $97^{0}\ 25'$ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। दक्षिण एशिया का अधिकांश भाग इसके अन्तर्गत आता है। इसका पश्चिमोत्तर, उत्तरी एवं पूर्वोत्तर भाग नववलित हिमालय की श्रृंखलाओं से आवेष्टित है तो दक्षिण–पश्चिमी, दक्षिणी और दक्षिण–पूर्वी भाग क्रमशः अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी को स्पर्श करता है।[1] इसके मध्य भाग से गुजरती हुई कर्क रेखा भारत को दो भागों में विभाजित करती है–उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत। उत्तरी भारत शीतोष्ण कटिबन्ध और दक्षिणी भारत उष्ण कटिबन्ध में स्थित है। भारत का विस्तार पूर्व से पश्चिम की और 2933 किमी तथा उत्तर से दक्षिणी की ओर 3214 किमी है। इसका क्षेत्रफल 3287263 वर्ग किमी है।[2]

भारत को प्राचीन भारतीय साहित्य में "भारतवर्ष" कहा गया है। विष्णु पुराण के अनुसार जो देश समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित है उसे भारतवर्ष और यहां के निवासियों को "भारती" कहते है।[3]

उत्तरंयत् समुद्रस्य हिमाद्रैश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतंनाम् भारती यत्र संततिः।।

यह देश दक्षिण से उत्तर तक हजारों योजन में फैला है। इसकी पश्चिमी सीमा के अन्त में यवन और पूर्वी सीमान्त में किरात जाति के लोग रहते हैं।[4]

भारत के नामकरण को लेकर प्राचीन साहित्य में पृथक्–पृथक् दृष्टान्त मिलते है लेकिन इस सब में इस बात पर सहमति दिखायी पड़ती है कि भारत का नाम 'भरत' के कारण पड़ा चाहे वह कोई ऋग्वैदिक 'जन' रहा हो अथवा कोई पौराणिक राजा। भारत को यूनानी साहित्य में "इण्डिया" कहा गया है जिसका तात्पर्य है "इण्डोई की भूमि"। "इण्डोई" उन लोगों को कहा गया है जो यूनानी "इंडस" (Indus) और लैटिन "इंडस" (Indus) नदी के आसपास रहते थे। "इंडस" वह

नदी है जिसे ऋग्वेद में 'सिन्धु' कहा गया है। सिन्धु को पारसीकों ने 'हिन्दु' कहा है और हिन्दु से ही भारत का एक नाम हिन्दुस्तान भी पड़ा।[5]

भारत विविधताओं का देश है। प्रकृति ने इसे अनेक प्रादेशिक भागों में बाँट रखा है। यदि इसके उत्तर में हिमाच्छदित पर्वतमालाएं है तो दक्षिण में अगाध सागर। पूर्व में दुर्गम जंगल और ब्रह्मपुत्र की गहरी घाटी है, तो पश्चिम में कच्छ का दलदली क्षेत्र और राजस्थान का विशाल मरूस्थल।

भारत को भौगोलिक दृष्टि से मुख्य रूप से चार भागों में बांटा गया है।[6]

1. उत्तर का पर्वतीय क्षेत्र
2. सिन्धु –गंगा का विशाल मैदान
3. दक्षिणी का पठारी भाग और
4. समुद्र तटीय मैदान एवं द्वीप

उत्तर का पर्वतीय क्षेत्र तराई के दलदल वाले जंगलों से लेकर हिमालय के शिखर तक फैला हुआ है। इसमें उच्च भू–भाग में स्थित प्रदेश–कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, नवसृजित उत्तरांचल और सिक्किम भी सम्मिलित है। इस क्षेत्र में हिमालय पर्वत की ऊँची श्रृंखलाएं दूर–दूर तक विस्तृत है। हिमालय के उस ओर तिब्बत का पठारी भाग और इस ओर सिन्धु, सतलज, ब्रह्मपुत्रादि नदियों का उदगम स्थल है। भारत की सबसे ऊँची पर्वत चोटी $के_2$ गाडविन आस्टिन और विश्व का सबसे ऊँचा हिमनद–सियाचिन इसी क्षेत्र में है। उत्तर–पश्चिम में कराकोरम पर्वत है तो उत्तर पूर्व में नागा, लुशाई और पटकोई पहाड़ियां है। हिमालय को भारत की उत्तरी दीवार भी कहा जाता है। ऊँची पर्वत चोटियां प्राचीन काल में भारत को पश्चिमोत्तर की ओर से होने वाले आक्रमण से समय–समय पर रक्षा अवश्य प्रदान करती रही है, लेकिन दुस्साहसी आक्रान्ताओं के लिए ये कभी अलंध्य नहीं रही । प्राचीन काल में यवन, शक, कुषाण, हूण आदि आक्रान्ताओं ने समय–समय पर इन पर्वतों के दर्रों से होकर भारत भूमि को पद्दलित किया।

इस पर्वतीय क्षेत्र के दक्षिण और विन्ध्य पर्वत के उत्तर सिन्धु एवं गंगा का विशाल मैदान है। इस क्षेत्र को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. सिन्धु का मैदान
2. गंगा का मैदान

उत्तर के मैदान का पश्चिमोत्तर भाग सिन्ध और उसकी सहायक सतलज, रावी, व्यास, झेलम, चिनाब आदि नदियों से सिचिंत है। सिन्धु और इसकी सहायक नदियाँ हिमालय पर्वत से निकलकर अरब सागर में गिरती है। इसी भू–भाग को सम्भवतः ऋग्वेद में 'सन्तसैधवः' कहा गया है। यद्यपि 'सप्तसैन्धव' सात नदियों का संकेत करता है, लेकिन ये सात नदियां कौन थी? निश्चित रूप से कहना कठिन है; फिर भी इतना तो निश्चित है कि जिसे हम आजकल पंजाब (वर्तमान भौगोलिक स्थित में पाकिस्तान और भारत के दो राज्य) के नाम से जानते है, उसी को या उससे कुछ विस्तृत भूखण्ड को ऋग्वेद में 'सप्तसैन्धवः' कहा गया है।[7] इससे लगे हुए उस भूभाग को जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य स्थित था, कालान्तर में 'ब्रम्हावर्त की पवित्र भूमि' कहा गया है। सम्प्रति ये दोनों नदियाँ लुप्त हो चुकी है; अतः इस प्रदेश की सीमाओं की सही–सही पहचान नहीं हो सकी है। मनु ने थानेश्वर के आसपास के क्षेत्र, पूर्वी राजस्थान, गंगा–यमुना दोआब तथा मथुरा जिले के अंचल को 'ब्रह्मर्षिदेश' कहा है जो सम्भवतः ब्रह्मावर्त्त' का ही दूसरा नाम है।[8] ऋग्वेद की रचना इसी क्षेत्र में हुई मानी जाती है। महाजनपद काल में गन्धार और कम्बोज सिन्धु के मैदान में ही स्थित थे। विदेशी आक्रमण का शिकार भी पहले इसी क्षेत्र को होना पड़ा और चन्द्रगुप्त मौर्य ने सम्भवतः सबसे पहले इसी क्षेत्र को जीता था। इण्डोग्रीक शासकों ने शाकल और तक्षशिला को केन्द्र बनाकर शासन किया। ये दोनों केन्द्र इसी क्षेत्र में थे और इनका न केवल राजनीतिक अपितु आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्व भी था। शको ने भी अपनी प्रारम्भिक सत्ता इसी क्षेत्र में स्थापित की।[9]

गंगा के मैदान में गंगा और उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित भू–भाग आता है। इसे ऊँचाई और जलवायु के आधार पर पश्चिम से पूर्व दिशा में क्रमशः तीन भौगोलिक प्रदेशों में विभाजित किया गया है :

1. गंगा का ऊपरी मैदान
2. गंगा का मध्वर्ती मैदान
3. गगा का निचला मैदान[10]

गंगा के ऊपरी मैदान का पश्चिमी सीमा का निर्धारण यमुना नदी करती है जो गंगा की प्रमुख सहायक नदी है। पूर्वी सीमा 100 मीटर की समोच्च रेखा द्वारा बनती है[11] जो इलाहाबाद–फैजाबाद रेलमार्ग का अनुसरण करती है। इसकी उत्तरी सीमा शिवालिक पहाड़ियों तथा दक्षिणी सीमा प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी कटे–फटे छोरों द्वारा निर्धारित होती है।

गंगा के मध्यवर्ती मैदान की पश्चिमी सीमा 100 मीटर समोच्च रेखा द्वारा बनती है तो पूर्वी सीमा पश्चिमी बंगाल की पश्चिमी प्रशासनिक सीमा द्वारा तय होती है। उत्तरी एवं दक्षिणी सीमाएं क्रमशः हिमालय के पर्वतीय भाग एवं प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी भाग द्वारा निर्धारित होती है।[12]

गंगा के निचले मैदान का बहुत थोड़ा भाग ही अब भारत में है। इसका अधिकांश भाग बांग्लादेश की सीमा में आता हैं। इसकी पश्चिमी सीमा में उत्तर पश्चिम में गंगा का मध्यवर्ती मैदान तथा पश्चिम एवं दक्षिण–पश्चिम में छोटा नागपुर का पठारी भाग है। उत्तर पूर्व में असम की सीमा तथा पूर्व दिशा में बांग्लादेश है। उत्तर में हिमालय क्षेत्र और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी है।[13]

उत्तरवैदिक काल में आर्यों का प्रसार धीरे–धीरे पूर्व दिशा में हुआ। इस काल में आर्य सभ्यता का केन्द्र 'मध्यदेश' था जो सरस्वती से लेकर गंगा के दोआब तक विस्तृत था। इसमें कुरू–पांचाल जैसे बड़ राज्यों की स्थापना हुई । शतपथ ब्राह्मण में वर्णित विदेघ माधव और उनके पुरोहित गौतम राहूगण की कथा से इंगित होता है कि उत्तरवैदिक काल में आर्य पूर्व में सदानीरा (गण्डक) नदी तक पहुँच गए थे।[14] मगध और अंग में आर्य संस्कृति अपेक्षाकृत बाद में अपनी जड़ जमा सकी क्योंकि अथर्ववेद में वहाँ के निवासियों को 'व्रात्य' कहा गया है।[15]

महाजनपद काल में जिन सोलह महाजनपदों की स्थापना हुई उनमें गंधार, कम्बोज (सम्प्रति पाकिस्तान में स्थित), मत्स्य (राजस्थान), अवन्ति (मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग) तथा अश्मक (आन्ध्र प्रदेश) को छोड़कर शेष गंगा के मैदान में ही स्थित थे। कालान्तर में सोलह महाजनपदों में चार कोशल, वत्स, मगध और अवन्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी और फिर मगध सब पर भारी पड़ा।

गंगा के मैदान में ही सर्वप्रथम भारत में द्वितीय नगरीकरण हुआ, महावीर और गौतम बुद्ध के मतों की गूँज सुनायी पड़ी और भारत के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य–मगध साम्राज्य की स्थापना बिम्बिसार के नेतृत्व में हुई। आर्यावर्त एक तरह से कालान्तर में समस्त उत्तर भारत का पर्याय बन गया।[16]

आर्यावर्त की सीमा पर पंतजलि ने भी प्रकाश डाला है। पंतजलि ने इस सन्दर्भ में भारत को दो भागों में बॉटा है – आर्यावर्त और बाह्य! पश्चिम में कुरूक्षेत्रान्तर्गत आदर्श जनपद, पूर्व में प्रयाग के समीप का कालकुवन, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में परियात्र उनके आर्यावर्त की सीमा थी।[17] पंतजलि के अनुसार यह पवित्र और शिष्टों का देश था। इस प्रदेश में रहने वाले कुम्भीधान्य अंसग्रही, अलोलुप, अग्रहामाणकारण इन्द्रियजयी और सापेक्षिक अन्तर से किसी न किसी विशिष्ट विद्या में पारंगत ब्रहमण शिष्ट थे –

एतस्मिन्नर्यनिवासे ये ब्राहमणाः कुम्भी धान्या अलोलुपा अगृहमाण्कारणाः किच्चिदन्तरेण कस्याश्चिद विधायाः परगास्तंत्र भवन्तः।[18] उनका आचार वाणी प्रमाण थी। इस क्षेत्र से बाहर रहने वालो को उन्होंने आर्यावर्त से 'निरवसिंत' कहा है। किष्किन्ध, गन्धिक शक, यवन शौर्य, क्रौंच आदिदेश आर्यावर्त से बाहय थे और इसके निवासी आर्यावर्त निरवसित।[19] सूत्रग्रंथों में भी आर्यावर्त की वे अधिकांश विशेषताएं मिलती है। जो भाष्यकार द्वारा बतलायी गयी है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में परियात्र के अतिरिक्त विन्ध्य भी आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा माना गया है। भाष्यकार ने विन्ध्य या परियात्र से दक्षिण की ओर के प्रदेश को दक्षिणापथ कहा है और इस प्रदेश के निवासियों को दक्षिणापथ कहा है और इस प्रदेश के निवासी को दक्षिणात्य कहा है। इन सभी साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि विन्ध्य के दक्षिण का समस्त भारतीय भूखण्ड दक्षिण भारत और विन्ध्य के उत्तर का समस्त भूखण्ड जो हिमालय तक विस्तृत है उत्तर भारत है। पंतजलि ने दक्षिणापथ को छोड़कर शेष भारत को प्राचीन और उदाचीन भागों में बॉटा है।[20] यद्यपि इन शब्दों के साथ उनके द्वारा प्रतीचीन शब्द का भी उल्लेख इस ओर संकेत करता है कि उदीच्य देश पूर्वी पंजाब से ऊपर का क्षेत्र माना जाता था। शोधकर्ता का मनना है कि यह उदीच्य देश आजकल के भारत

की पश्चिमोत्तर सीमा से लगा पाकिस्तान और अफगानिस्तान का क्षेत्र रहा होगा। यह क्षेत्र सामान्यतौर पर प्रस्तुत शोध के क्षेत्र से बाहर है लेकिन यत्र–तत्र प्रसंगवश इस क्षेत्र में स्थित प्राचीन स्थलों तथा तक्षशिला, गंधार, साकल, आदि पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। जहाँ तक प्राच्य देश की बात है तो पाणिनि और पंतजलि के प्राच्यदेश भिन्न–भिन्न है। पाणिनि ने 'प्राचाम्' मत अनेक बार उद्घृत किया है। उनकी दृष्टि में कुरूक्षेत्र और पंचाल प्राच्यदेश थे। पंतजलि ने उदीच्य और प्राच्य शब्दों का प्रयोग दो अर्थों में किया है।[21] पाणिनीय सूत्रों से जिन स्थानों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उनके सम्बन्ध में उन्होंने उसी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया है, ज़िस अर्थ में पाणिनि ने किन्तु जहाँ स्वतंत्र रूप से इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ प्राच्य का अर्थ 'आर्यावर्त' से पूर्व का प्रदेश' है, जिसमें विदेह, वृजि, मगध आदि थे। विदेह, वृजि, मगध आदि आजकल बिहार प्रदेश की सीमा में आते हैं और बिहार तक का क्षेत्र शोधार्थी के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित है।

सिन्धु–गंगा का मैदानः

गंगा–यमुना मैदान को दक्षिण भारत से विन्ध्य पर्वतमाला पृथक करती है। विन्ध्य के उत्तर और हिमालय के दक्षिण तथा पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत भू–भाग को मनुस्मृति में "आर्यावर्त" कहा गया है–

आसमुद्रात्त वै पूर्वादासमुद्रात्त पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त विदुर्बुधाः।

यह क्षेत्र आर्य संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था और दक्षिण भारत प्रारम्भ में आर्यों के प्रभाव से मुक्त रहा। अतः विन्ध्य के उत्तरी क्षेत्र को 'आर्यावर्त' कहा गया। आर्यावर्त एक तरह से कालान्तर में समस्त उत्तर भारत का पर्याय बन गया ।

सिन्ध–गंगा मैदान का वह समस्त भू–भाग मेरे शोध क्षेत्र में आता है जो भारतीय सीमा में है। इसमें पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश का उत्तरी भाग, झारखण्ड और बिहार के क्षेत्र सम्मिलित किये गये है। इतिहासकारों ने उत्तर भारत को जिस रूप में स्वीकार किया है, उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए इतिहाकारों ने जिन महाजनपदों एवं गणराज्यों का उल्लेख किया है उनमें अश्यक को छोड़कर शेष

उत्तर भारत में ही स्थित थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि गांधार और कम्बोज का भू–भाग सम्प्रति पाकिस्तान के अंग बन चुके है। लेकिन प्रसंगानुसार उन्हें भी अपने अध्ययन क्षेत्र में स्थान दिया गया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (EARLY HISTORY PERIOD) हमारे शोध की समय सीमा है। भारत में ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ कब से माना जाता है? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व प्रागितिहास, आद्यैतिहास और इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

किसी भी देश की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित करने का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है लिपि जिसका आविष्कार मनुष्य ने अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों की श्रृंखला में अपेक्षाकृत बहुत बाद में किया। लिपि के आविष्कार से पहले का मानवीय इतिहास वस्तुतः सभ्यता के भौतिक पक्ष का इतिहास होता है जिसे पुरातात्विक खोजें धरती के गर्भ से खोद निकालती है। प्राक्लिपि काल का पुरातात्विक इतिहास प्रागितिहास[22] के रूप में जाना जाता है और उस काल को प्रागैतिहासिक काल के नाम से अभिहित किया जाता है उल्लेखनीय है कि प्रागतिहास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उन्नीसवीं शताब्दी ई0 के उत्तरार्द्ध में विल्सन महोदय ने किया था। इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल मानव के साक्षर होने के पूर्व का काल माना जाता है।[23]

मानव साक्षरता का प्राचीनतम प्रमाण सुमेरियाई पुरास्थलों से मिला है जिनसे ज्ञात होता है कि वहां तीसरी सहस्राब्दी ई0 पू0 के प्रारम्भ में ही लिपि का विकास हो गया था। अतः सुमेरिया के सन्दर्भ में ऐतिहासिक काल की शुरूआत तीसरी सहस्राब्दी ई0 पू0 माना जाता है। 26 लाख वर्ष ई0 पू0 से लेकर तीसरी सहस्राब्दी ई0 पू0 तक के काल को प्रागैतिहासिक काल माना जा सकता हैं क्योंकि मानव अस्तित्व का प्राचीनतम् प्रमाण 1970 ई0 में रिचर्ड लीकी को केन्या स्थित तुरकाना झील के पास से मिले हैं। आस्ट्रेलोपिथेकस मानव का यह जीवाश्म 26 लाख ई0 पू0 का मांना जा रहा है।[24]

भारतीय उपमहाद्वीप में लिखित विवरणों का अनवरत सिलसिला तृतीय शताब्दी ई0 पू0 के पहले प्रारम्भ नहीं होता लेकिन तृतीय शताब्दी ई0 पू0 के पहले की मानवीय गतिविधियों की सारी अवधि यहां प्रागैतिहासिक नहीं कही जा सकती क्योंकि अलिखित मौखिक परम्पराएं अर्थात् वैदिक –साहित्य (जो भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण स्रोत भी है) 1500 ई पू0 तक पहुंच जाता है। वैदिक युग से भी पूर्व हड़प्पा –सभ्यता का विशाल विस्तार है जिसकी अपनी एक लिपि भी थी। लेकिन यह लिपि आज तक सर्वमान्य ढ़ंग से पढ़ी नहीं जा सकी है। हड़प्पा सभ्यता की प्राचीनता 2500 ई0 पू0 तक मानी जाती है। अतः हड़प्पा काल से लेकर वैदिक काल तक को न तो प्रगैतिहासिक काल कहा जा सकता है और न ही ऐतिहासिक काल। यही कारण है कि इसे पुरैतिहासिक या आद्यैतिहासिक काल के अन्तर्गत रखा जाता है। उल्लेखनीय है कि मानव सभ्यता का वह काल आद्यैतिहासिक काल कहलाता है जिसमें लिपि का प्रचलन तो हो लेकिन जिसे किसी कारण वश अभी तक पढ़ा न जा सका हो ।

भारत में अशोक के अभिलेखों में पहली बार लेखन कला के पठनीय प्रमाण मिलते हैं। इन अभिलेखों में मुख्य रूप से ब्राह्मी और गौण रूप से खरोष्ठी, यूनानी और आरमाइक लिपियों का प्रयोग हुआ। इनमें ब्राह्मी को भारत की प्राचीनतम लिपि माना जाता है जो बायीं ओर से दायीं ओर को लिखी – पढ़ी जाती थी। अशोक के अभिलेखों में ब्राह्मी अपने विकसित रूप से मिलती हैं। पुरालिपि विशेषज्ञों का मत है कि इस लिपि के विकास में करीब 300–वर्षों का समय लगा होगा। अतः भारत में लिपि का प्रारम्भ अशोक से 300 वर्ष पूर्व अर्थात् छठी शती ई0 पू0 माना जाता है। इसके अलावा छठी शताब्दी ई0 पू0 से भारत में ऐतिहासिक काल की शुरूआत मानने का दूसरा कारण यह है कि इसी शताब्दी में गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी जैसे दो महान व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।[25] यही नहीं इसी शताब्दी में भारत में प्रथम साम्राज्य – मगध साम्राज्य की स्थापना बिम्बिसार के नेतृत्व में हुयी जिसके विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ प्रमाण उपलब्ध है।

आरम्भिक ऐतिहासिक काल का प्रारम्भिक बिन्दु छठी शताब्दी ई0 पू0 को माना गया है जबकि अंतिम बिन्दु प्रथम शताब्दी ईस्वी को हमने अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से माना है। जिस तरह छठी शताब्दी ईसा पूर्व का कई कारणों से भारतीय इतिहास में विशिष्ट स्थान है उसी तरह प्रथम शताब्दी का भी विशेष महत्व है। मौर्य साम्राज्य के खण्डहरों पर जहां उत्तर भारत में स्थापित शुंग राजवंश प्रथम शताब्दी ईस्वी तक अपनी रही–सही शक्ति खोकर पतन के गर्त में समा चुका था वही दक्कन में सात वाहन सत्ता का–निरन्तर विकास हो रहा था और अपने साम्राज्य विस्तार के लिए शकों से लोहा लेना पड़ रहा था। पहली शताब्दी ईस्वी में ही उत्तर भारत में कुषाण सत्ता का उदय हुआ । कुषाणों का सर्वाधिक प्रतापी एवं शक्तिशाली सम्राट कनिष्क प्रथम था। मौर्यों के बाद पहली बार कनिष्क द्वारा ऐसे साम्राज्य की स्थापना हुई जिसका विस्तार सम्भवतः मगध से लेकर मध्य एशिया तक था। कनिष्क काल में देश का न केवल राजनीतिक अपितु सांस्कृतिक उत्थान भी हुआ। धर्म, साहित्य और कला के साथ–साथ अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। वैदेशिक व्यापार की प्रगति से शिल्प एवं उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ। प्रथम शती ईस्वी ने भारतीय इतिहास कों एक महत्वपूर्ण सम्वत् भी प्रदान किया जो 78 ईस्वी का शक सम्वत् कहलाता है। इतिहासकारों में असहमति के बावजूद 78 ईस्वी के शक सम्वत् को कनिष्क प्रथम द्वारा उसके राज्यारोहण के समय प्रवर्तित माना जाता हैं । इस सम्वत् से तिथि निर्धारण में अधिक सुविधा हुई।

उल्लेखनीय है कि भारत का सांस्कृतिक इतिहास यद्यपि अत्यधिक प्राचीन है लेकिन राजनीतिक इतिहास अनेक कारणों से छठी शताब्दी ई0पू0 से आरम्भ माना जाता है। उक्त कारणों के आलोक में हमने आरम्भिक ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत 600 ई0 पू0 से 100 ई0 तक का समय सम्मिलित किया है।

शिल्प एवं उद्योग का अभिप्रायः

शिल्प और उद्योग शब्द वाणिज्य–व्यापार की तरह प्रायः साथ–साथ प्रयुक्त किये जाते है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त अन्तर है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शिल्प शब्द संस्कृत भाषा के शिल्प + पक् से बना है। जिसका अर्थ है हाथ से

काम करने का कौशल, दस्तकारी या हस्तकला।[26] आँग्ल भाषा में शिल्प का समानार्थी शब्द है Craft जिसका अर्थ है विशेष हस्त व्यवसाय में कुशलता। (Dexterity in a particular manul occupation.)[27] इस प्रकार संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में शिल्प का अर्थ दस्तकारी बताया गया है। शिल्प की परिधि संस्कृत साहित्य में अत्यंत व्यापक बतायी गयी है। वैदिक वाड्मय में शिल्प शब्द कला के अर्थ में प्राप्त होता है। सर्व प्रथम संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों में शिल्प शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। मैत्रायणी संहिता में उल्लेख मिलता है –

ऋक् सामयोः शिल्पेस्थस्ते वामारभा आ भोदृधः पान,
विष्णोः शर्मासि शर्म मे यक्ष नमस्ते अस्तु मा माहिसीः।[28]

वैयाकरण पाणिनि ने शिल्प के अन्तर्गत ललित कला जैसे नृत्य एवं संगीत तथा हस्त कौशल या कारीगरी दोनों का उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार नर्तक, गायक एवं वादक ये सब शिल्पी ही हैं। इस प्रकार पाणिनि द्वारा उल्लिखित शब्द बौद्ध साहित्य में उल्लिखित 'सिप्प' (sippas) के अर्थ का बोधक प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत दस्तकारों और यहां तक कि कलाबाजों को भी शामिल किया गया है। कौशीतकि ब्राह्मण में भी नृत्य एवं गीत का उल्लेख शिल्प के रूप में हुआ हैं।[29]

अर्थशास्त्र में तो सैन्य विज्ञान में प्रवीणता को शिल्प के रूप में उल्लिखित किया गया है और प्रशिक्षित सैनिकों कों 'शिल्पवन्ताः पदांताः कहा गया है तथा सैनिक अभ्यास के राजा द्वारा निरीक्षण को शिल्प दर्शन कहा गया है।[30]

अष्टायायी के भाष्यकार पंतज़लि ने भी पाणिनि की तरह कला और कौशल दोनों के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार शिल्पी की श्रेणी में एक ओर गायक, गाथक आदि आते है[31] तो दूसरी ओर वाद्यों में निपुण ताल देने वाले वादक[32], मार्दुंगिक, पैठरिक, माड्डुकिक, झार्झरिक और दार्दरिक शिल्पी है[33] तथा पाणिघ, ताडघ भी। खनक, रंजक[34], कुम्भकार, तन्तुवाय[35] और नापित[36] भी शिल्पी हैं। पतंजलि ने इस प्रकार शिल्प के अन्तर्गत हाथ से काम करने में चतुर वादक, नर्तक और गायक तक को सम्मिलित किया है। वाल्मीकि रामायण में भी

शिल्प और उस जुड़े लोगों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। रामायण में शिल्पी का उल्लेख कारीगर के रूप में हुआ है।[37] महाभारत में शिल्पी शब्द का प्रयोग कारीगर के अर्थ में ही किया गया है।[38]

शिल्प की परिधि में विविध प्रकार की कलाएं (स्थापत्य, मूर्तिकला आदि) भी समाविष्ठ हैं। शिल्प स्थापत्य धर्म के साथ संलग्न है, उसका देवोपासना से बहुत गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की थी। धर्म प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर देश में जगह–जगह पर धर्मस्थलों –देवालयों का निर्माण हुआ, उसी के द्वारा शिल्पी वर्ग को प्रोत्साहन मिला। प्राचीनयुग में शिल्पी ब्रह्मा के पुत्र माने जाते थे उसी भावना से उनका सम्मान भी होता था। शुक्राचार्य ने शिल्प को कला बताया है। उनके अनुसार विद्या और कलाएं अनन्त है फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि विद्याएं बत्तीस हैं और कलाएं चौसठ । उन्होंने विद्या और कला की व्याख्या करते हुए कहा कि वाणी द्वारा जो व्यक्त होती है वह विद्या है और गूंगा भी जिसे व्यक्त कर सकता है वह कला है। शिल्प, नृत्य, चित्र आदि कलाएं है क्योंकि ये बिना वाणी के माध्यम के केवल मूक भाव से भी व्यक्त की जा सकती है। संस्कृत –साहित्य में शिल्प के अन्तर्गत 64 बाह्य और 64 आभ्यन्तर कलाएं बतायी गयी है। बाह्य कलाओं में बढ़ईगीरी, वास्तुकारी, स्वर्णकारी, नृत्य, संगीत, कवित्व आदि का उल्लेख किया गया है तो आभ्यन्तर कलाओं में चुम्बन, आलिंगन तथा नाज–नखरे से सम्बन्धित अन्य कलाएं बतायी गयी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शिल्प शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में दो प्रमुख रूपों में मिलता है : प्रथम अर्थ में ललित कलाओं के लिए तथा द्वितीय अर्थ में कौशल पूर्ण एवं विशिष्टता लिए हुए कारीगरों के कलात्मक कार्य के अर्थ में। ऐसे कार्य जिन से आजीविका चलती थी, शिल्प कहलाते थे।

शिल्प की तरह उद्योग शब्द भी संस्कृत भाषा के उद+युज+घञ् से बना है जिसका अर्थ है किसी काम में अच्छी तरह लगना, प्रयत्न, परिश्रम, कोई उद्देश्य या कार्य सिद्ध करने के लिए परिश्रमपूर्वक उसमें लगना। उद्योग के पर्यायवाचक शब्द के रूप में एक शब्द उद्यम भी है जिसका अर्थ है कोई ऐसा शारीरिक कार्य या

व्यापार जो जीविका उपार्जन करने अथवा कोई उद्देश्य सिद्ध करने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत के उद्योग और हिन्दी के धन्धे के योग से उद्योग्र –धन्धे बना है जिसका अर्थ है व्यापार आदि के लिए कच्चे माल से लोक–व्यवहार के लिए पक्के माल या सामान बनाना अथवा ऐसे सामान बनाने वाले करखाने। ऑग्लभाषा में उद्योग का समानार्थक शब्द है 'इण्डस्ट्री (Industry)। इसका अर्थ हैं लोक व्यवहार में व्यापार विशेष के लिए उत्पादन (Manufacturing in general, specif that concerned with a particular buisiness) इस प्रकार उद्योग का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ दोनों भाषाओं – संस्कृत एवं ऑग्ल में समान है। *प्राचीन काल की तुलना में शिल्प और उद्योग का स्वरूप आधुनिक काल में काफी बदल गया है। प्राचीन काल में शिल्प के ही अन्तर्गत वे सभी निर्माण कार्य भी आते थे जिन्हें उद्योग के अन्तर्गत आज रखा जा सकता है। आधुनिक काल में शिल्प और उद्योग में मूल अन्तर यह है कि शिल्प में उद्योग की तुलना में पूँजी कम लगती है। पूँजी की तुलना श्रम पर विशेष से बल दिया जाता है, अधिकांश उत्पादन घरेलू स्तर पर किया जाता है और कच्चा माल स्थानीय रूप से प्राप्त किया जाता है तथा उत्पादन स्थानीय बाजार में बेचा जाता है।* प्राचीन साहित्य में शिल्प एवं उद्योग को पृथक्–पृथक् परिभाषित नहीं किया गया है और न ही उनकी पृथक्–पृथक् सीमाएं निर्धारित की गयी हैं।

उद्योग और औद्योगीकरण वस्तुतः आधुनिक काल की देन है और इसकी शुरूआत अठारहवीं शताब्दी ई0 में इंग्लैण्ड में हुई। अतः उद्योग का जो आज स्वरूप है, प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में क्या समूचे प्राचीन भारत और मध्यकालीन भारत में वह स्वरूप नहीं था। भारत में आधुनिक रूवरूप में उद्योगों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। जहाँ तक शिल्प की बात है भारतीय शिल्प ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से काफी पूर्व यानि हड़प्पा सभ्यता के काल से हीं अत्यन्त समृद्ध रहा है तथा यह दीर्घकाल तक फूलता–फलता रहा। भारतीय शिल्प को झटका तब लगा जब

औपनिवेशिक काल में इसे ब्रिटेन के हित में बाधक समझकर तोड़ने का प्रयास किया गया।

प्राचीन भारतीय साहित्य में शिल्प की जो परिधि बतलायी गयी है उसके बाहर शायद ही कोई विनिर्माण कार्य आता हो। अतः अपने अध्ययन की सरलता के लिए हम अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर होने वाले विनिर्माण कार्य को उद्योग की श्रेणी में रख सकते हैं शेष को शिल्प की श्रेणी में। उदाहरणार्थ प्राचीन भारत में ईंट तैयार करने में अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर श्रमिक कार्य करते थे। अतः ईट निर्माण को उस काल के उद्योग की श्रेणी में रखना अनुचित नहीं होगा। प्राचीनकाल प्राक्–मशीन काल था। इसलिए शिल्प एवं उद्योग पूरी तरह शारीरिक श्रम पर आधारित थे।

आधुनिक काल में वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप मशीनीकरण सम्भव हुआ और मशीनों के अविष्कार ने उद्योगों की परिभाषा ही बदल दी। आधुनिक काल में कच्चे माल को मशीनों की सहायता से निर्मित वस्तुओं में बदलने की क्रिया को विनिर्माण उद्योग कहते है। विनिर्माण उद्योग में वस्तुओं का स्वरूप बदलकर उन्हें अधिक उपयोगी बनाया जाता है। उदाहरणार्थ लौह अयस्क से लौह इस्पात अथवा कपास से वस्त्र बनाने पर कच्चे माल का स्वरूप बदल जाता है और वह अधिक उपयोगी हो जाता है। उद्योग का एक सिद्धान्त यह भी है कि किसी वस्तु का स्वरूप जितना, अधिक परिवर्तित होगा उसका मूल्य एवं उपयोगिता भी उतनी ही अधिक होगी। जैसे लौह अयस्क से लौह इस्पात अधिक मूल्यवान होता है परन्तु जब लौह इस्पात से मशीनें बनायी जाती है तो उसका मूल्य एवं उपयोगिता और बढ़ जाती है।

उद्योग को आधुनिक स्वरूप प्राप्त करने में लम्बा समय लगा है। आदि मानव ने जब पत्थरों से औजार बनाना सीखा तो वह उद्योग के इतिहास का शायद पहला चरण था। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उद्योग हस्तकारों या शिल्पकारों पर आधारित था जो लकड़ी, लोहा आदि से छोटी–छोटी वस्तुएं बनाते थे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई। इससे हाथ की अपेक्षा मशीनों द्वारा काम लिया जाने लगा और उत्पादन घरेलू पद्धति के स्थान पर कारखाना पद्धति से

होने लगा। उद्योगों के लिए कच्चे माल की प्राप्ति और निर्मित वस्तुओं की बिक्री ने उपनिवेशवाद को बढ़ावा दिया। उल्लेखनीय है कि भारत में औद्योगीकरण की शुरूआत औपनिवेशक काल में ही हुई।

आज का उद्योग पहले के उद्योग की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया है और आधुनिक औद्योगिक उत्पादों में अत्यधिक विविधता एवं उत्कृष्टता आ गयी है। आकार के आधार पर उद्योगों के सीमांकन के लिए भिन्न–भिन्न कसौटियाँ अपनायी जाती है। जैसे :

1. विनियुक्त पूँजी की मात्रा　　2. श्रमिकों की संख्या
3. संगठन एवं प्रबन्धन का स्वरूप　　4. वार्षिक उत्पादन का मूल्य

प्राचीन समय में भारत वर्ष अपने लघु एवं कुटीर उद्योगों के माध्यम से निर्मित माल के लिए विश्वविख्यात था। यह भी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रतीक था। लेकिन समय के काल–चक्र से यह भी न बच सका और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पूर्णतया नष्ट हो गया। अतीत के अवशेष अब भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। स्वतंत्रता मिलने के बाद पुनः इन उद्योगों को नया जीवन प्रदान करने की बात सोची गई।

प्राचीन काल के शिल्प एवं उद्योगों के स्वरूप का अनुमान लगाने के लिए वर्तमान काल के कुटीर उद्योगों एवं लघु उद्योगों के स्वरूप और मानदण्डों पर भी विचार करना पड़ेगा। लघु उद्योग, 'कुटीर अथवा गृह उद्योग', 'ग्रामोद्योग' आदि शब्दों के अर्थों को बहुत से विद्वानों ने बतलाने के महत्वपूर्ण प्रयास किये, लेकिन अभी वास्तविक रूप से इनके अर्थ निश्चित नहीं हो सके है। साधारण तौर पर इन उद्योगों को बृहत् उद्योगों के विपरीत अर्थ में समझा जाता है। बृहत् उद्योगों में श्रम की अपेक्षा अधिक मात्रा में पूँजी विनियोजित कर बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाता है। इसलिए बड़े उद्योगों को पूँजी प्रधान उद्योग कहा जाता है जबकि इसके विपरीत छोटे या लघु पैमाने के उद्योग में छोटे पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। 1949–50 ई0 के तटकर आयोग के अनुसार – "कुटीर उद्योग धन्धे वे है जो अशंतः परिवार के सदस्यों की ही सहायता द्वारा आंशिक, पूर्णकालिक कार्य के रूप में किये

जाते है।"[40] इस प्रकार कुटीर अथवा गृह उद्योग अधिकतर कारीगरों के घरों में तथा उनके परिवारिक श्रम द्वारा बिना साधारण यंत्रों के शक्ति या कमशक्ति द्वारा परिचालित होते हैं।

साधारणता लघु एवं कुटीर उद्योग एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते है, परन्तु हमारे देश की परिस्थितियों के अनुसार इन दोनों के बीच कुछ भेद किया जाता है। अतएव कुटीर अथवा गृह उद्योग उन उद्योगों को कहा जाता है –

अः जो मुख्य रूप से घरों में व्यक्तिगत आधार पर निजी साधनों एवं परिवार के सदस्यों की सहायता से पूर्णकालिक अथवा अंशकालिक व्यवसाय के रूप में चलाये जाते है;

बः जिनमें अल्प निवेश सामान्य–सामान के साथ किया जाता है;

सः जिनमें प्रायः स्थानीय बाजारों में बिक्री के लिए सरल माल तैयार होता है।

दूसरी तरफ उद्योग का अभिप्राय उन उद्योगों से है –

अ– जहाँ हस्त–प्रक्रियाओं की प्रधानता न रह करके शक्ति चालित मशीनों की प्रायः प्रधानता रहती है।

ब– जिनमें मजदूरी और वेतन पर पर्याप्त व्यक्ति लगाये जाते है।

स– जो व्यापक बाजार की माँग की पूर्ति करते हैं।

द– जो साधारणतया स्थायी रूप से पूर्णकालिक चलाये जाते हैं। यदि सही अर्थ में देखा जाय तो हम पाते है कि लद्यु उद्योग, बृहद उद्योग से सिर्फ पूंजी निवेश के आकार एवं उत्पादन के पैमाने से भिन्न होते है।

लद्यु एवं कुटीर उद्योग, गाँवों एवं शहरों, दोनों में चलाये जाते हैं। गाँवों में चलायें जाने वाले उद्योग को ग्रामोद्योग कहते हैं और शहरों में चलाये जाने वाले उद्योगों को शहरी उद्योग कहते हैं। प्रायः कुटीर उद्योगों का सम्बन्ध गाँवों से ही होता है। ये कृषि पर सहायक एवं ग्रामीण कौशल से सम्बन्धित होते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि आरम्भिक ऐतिहासिक काल में प्रचलित अधिकांश शिल्प एवं उद्योग आज की शब्दावली में कुटीर उद्योग ही थे हालांकि वर्तमान कुटीर उद्योगों में भी मशीनीकरण प्रायः देखा जा सकता है जबकि प्राचीनकाल

प्राक्मशीनकाल होने के कारण तत्कालीन उद्योगों में मशीन के विपरीत श्रम की प्रधानता थी।

लेकिन इनमें से कोई भी एक घटक अपने आप में निर्धारित कसौटी नहीं हो सकता क्योंकि कुछ समय के बाद परिवर्तन हो जाता है। मोटे तौर पर आकार के आधार पर उद्योगों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

1. कुटीर उद्योग (Cottage Industry)
2. लघु उद्योग (Small Scale Industry)
3. बड़े उद्योग (Large Scale Industry)

किन्तु प्राचीन काल में शिल्प तथा उद्योग के सन्दर्भ में इस प्रकार का वर्गीकरण सम्भव नहीं था। आज के विशाल उद्योगों तथा कम्प्यूटर और रिमोट विधि से संचालित उद्योगों का नामोनिशान नहीं था। ऐसे में उस युग में प्रचलित छोटे उद्योगों को शिल्प तथा अपेक्षाकृत बड़े शिल्प को उद्योग कहना अनुचित नहीं होगा। अध्ययन की सुविधा के लिए अधीतकाल के शिल्प एवं उद्योगों को कच्चे माल के आधार पर वर्गीकृत किया गया है जैसे धातु पर आधारित उद्योग, मिट्टी पर आधारित शिल्प उद्योग, प्रस्तर पर आधारित शिल्प एवं उद्योग तथा चर्म पर आधारित उद्योग आदि। धातु पर आधारित शिल्प को पुनः लौह, ताम्र, कांस्य, टिन तथा सोने, चाँदी, रत्नों और उपरत्नों पर आधारित शिल्प के रूप में बाँटा गया है।

सन्दर्भ

1. इंडिया ए रिजनल ज्योग्राफी–सं0 आर0 एल0 सिंह पृ0 1।
2. भारत का भूगोल–चतुभुर्ज ममोरिया एवं एम0 एस0 जैन पृ0 2।
3. विष्णु पुराण–द्वितीय अंश अध्याय अ पृ0 143 गीता प्रेस गोरखपुर सं0 2033।
4. वही
5. इंडिया ए रिजनल ज्योग्राफी–सं0 आर0 एल0 सिंह पृ0 1।
6. वहीं–पृ0 6
7. प्राचीन भारत का इतिहास – डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली पृ0 118।
8. भारतीय इतिहास कोश – 305 लखनऊ 1989।
9. भारतीय इतिहास कोश – 305 लखनऊ 1989।

10. भारत का भूगोल – जे0 पी0 मिश्र पृ0 399 इलाहाबाद 1988।

11. भारत का भूगोल – जे0 पी0 मिश्र पृ0 399 – 400।

12. भारत का भूगोल – जे0 पी0 मिश्र पृ0 400।

13. भारत का भूगोल – जे0 पी0 मिश्र पृ0 417।

14. शतपथ ब्राह्मण–अनु0 गंगाप्रसाद उपाध्याय, गोविन्दराम हासानंद नई दिल्ली 1988 ई0।

15. अथर्ववेद शौनकीय सं0–विश्व बंधु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियापुर 1962 ई0।

16. मनुस्मृति 2–22 पृ0 118

17. पंतजलि–महाभाष्य–2–4–10 कः पुनरार्यावर्तः? प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालक वनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तेरेण परियात्रम्।

18. वही 6.3.109।

19. वही 2.4.10।

20. वही 5.4.8।

21. अष्टाध्यायी 4.2.109 महाभाष्य 4.2.104 और 1107

22. द शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी –आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1973 वाल्यूम 2 पृ0 1654।

23. भारत का प्राचीन इतिहास–एन0 एन0 घोष, इलाहाबाद 1984।

24. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 195।

25. प्राचीन का इतिहास–डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली

6. मानक हिन्दी कोश–राम चन्द्र वर्मा पंचम खण्ड पृ0 173।

7. न्यू वेब्सटर्स डिक्शनरी ऑफ दि इंगलिश लैंगुएजज पृ0 पृ0 235।

8. मैत्राणयी संहिता 1.2.2।

9. कौशीतकि ब्राह्मण 29.5।

0. इंडिया एज नोन टु पाणिनि–डॉ0 वी0 एस0 अग्रवाल पृ0 229।

1. व्याकरण–महाभाष्य 3.1.145, 146, 147 तथा 4.445, 46 के0 वी0 अभ्यकर भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना 1965 ई0।

2. व्याकरण–महाभाष्य 3.2.55।

3. वही 4.4.45।

4. वही 3.1.145।

5. वही 6.2.76।

36. वही 6.2.62।

37. वाल्मीकि रामायण 175.10 उषितां सर्वे शिल्पिभिः

38. महाभारत 3.2.55।

39. मानक हिन्दी कोश–रामचन्द्र वर्मा जिल्द 1 पृ0 35।

40. भारतीय अर्थव्यवस्था–जगदीश नारायण मिश्र–पृ0 466, किताब महल, इलाहाबाद, 2001।

अध्याय – 2

राजनीतिक एंव सामाजिक स्थिति

ऋग्वेद के अन्तः साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय युद्धों, आक्रमणों एवं जनसंघर्ष की घटनाएं सामान्य थीं। ऋग्वेदकालीन आर्य एवं आर्येतर जनों में परस्पर युद्धों के अनेक उदाहरण ऋग्वेद संहिता में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। दाशराज्ञ युद्ध इसका एक प्रमुख उदाहरण है।[1] इस प्रकार की युद्धरतता से निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि वे लोग कोई स्थायी जीवन यापन नहीं कर रहे थे। सम्भवतः यही कारण था कि उनके भौतिक जीवन में कृषि की तुलना में पशुचरण का विशेष महत्व था। अस्थायी जीवन यापन का प्रभाव शिल्प एवं उद्योग पर पड़ना स्वाभाविक था। ऋग्वेद में बढ़ई, रथकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्हार आदि शिल्पियों का उल्लेख मिलता है। ताँबे या काँसे के अर्थ में 'अयस्' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि उन्हें धातुकर्म की भी जानकारी थी। लेकिन घुमन्तू जीवन एवं पशुचारण अर्थव्यवस्था के कारण शिल्प एवं उद्योगों में उत्कृष्टता नहीं आ सकी थी।

उत्तर वैदिक काल में लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जीवन के सभी पहलुओं में एक निश्चित दिशा में परिवर्तन हुए। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में एक ऐसे ढ़ाँचे का विकास हुआ जो छोटे–मोटे परिवर्तनों के साथ सदियों तक चलता रहा । इस काल की प्रमुख विशेषताएं थी – क्षेत्रगत राज्यों अर्थात् जनपदों का उदय, वर्णव्यवस्था का जन्म और कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था।[2]

उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेदकालीन अनेक छोटे–बड़े जनों ने एक दूसरे में विलीन होकर अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रगत जनपदों को जन्म दिया। जैसे पुरु और भरत के मिलने से कुरु तथा क्रिवि और तुर्वश के मिलने से पांचाल जनपद बने। इनके अलावा अन्य कई जपनद भी इस काल में अस्तित्व में आये लेकिन इनमें सर्वाधिक प्रतिष्ठा कुरु और पंचाल को ही मिला। अपेक्षाकृत बड़े राज्यों की स्थापना से जहाँ क्षेत्रीयता का विकास हुआ वहीं कृषि के अधिकाधिक प्रसार के लोगों के जीवन में

स्थायित्व आया। शतपथ ब्राह्मण[3] में कृषि की चारों क्रियाओं – जुताई, बुवाई, कटाई, मड़ाई (कृषन्त, वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः) तैत्तरीय संहिता[4] में 6 या 12 बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल और वाजसनेयी संहिता[5] में कई प्रकार के धन्यों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस काल में कृषि का व्यापक प्रसार हो रहा था। कृषि के अधिकाधिक प्रसार से लोगों के जीवन में समृद्धि आयी। लोहे का प्रयोग सम्भवतः पहली बार कृषि में इसी काल में होने लगा और लौह तकनीक आधारित कृषि प्रणाली से अधिशेष उत्पादन होने लगा। अधिशेष उत्पादन से वाणिज्य–व्यापार एवं शिल्प तथा उद्योगों को बढ़ावा मिला।

वाजसनेयी संहिता से उत्तर वैदिक काल में प्रचलित विविध प्रकार के शिल्प एवं उद्योगों के विषय में जानकारी मिलती है।[6] जैसे धातुशोधक, रथकार, बढ़ई, चर्मकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, मणिकार आदि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त टोकरी बनाना, सुरा बनाना, रस्सी बनाना, कपड़ों को रँगना, धनुष बनाना आदि। इनमें से कई का उल्लेख ऋग्वेद में ही मिलने लगता है।[7] यजुर्वेद में हिरण्य, अयस् (कृष्ण अयस् एवं लौह अयस्) सीसा, त्रपु (राँगा) आदि धातुओं का उल्लेख हुआ है।[8] उत्तर वैदिक काल में धातुओं के बढ़ते प्रयोग से सभ्यता की उन्नति सूचित होती है।[9]

छठी शताब्दी ई0 पू0 के प्रारम्भ में उत्तर भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व दिखायी पड़ता है। ये राज्य उत्तर वैदिककालीन राज्यों की तुलना में अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली थे। लेकिन कोई भी राज्य सम्पूर्ण देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोने में समर्थ नहीं था। अंगुत्तर निकाय जैसे प्राचीनतम पालि ग्रंथों में 16 महाजनपदों की सूची मिलत0ी है। जैन ग्रथ भगवती सूत्र में भी 16 महाजनपदों का उल्लेख है लेकिन इन दोनों सूचियों के नामों में एकरूपता नहीं है। अंगुत्तर निकाय में वर्णित 16 महाजनपदों थे – अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, पंचाल, मत्स्य, सूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गंधार और कम्बोज[10]। रीज़ डेविड्स पहला विद्वान था जिसने बुद्ध तथा बिम्बिसार के समकालीन गणराज्यों तथा राजतंत्रों पर प्रकाश डाला है। इनमें उत्तरी बिहार के वज्जि, कुसीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल अपेक्षाकृत अधिक बड़े संघ राज्य थे।

छोटे गणतंत्रों में कपिलवस्तु के शाक्य, देवदह और रामगाम के कोलिय, सुमसुमार गिरि के भग्ग, अल्लकप्प के बुलि, केसपुत्त के कालाम, मिथिला के विदेह और पिप्पलिवन के मोरिय गणराज्य सम्मिलित किये जाते है।[11] इन राजतन्त्रात्मक एवं संघात्मक राज्यों में सीमा विस्तार एवं कुछ अन्य कारणों से टकराव के फलस्वरूप छठी शती ई0 पू0 के उत्तरार्द्ध अर्थात् बुद्धकाल में 4 बड़े राज्यों की स्थापना हुई – कोसल, मगध, वत्स तथा अवन्ति।

कालान्तर में बिम्बिसार के नेतृत्व में मगध साम्राज्य की स्थापना हुई और धीरे–धीरे उत्तर भारत का इतिहास मगध का इतिहास बन गया क्योंकि राजनीतिक एकीकरण के परिणामस्वरूप कोशल, वत्स और अवन्ति भी मगध में निमज्जित हो गयें। राजनीतिक एकीकरण से आर्थिक क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। व्यापारियों, व्यवसायियों को अधिक सुरक्षा एवं शान्ति का वातारण मिलने से शिल्प एवं उद्योगों की भी प्रगति हुई। लोहे के व्यापक प्रयोग, तथा सिक्कों के प्रचलन से भी औधोगिक एवं व्यापारिक गतिविधियों को गतिशीलता मिली।

बौद्ध साहित्य में विभिन्न प्रकार के उद्योग–धन्धों के बारे में जानकारी मिलती है। जैसे कुम्हार, रथकार, सुनार, धातुकार, बढ़ई, हाथीदाँत का काम करने वाले तथा रेशम का काम करने वाले। कारीगर प्रायः श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक श्रेणी का एक मुखिया होता था जिसे जेट्ठक कहते थे। कभी सेट्ठी या श्रेष्ठी भी श्रेणी का मुखिया होता था। श्रेष्ठि कई बार महाजन का काम करते थे। बहुधा व्यापारिक श्रेणियों के भी मुखिया होते थें। प्रायः सभी राजा श्रेष्ठियों को बहुत आदर एवं सम्मान देते थे।[12] अधिकतर व्यापारी तथा शिल्पकार स्वाभाविक रूप से नगरों में ही रहते थे। उल्लेखनीय है कि गंगा घाटी में बढ़ते नगरीकरण के पीछे शिल्पियों एवं व्यापारियों का हाथ था। चम्पा, राजगृह, पाटिलपुत्र, वाराणसी, कुशीनगर, श्रावस्ती, कौशाम्बी, उज्जयिनी आदि नगरों का विकास इसी काल में हुआ।

जिस समय मगध के नेतृत्व में उत्तरी एवं पूर्वी भारत में राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया चल रही थी, लगभग उसी समय पश्चिमोत्तर भारत तरह–तरह की मुसीबतों का सामना कर रहा था। छठी शताब्दी ई0 पू0 के प्रथमार्द्ध

में भारत के अन्य भागों की तरह देश का पश्चिमोत्तर भाग अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित था। इनमें कम्बोज, मद्र और गान्धार अपेक्षाकृत बड़े थे। यह पूरा क्षेत्र धनी किन्तु असंगठित था। इस कारण यह फारस (ईरान) में उदय हो रहे शाहों के आक्रमण का शिकार हो गया।[13] फारसियों के इस आक्रमण से गन्धार और सिन्धु घाटी क्षेत्र ईरान के कब्जे में चला गया और इस क्षेत्र पर पारसीक सत्ता तब तक बनी रही जब तक कि आरबेला के युद्ध में दारा तृतीय को पराजित करके सिकन्दर ने स्वयं कब्जा नहीं कर लिया।

पारसीकों की सिंध विजय के बाद विकसित राजनीतिक सम्पर्क से भारत ईरान के बीच वाणिज्य–व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा मिला। पारसीक लिपि का भारत में प्रवेश हुआ जिससे कालान्तर में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ। इस आक्रमण का भारतीय शिल्प एवं उद्योग पर क्या प्रभाव पड़ा, निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन इतिहासकारों के एक वर्ग की यह मान्यता है कि कम से कम वास्तुशिल्प एवं मुद्रा निर्माण पर तो इसका प्रभाव पड़ा ही। उदाहरणार्थ पाटलिपुत्र में अशोक का स्तम्भ युक्त भवन, शिलाओं और स्तम्भों पर उसके अभिलेख और स्तम्भ–शीर्ष पर घंटाकृति तथा लेखरहित ढली हुई मुद्राएं।[14]

तेजी से बदलते राजनीतिक घटनाओं में मगध की सत्ता नन्दों के हाथ में आयी और उसका सर्वाधिक प्रभावशाली शासक महापद्म एक विशाल साम्राज्य स्थापित करके 'एकराट' 'सर्वक्षत्रान्तक' और 'द्वितीय भार्गव' कहलाया[15] : –

"महानन्दी सुतश्चापिशूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पस्यते महापद्मों सर्वक्षत्रान्तकों नृपः।।
एकराट् स महापद्म एकछत्रों भविष्यति।
//////////
स एक छत्रं पृथ्वी अनुलंघितशासनः।
स्थास्यति महापद्मों द्वितीय इव भार्गवः।।

उसका साम्राज्य उतना बड़ा था जितना कि चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्व किसी अन्य शासक ने कभी स्थापित नहीं किया था। जिस समय सत्ता घननन्द के हाथ में आयी पश्मोत्तर भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण किया।

पश्चिमोत्तर की राजनीतिक स्थिति उस समय भी लगभग वैसी ही थी जैसी पारसीक आक्रमण के समय थी। सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर में उस क्षेत्र पर तो अधिकार कर ही लिया जो पारसीकों के आधिपत्य में था, इसके आगे बढ़ता हुआ वह व्यास नदी तक पहुँच गया । यद्यपि सिकन्दर को भारत की ओर से प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा लेकिन फिर भी वह एक बड़े भाग पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल रहा।

सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रत्यक्ष प्रभाव नगण्य ही है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उसने पश्चिमोत्तर की छोटी–बड़ी शक्तियों को तोड़कर चन्द्रगुप्त के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसके आक्रमण का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा। उसके द्वारा पश्चिम में स्थापित यवन बस्तियों के माध्यम से भारत का पश्चिम से सम्पर्क और मजबूत हुआ। इण्डो–ग्रीक शासन की स्थापना सिकन्दर के आक्रमण का दूरगामी परिणाम था। इण्डो–ग्रीक शासकों के काल में भारतीय संस्कृति के अन्य पक्षों के अलावा शिल्प एवं उद्योग पर भी यूनानी प्रभाव पड़ा। इनमें गांधार मूर्तिकला और लेखयुक्त मुद्राओं के निर्माण पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। उसने पश्चिमोत्तर से न केवल यूनानियों को खदेड़ा अपितु यूनानी सेनापति सेल्यूकस 'निकेटर' से एरिया (हेरात), पेरोपेनिसाडाई (काबुल), अराकोशिया (कन्धार) और जेड्रोशिया (बलूचिस्तान) क्षत्रपियों के कुछ भाग भी छीन लिया।[16] इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की । उसके पौत्र अशोक ने कलिंग विजय करके इसे और अधिक विस्तार दिया। इस साम्राज्य में बलूचिस्तान से लेकर बंगाल तक और एरिया से लेकर चन्द्रगिरि (कर्नाटक) तक का भूभाग शामिल था। मौर्य साम्राज्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिए शासन प्रणाली तैयार की गयी

जिसके चलते मौर्यों के नेतृत्व में लम्बे समय तक राजनीति एकता एवं शान्ति बनी रही। इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ना स्वाभाविक था। अतः शिल्प एवं उद्योग इसके अपवाद नहीं हो सकते। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज की 'इण्डिका' में तत्कालीन शिल्प एवं उद्योग के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि राज्य स्वयं अनेक उद्योगों का नियंत्रण करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य व्यापार, उद्योग और खान का नियन्त्रण तो करता ही है; राजकीय प्रक्षेत्रों (फार्मों) का अध्यक्ष दासों और कर्मकारों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए लोहारों, बढ़इयों और मिट्टी खोदनें वालों से भी काम लेता है।[17] अर्थशास्त्र में आकराध्यक्ष, लोहाध्यक्ष और कुप्याध्यक्ष जैसे बड़े अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। आकराध्यक्ष का काम खनिज विज्ञान विशारदों और खनकों तथा आवश्यक यन्त्रों की सहायता से राज्य भर की खानों को देखना और उसमें कार्य कराना था। लोहाध्यक्ष ताँबा, सीसा, राँगा, वैकृन्तक (पारा), पीतल, कांसा और ताल आदि उत्पादन और उनमें पैदा होने वाली चीजों की देख–रेख करता था।[18] कुप्याध्यक्ष जंगलों की देखभाल और उनकी सुरक्षा करता था और सब प्रकार की काठ की ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था करता था जो जीवन और दुर्ग रक्षा के निमित्त आवश्यक थी। इससे सम्बद्ध एक बहुत महत्वपूर्ण उद्योग पोत निर्माण का था जो कि बहुत बड़े पैमाने पर होता था।[19] **इससे ज्ञात होता है कि मौर्य काल में राज्य का अनेक उद्योगों पर एकाधिकार था। आधुनिक शब्दावली में खानों, शस्त्रों, जंगलों, नमक तथा अन्य उद्योगों का राष्ट्रीकरण था।** इसके अतिरिक्त राज्य के न केवल कपड़े, तेल और चीनी के अपने कारखाने और मिलें थीं वरन उसका निजी व्यापार और उद्योग पर भी बहुत अंशों तक नियंत्रण था।[20]

लोगों की बढ़ती हुई विलासिता के फलस्वरूप भी अनेक उद्योगों का विकास हुआ। जौहरियों, हक्कारों और सीसा बनाने वालों की कला ई0 पू0 तीसरी शताब्दी से भी बहुत पहले उच्च स्तर तक पहुँच चुकी थी। अर्थशास्त्र में सोना, चांदी, हाथी दाँत और नाना प्रकार की मणियों एवं कीमती वस्तुओं के कामों का उल्लेख मिलता है। नाना प्रकार के सुगन्ध, रूई, ऊन और रेशम के बारीक कपड़े, वस्त्र कम्बल,

चमड़े तथा सभी प्रकार के पेय व्यापक पैमाने पर तैयार किए जाते थे। राजाओं, व्यापारियों और धनिकों द्वार प्रासादों तथा अन्य प्रकार के भवनों के निर्माण कराये जाने के कारण राजगीरी, चित्रकारी और संगतराशी को भी बहुत महत्व मिला।[21]

विभिन्न उद्योगों एवं शिल्पों द्वारा तैयार माल देश–विदेश में बेचे जाते थे। चोर–लुटेरों से रक्षा के लिए किराए पर स्वेच्छा से प्राप्त होने वाले रक्षकों की नियुक्ति की भी चर्चा मिलती है। स्वयं शिल्पी एवं व्यवसायी भी अपने सुरक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के संगठनों में आबद्ध थे।[22]

मौर्य सत्ता की बागडोर निर्बल शासकों के हाथ में आते ही पश्चिमोत्तर के एक बड़े भाग पर इण्डोग्रीक शासकों ने कब्जा कर लिया और पूर्व की ओर पाटिलपुत्र तक पहुँच गए । पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार यवनों ने साकेत पर आक्रमण किया, यवनों ने माध्यमिका पर आक्रमण किया[23] –

अरुणद् यवनः साकेतम् । अरुणद् यवनः माध्यमिकाम् ।

गार्गी संहिता के अनुसार दुष्ट विक्रान्त यवनों ने साकेत, पांचाल तथा मथुरा को जीता और पाटिलपुत्र तक पहुँच गए[24] –

ततः साकेतमाक्रम्य पांचालान्मथुरान्स्तथा
यवना दुष्ट विक्रान्ता प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
आकुला विषया सर्वे भविष्यन्ति न संशयः।।

यवनों के इस प्रकार के बढ़ते दबाब के समय ही 185 ई0 पू0 में अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या उसके ही सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा कर दी गयी।[25]

प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शन व्यपदेश दर्शिताशेष सैन्य
सेनानीरनार्यो मौर्य बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

उसने यद्यपि यवनों के पूर्वी प्रसार को विफल कर दिया लेकिन फिर भी यवनों ने तक्षशिला और शाकल को केन्द्र बनाकर लगभग 200 वर्षों तक पश्चिमोत्तर में राज्य किया। यवनों के बाद शकों, पार्थियनों और कुषाणें ने भारतीय भू–भाग को न केवल पद–दलित किया अपितु अपनी–अपनी सत्ता भी स्थापित की। इन सभी

आक्रान्ताओं में कुषाण शासक कनिष्क प्रथम का भारतीय इतिहास में विशेष महत्व है। यद्यपि उसके शासनकाल को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है फिर भी अधिकतर इतिहासकार उसे शक सम्वत् का प्रवर्तक मानते हुए उसका शासनकाल 78 ई0 से 105 ई0 के बीच रखते हैं। मौर्यों के बाद कनिष्क ने देश के एक बड़े भाग को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा और मध्य एशिया में काशगर, यारकन्द, खोतान तथा अफगानिस्तान, बैक्ट्रिया, पार्थिया और सिंध से लेकर मगध तक के भू–भाग पर राज्य किया।

कनिष्क के शासनकाल में कुषाण साम्राज्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति थी। उस समय उसके पूर्व में चीन का 'स्वर्गिक साम्राज्य' था। इसके पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य था और पार्थियन साम्राज्य से रोमन साम्राज्य की शत्रुता थी। रोमन एक ऐसा मार्ग चाहते थे जहाँ से रोम और चीन के बीच व्यापार शत्रु देश पार्थिया से गुजरे बिना हो सके। इसलिए वे कुषाण साम्राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने के इच्छुक थे। महान् सिल्क मार्ग पर कुषाण साम्राज्य का नियंत्रण था। परिणामस्वरूप कुषाणों के समय में पश्चिमोत्तर भारत उस समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। इससे शिल्प एवं उद्योगों को बढ़ावा मिला। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी पता चलता है कि कुषाणकालीन भारत अत्यन्त समृद्ध था।[26]

जिस समय यवन, पार्थियन, शक और कुषाण भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा को ध्वस्त कर रहे थे, दकन में आन्ध्र वंशी शासक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने में लगे थे।[27] पुराणों में इन्हें आन्ध्रभृत्य और अभिलेखों में सातवाहन कहा गया है।[28] सातवाहन शासकों को साम्राज्य विस्तार के लिए नासिक और उज्जैन के शक क्षत्रपों से संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष के बावजूद सातवाहन काल में वाणिज्य व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग का तीव्र गति से विकास होता रहा।

मौर्योत्तर काल की इस प्रकार की राजनीतिक स्थिति में जबकि भारत के बड़े भू–भाग पर सातवाहन, शक और कुषाण लगभग समानान्तर शासन कर रहे थे, देश का निरन्तर आर्थिक विकास हुआ । उपलब्ध साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के

अलावा 'पेरिप्लस ऑव एरीथ्रियन सी' के अज्ञातनामा लेखक एवं प्लिनी जैसे विदेशी लेखकों के विवरण से भी तत्कालीन भारतीय वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग के विषय में जानकारी मिलती है। ई0 पू0 दूसरी शताब्दी के महावस्तु नामक एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार राजगृह में लगभग 60 विभिन्न प्रकार के शिल्पी रहते थे। मिलिन्दपन्हों में जिन 75 विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख हैं उनमें से 60 विभिन्न प्रकार के शिल्पों से संबंन्धित थे। मिलिपन्दपन्हों में सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा, पीतल, लोहा आदि धातुओं से निर्मित किये जाने वाले उत्पादों का उल्लेख मिलता है। चीनी रेशम के आयात से देश में रेशम उद्योग को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार मौर्योत्तर काल में उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिला।[29]

सामाजिक स्थितिः

राजनीति के साथ–साथ बदलती हुई सामाजिक स्थिति से भी शिल्प एवं उद्योग को विकसित होने के लिए अनुकूल वातावरण मिला। ऋग्वैदिक समाज अपेक्षाकृत सरल था। सामाजिक स्तर पर उच्च और निम्न का भेद कम से कम ऋग्वैदिक समाज में नहीं थ। ऋग्वेद के एक परवर्ती मण्डल–दशम् मण्डल के पुरूष सूक्त में पहली बार चार वर्णों का उल्लेख मिलता है जिसमें उन्हें विराट पुरूष के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध किया गया है:

जब देवताओं ने मनुष्य को अपना शिकार बनाकर बलि दी

जब उन्होंने मनुष्य का विभाजन किया, तो उसको कितने भागों में बांटा?

उसके मुँह, उसकी भुजाओं, उसकी जाँघों और उसके पैरों को किस नाम से पुकारा गया? उसका मुख ब्राह्मण बना, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय बने; उसकी जाँघे वैश्य बनीं; और उसके पैरों से शूद्र का जन्म हुआ।[30]

इन चारों वर्णों को किसी भी प्रकार के शिल्प, उद्योग अथवा व्यवसाय चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद के एक मंत्र से ही पता चलता है कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य कवि, भिषक् और पाठक (पिसाई करने वाले) का काम करते थे।[31] इससे प्रतीत होता है कि उस समय कोई सामाजिक भेदभाव उत्पन्न नहीं हुआ था जैसे कि परवर्ती काल में दिखलायी पड़ता है। आर्य समुदाय के

सदस्य कोई भी शिल्प एवं व्यवसाय अपना सकते थे उन्हे किसी तरह हीन नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद की एक परवर्ती ऋचा में बर्द्धकि (बढ़ई) का वर्णन इस रूप में किया गया है कि सामान्यतः अपना काम वह तब तक झुककर करता था जब तक उसकी कमर टूटने न लग जाए।[32] इससे आभास मिलता है कि उसका कार्य कठिन था; परन्तु इससे हमारे मन में उसके प्रति घृणा के भाव नहीं जागते हैं।[33] ऋग्वैदिक समाज के सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि बढ़ई नीची जाति के थे या उनका अपना पृथक् वर्ग था। कर्मकार , बढ़ई, चर्मकार, जुलाहे और अन्य शिल्पकारों एवं व्यवसायियों को ऋग्वेद में सम्मानजनक माना जाता था।

उत्तरवैदिक काल में जाति कही जाने वाली अनोखी सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ लेकिन आरम्भिक उत्तर वैदिक काल में वर्ग और जातिगत जटिलता नहीं दिखलायी पड़ती। वर्णों की उच्चता का मानदण्ड आचरण को बनाया गया था। अथर्ववेद के एक उद्धरण के अनुसार उस समय तक व्यवसाय चयन की स्वतंत्रता थी; उस पर जाति बन्धन का प्रभाव नहीं था। इस उद्धरण में कहा गया है, 'मैं न दास को जानता हूँ और न ही आर्य को। मैं आचरण से महत्व की जाँच करता हूँ।[34] "ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कवष ऐलूष एक अब्राह्मण होते हुये भी अपने गुण–कर्म के आधार पर ऋषि बन गये थे।[35] बृहदारण्यक उपनिषद् में चाण्डाल को भी श्रेष्ठ माना गया है यदि वह शीलवान हो। लेकिन इस काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय अनुत्पादक होते हुए भी विशेषाधिकार सम्पन्न थे क्योंकि वे ही उत्पादन के नियन्त्रणकर्ता हो गए। वैश्य एवं शूद्र उत्पादन के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होकर भी विशेषाधिकार से वंचित थे।[36] इस तरह शारीरिक श्रम पर आधारित कार्य–कृषि, पशुपालन, वाणिज्य–व्यापार, शिल्प एवं उद्योग आदि वैश्य और शूद्रों तक सीमित हो गए। राजा का इन उत्पादक वर्गों पर नियंत्रण बढ़ता गया। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को विशमत्ता अर्थात् उत्पादक वर्गों का भक्षक बताया गया है;

'भक्षक –' भूतस्याधिपति रजनि विशमत्ताऽजन्यमित्रांणां हंताऽजनि
ब्राह्मणानां गोप्ताऽजनि धर्मस्य गोप्ताऽजनि ....।[37]

इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति समूह, जो वर्ण के अन्तर्गत आ चुका था, क्रमशः प्रबल होने लगा था। तीसरा वर्ग वैश्य जो जनसाधारण से सम्बन्धित था, उपेक्षित होने लगा। वह अपने अधिकारों से वंचित किया जाने लगा था। उत्तर वैदिक युग के परवर्ती काल तक आकर वैश्य वर्ग का समाज में स्थान निम्न होने लगा था। धीरे–धीरे उसका स्तर शूद्र के समकक्ष पहुँच गया था।[38] तक्षा जैसे 'विश' से सम्बंधित सदस्य, जिन्हें पूर्ववर्तीकाल में याज्ञिक कर्म करने का अधिकार प्राप्त था और तत्कालीन समाज में उनका आदर–सत्कार होता था; इस काल में भी महत्वपूर्ण स्थिति में थे जिसकी पुष्टि तैत्तरीय ब्राह्मण में राज्यभिषेक के अवसर पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले रत्नियों की सूची में तक्षा और रथकार के भी सम्मिलित किये जाने से होती है।[39] यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के अनेक परिच्छदों में बढ़ई की तो चर्चा है लेकिन रथकार शब्द का उल्लेख नहीं मिलता।[40] अर्थर्ववेद से संकेत मिलता है कि रथ निर्माता (रथकार) और धातुकर्म करने वाले (कर्मार) को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसी ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में नव निवार्चित राजा पर्णमणि (पादपीयता बीज) से प्रार्थना करता है कि वह आसपास रहने वाले कुशल रथ निर्माताओं और धातु कर्म करने वालों के बीच उसकी स्थिति सृदृढ़ करने में सहायक हो। प्रार्थना का उद्देश्य शिल्पियों को राजा का सहायक बनाना है।[41]

उत्तरवैदिक साहित्य के अनेकानेक प्रसंगों से सिद्ध होता है कि श्रमिक वर्ग शूद्र वर्ग के थे। पुरूषमेध यज्ञ में ब्राह्मण ब्रह्मत्व को, राजन्य राज्य को, वैश्य मरूत (कृषक समुदाय) को और शूद्र तप (शारीरिक श्रम) को बलि चढ़ाये।[42] यज्ञ में बलि दिये जाने वाली सूची में चतुर्वणों में चतुर्वर्णों के पश्चात् विभिन्न प्रकार के पेशेवर लोगों का स्थान आता है; यथा रथ निर्माता, बढ़ई, कुम्भकार, लोहार, स्वर्णकार, चरवाहा, गड़ेरिया, किसान, मद्यनिर्माता, मछुआ और शिकारी । इन सबकों वैश्य अथवा शूद्र की श्रेणी में रखा जा सकता है।[43] इस सूची से ज्ञात होता है कि शिल्पियों की संख्या में निरन्तर बढ़ोत्तरी हो रही थी और लोग मानने लगे थे कि विभिन्न प्रकार के शिल्पी और मजदूर शूद्र थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे

सिद्ध हो सके कि वे जिन कृषि कर्मों में लगे हुए थे; उनसे लोग घृणा करते थे। वैदिककालीन समाज की पृष्ठभूमि में आरम्भिक ऐतिहासिक काल (600 ई0 पू0 से 100 ई0 तक) के समाज का और समाज में शिल्प तथा उद्योग के लिए निर्मित हो रहे वातारण का अपेक्षाकृत सरल ढंग से अध्ययन किया जा सकता जो कि हमारे शोध का एक महत्वपूर्ण अंग है। ई0 पू0 छठी शताब्दी से ई0 सन् की प्रथम शताब्दी तक का काल प्राचीन भारतीय राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था और धर्म प्रत्येक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य—मगध की स्थापना हुई वहीं धर्म के क्षेत्र में महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के क्रांतिकारी अहिंसक उपदेश इस काल में सुनायी पड़े। ऐसे ही प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन के मूलाधार और विशेषताएं इसी काल में अपने रूप ग्रहण किये। एक ओर सैन्धव नगर सभ्यता और दूसरी ओर प्राचीन वैदिक साहित्य में जो धर्म प्रधान एवं ग्रामीण सभ्यता की झलक मिलती है; इन सब दोनों धाराओं की नींव पर प्रतिष्ठित एवं विकसित तत्कालीन प्राचीन भारतीय समाज एवं सभ्यता का स्वरूप इसी काल में स्पष्ट हुआ। जन से जनपद और जनपद से महाजनपदों का उत्कर्ष हो चुका था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था धीरे–धीरे जाति व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रही थी। यद्यपि वैदिक काल में व्यापार एवं उद्योग के प्रति कुछ अनादर की भावना परिलक्षित होती है जैसे पणियों को सन्देह और घृणा कही दृष्टि से देखा जाता था; लेकिन ई0 पू0 छठी शताब्दी तक आते –आते इस दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। अब शिल्प, उद्योग एवं व्यापार को समाज में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। नगर सभ्यता के पुनरुत्थान के प्रमाण भी सुस्पष्ट हैं। औद्योगिक और व्यापारिक जीवन श्रेणियों के आधार पर संगठित होने लगे थे। आर्थिक जीवन मुद्रा की भूमिका उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण होती जा रही थी। तत्कालीन समाज में इन गंभीर परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

वर्ण–व्यवस्था के सैद्धान्तिक पक्ष ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[44] से सम्बद्ध होते हुए भी परवर्ती कालीन साहित्य में सामाजिक ढांचे की कुछ अन्य विशेषताओं की व्याख्या उपस्थिति करने की प्रवणता मिलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विराट पुरूष

के चार अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत से विचारकों के दृष्टिकोण में सामाजिक वास्तविकता को परिभाषित करने में पर्याप्त नहीं लगता था। महाभारत में महर्षि भृगु ने शिष्य भारद्वाज से कहा कि प्रारम्भ में समाज में केवल एक ही वर्ण था लेकिन आगे चलकर रंग के आधार पर यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार भागों में विभाजित हो गया। ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लोहित, वैश्य का पीत और शूद्र का श्याम रंग था। रंग की भिन्नता को सिर्फ दैहिक न मानकर इसकों गुण के प्रतीक रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति भी मिलती है। ब्राह्मण का श्वेत रंग पवित्रता, क्षत्रिय का लोहित रंग बल, वैश्य का पीत रंग धन और शूद्र का श्याम रंग अपवित्रता का प्रतीक माना गया। इस प्रकार पुरुष सूक्त के सिद्धान्त की वर्ण (रंग) गत और गुण गत (सत्व, रज, तम) व्याख्या करने का प्रयास स्पष्ट है। गुण के साथ–साथ कहीं–कहीं कर्म सिद्धान्त को भी जोड़ दिया गया।[45]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।

इन कथनों में यह व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि रंग ही वर्ग विभाजन का आधार नहीं है, बल्कि वास्तविक आधार गुण और कर्म है और रंगों पर आधारित ये गुणात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य की त्वचा के रंग को नहीं उद्‌भाषित करती बल्कि उनके कर्म प्रधान गुण को। सर्वप्रथम ब्राह्मण ही समाज में थे, बाद में अपने–अपने कर्तव्यों की विभिन्नता यानि गुण एवं कर्म के कारण कई वर्ण हो गये।[46]

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं ही कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।

धर्म, नैतिकता, सत्य एवं सदाचरण पर बल देने वाले ब्राह्मण, काम–भोग प्रेमी तीक्ष्ण, क्रोधी, स्वधर्म त्यागी एवं साहसिक क्षत्रिय, पशुपालन, कृषि एवं व्यवसाय में लिप्त पीत वर्ण वाले वैश्य तथा अपवित्र, हिंसा प्रिय, श्याम वर्ण शूद्र का उल्लेख महाभारत में मिलता है।[47] समाज में बिखरे हुए अनेक समुदायों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के साथ संयोजित करने की प्रवृत्ति भी दिखालायी पड़ती है। महाभारत के शान्ति

पर्व में ही जनक ने अपने गुरु पराशर से प्रश्न किया कि ब्रह्म द्वारा सभी को समान बनाने के बावजूद भी उनमें वर्ण भेद क्यों हुआ? इसके उत्तर में पराशर ने कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि आरम्भ में सभी एक ही वर्ण के थे लेकिन जिस प्रकार भूमि और बीज के आन्तरिक गुण बदल जाने से खेती का रूप भी बदल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के गुण और कर्म बदल जाने से उनका वर्ण भी परिवर्तित हो जाता है। साथ ही साथ मिश्रित विवाह के आधार पर नवीन अनुलोम एवं प्रतिलोम जातियों की उत्पत्ति के विचार भी प्रस्तुत किये गये। इन सबसे यह स्पष्ट है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के साथ–साथ जाति व्यवस्था के सिद्धान्त का भी विकास हो रहा था।

सामान्यतः समाज में ब्राह्मण की प्रधानता इस काल में भी दिखालाई पड़ती है। महाभारत में जहाँ ब्राह्मण को भूमिचर देवता कहा गया है वही स्मृतियों में यह उल्लिखित है कि देवता लोग ब्राह्मण के मुख से हव्य और पितर लोग कव्य खाते हैं।[48] वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दान लेना और दान देना ये प्रधान रूप से उसके कर्म बतलाये गये हैं जो उसका स्वधर्म था।[49]

अध्यापनमध्ययनं यजने याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।

लेकिन दान लेने के सन्दर्भ में स्मृतियों में कही–कहीं विरोधाभास भी दिखालायी पड़ता है। जहां एक ओर दान लेना, और दान देना ब्राह्मण का स्वधर्म बतलाया गया है वहीं दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण के लिए दान लेना वर्जित है क्योंकि उससे उसके तेज का ह्रास होता है[50]

प्रतिग्रह समर्थोऽपि प्रसंग तत्र वर्जयेत्।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेज प्रशाम्यति ।।

केवल परिग्रह को सारे ब्राह्मणों के लिए अपनी जीविका बनाना न तो बहुत सम्मानजनक था न आर्थिक दृष्टिकोण से सम्भव ही हो सकता था। इसी कारण सम्भवतः दान लेने के बारे में इस प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। अतः ब्राह्मणों में विद्वान ब्राह्मण श्रेष्ठ विद्वानों में शास्त्रोक्त कर्तव्य में आस्था रखने वाले श्रेष्ठ तथा

इनमें भी शास्त्रोक्त कर्तव्यों के अनुसार आचरण करने वाले श्रेष्ठ है और इनसे भी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, ऐसा कहा गया है[51]

ब्राह्मणेषु च विद्वांसा विद्वत्सु कृत बुद्धयः।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।

राजनीति में भी ब्राह्मणों की भूमिका महत्वपूर्ण दिखलायी पड़ती है। बौद्ध ग्रंथ महावग्ग में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है जो राजकार्यों से अपने को जोड़े रखे थे और जिनका सम्बन्ध राजा से था।[52] मंत्रियों में राजपुरोहित का पद महत्वपूर्ण था। पुरोहित की नियुक्ति के लिए कुछ विहित योग्यताएं थीं – सत् की रक्षा करने वाला, असत् का निवारक, विद्वान, बहुश्रुत, धर्मात्मा, मंत्रविज्ञ। ऐसी योग्यताएं रखने वाले व्यक्ति को ही पुरोहित पद पर आसीन किया जाता था:[53]

य एव तु सतो रक्षेद सतश्च निवर्तयत्। स एव राज्ञः कर्तव्यों राजन् राजपुरोहितः।

कौटिल्य के अनुसार उन्नत कुल में उत्पन्नशील तथा सदाचार सम्पन्न, सभी वेदों और व्याकरण आदि वेदांगों में पारंगत, दैवी विपत्तियों एवं शकुन शास्त्र के विज्ञ दण्डनीति (राजनीति) शास्त्रों में निपुण और दैवी तथा मानवी आपदाओं को अथर्ववेदोक्त मंत्रों द्वारा हटा देने में कुशल व्यक्ति को ही राजा पुरोहित बनाए, जैसे शिष्य गुरू को, पुत्र पिता को तथा सेवक स्वामी को मानता है, ठीक उसी प्रकार राजा भी पुरोहित को अपना पूज्य मानकर उसका अनुसरण करें।[54] ब्राह्मणों की राजनीतिक महत्ता पुरोहित के रूप में राज्य और समाज में प्रभावकारी थी।[55]

जहाँ तक न्याय विभाग का प्रश्न है तो ब्राह्मणों का वर्चस्व वहाँ भी दिखाई पड़ता है। गिरनार लेख में दण्डनायक के रूप में ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है।[56] न्यायाधीश सामान्य रूप से ब्राह्मण ही करते था। मनु ने लिखा है कि जब राजा विवादों का निपटारा स्वयं नहीं कर पाता था तो ब्राह्मण की ही नियुक्ति न्यायाधीश के रूप में करता जो अन्य सदस्यों के साथ–साथ न्यायालय के कार्यों को देखता था तथा विवादों के निर्णय करने में सहायक होता था :[57]

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मण कार्यदर्शने।।

मनु ने राजा के मंत्रियों में एक ब्राह्मण मंत्री की नियुक्ति करने का उल्लेख किया है, जो प्रशासन में सहायक होता था। उसके अनुसार राजा उन मंत्रियों में से विद्वान एवं विशिष्ट ब्राह्मण मंत्री के साथ षड्गुण से युक्त श्रेष्ठमंत्र की मंत्रणा करता था तथा उस पर पूर्ण विश्वास कर उसे सब कार्य सौंप देता था एवं उससे परामर्श और निश्चय कर कार्य आरम्भ करता था:[58]

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।

मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाडगुण्य संयुतम् ।

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ।

तेन सार्ध विनिश्चत्य ततः कर्म समारभेत् ।

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं परम्परा में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ ब्राह्मणों ने क्षात्र धर्म अपनाया हो। परम्परा हमें बताती है कि परशुराम ब्राह्मण योद्धा थे। महाभारत से पता चलता है कि कृपाचार्य और द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय के कर्म में लिप्त थे। ऐतिहासिक काल में पुष्पमित्र शुंग, गौतमी पुत्रशातकर्णि आदि ब्राह्मण अपने क्षात्रकर्म के लिए प्रसिद्ध थे। इसके अलावा भारतीय इतिहास में शुंग, सातवाहन, कण्व, वाकाटक, कदम्ब आदि अनेक ब्राह्मण वंशों का उल्लेख मिलता है जो राजवंश कहलाने में समर्थ हुए और जिन्होंने अपनी सत्ता द्वारा क्षात्र धर्म अपनाया।

इस काल में ब्राह्मणों द्वारा कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार करने का भी उल्लेख मिलता है। जातकों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कभी–कभी हल की मुठिया पकड़ता था अर्थात् स्वयं खेत की जुताई करता था।[59] मनु ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि क्षत्रिय कर्म से जीवन निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण, वैश्य के कर्म अर्थात् कृषि, पशुपालन एवं व्यापार ग्रहण कर सकता है :[60]

उभाभ्यामप्य जीवंस्तु कथं स्यादिति चेत्भवेत् ।

कृषि गोरक्षामास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ।।

जीविका के लिए कृषि करने या कृषि पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मण का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों, महाकाव्यों, सूत्र साहित्य और स्मृतियों में मिलता है। अपने हाथ से स्वयं खेती करने वाले ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति संभवतः अच्छी नहीं रही होगी। इसलिए गौतम धर्म सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि वह स्वयं कृषि कर्म न करके दूसरे से करवाये।[61] यद्यपि जीविका चलाने के लिए आपात्काल में ही ब्राह्मणों को व्यापार करने की बात शास्त्रों में कही गयी है और उसमें कई प्रकार के बंधनों का भी उल्लेख है, फिर भी कृषि, व्यापार, उद्योग के साथ जुड़े हुए अनेक आर्थिक कार्यों को करने में ब्राह्मणों की भूमिका अन्य वर्णों से कम महत्वपूर्ण नहीं लगती। मनु के अनुसार आपात्काल में ब्राह्मण धनबर्द्धन के लिए व्यापार कर सकता है :[62]

इदं तु वृत्ति वैकल्यात्यजतों धर्म नैपुणम् ।

विट्पण्यमुद् धृतोद्वारं विक्रेयं वित्त वर्धनम् ।

कर्मो के आधार पर महाभारत में ब्राह्मणों को बह्मसम, क्षत्रसम, वैश्यसम, शूद्रसम, चाण्डालसम जैसे वर्गों में रखा गया है :[63]

चतुर्वेदोऽपिदुर्वृतः स शूद्रादति रिच्यते ।

योऽग्निहोत्रपरोदान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।

संक्षेप में, सिद्धान्ततः ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मणेतर कार्यों के माध्यम से जीविका चलाने या धनोपार्जन करने की प्रवृत्ति का तिरस्कार किया गया था। लेकिन ऐसे साक्ष्यों की कमी नहीं है जिनसे उनके व्यवसाय चयन की स्वतन्त्रता की सूचना मिलती है। जो भी हो, राजनीतिक या आर्थिक रूप से प्रभावशाली ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी।

क्षत्रिय का स्थान चतुर्वणों में दूसरा था। क्षत्रियों के कर्तव्यों में प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, विषयों में आसक्ति न रखना, आदि मुख्य रूप से सम्मिलित थे।[64] रामायण में क्षत्रिय का प्रधान कार्य चातुर्वर्णों की रक्षा करना बतलाया गया है।[65] ब्राह्मण परम्परा में क्षत्रिय को ब्राह्मण के बाद स्थान दिया गया है जिसे बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में चुनौती देते हुए क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ कहा

गया है। गौतम बुद्ध ने अम्बष्ट से स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्मण हीन है जबकि क्षत्रिय श्रेष्ठ।[66] बुद्ध और महावीर दोनों ने जन्म पर आधारित वर्णव्यवस्था के स्थान पर कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था की बात कही थी और उनकी मान्यता थी कि न तो कोई जन्म से ब्राह्मण होता है और न चाण्डाल।[67] महाभारत के अनुसार राजकुमारी शर्मिष्ठा ब्राह्मण पुत्री देवयानी से यह कहती है कि तुम्हारा पिता मेरे पिता के यहां हमेशा बैठकर चाटुकारिता किया करता है। फिलहाल ऐसे विवरणों पर बहुत विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि सामान्य रूप से इसी प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि समाज के कल्याण के लिए ब्रह्म और क्षत्र दोनों का सहयोग होना चाहिए। राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में दोनों वर्णों के पारस्परिक सहयोग को नकारा नहीं जा सकता । महाभारत के अनुसार, ब्राह्मण–क्षत्रिय दोनों को पारस्परिक सहयोग से कार्य करना चाहिए।[68]

अयोहन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते।
ब्रह्म च क्षत्रियों द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ।।

क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना और प्रजा का पालन करना था। प्रजा की रक्षा के लिए युद्ध करना और राज–शासन की व्यवस्था करना ही क्षत्रिय कर्म था। दूसरे शब्दों में, क्षत्रिय कर्म के दो ही मुख्य क्षेत्र थे –सामरिक और प्रशासनिक ।

सैद्धान्तिक रूप से क्षत्रिय की जीविका शस्त्रास्त्र पर निर्भर बतलायी गयी है[69] : –

शस्त्रास्त्र भृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशु कृषिर्विशः
आजीवनार्थ धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ।।

लेकिन ऐसा नहीं लगता कि क्षत्रिय वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति युद्ध के ही ऊपर निर्भर रहकर अपनी जीविका चलाता था। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस बात के काफी प्रमाण हैं कि क्षत्रिय विशेषकर सेवा और सैनिक कार्यों से ही अपने को जोड़ रखे थे और यही इनकी जीविका के साधन थे।[70] सूत्र ग्रंथों और स्मृतियों दोनों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि यदि शस्त्र से जीविका चलने में कठिनाई हो तो क्षत्रिय

को वैश्य कर्म अपना लेना चाहिए:[71] राजन्यों वैश्य कर्म। मनु ने ऐसे क्षत्रियों का उल्लेख किया है जिनके पास जमीन और पशु दोनों अधिक मात्रा में थे।[72]

क्षात्र–धर्म के अन्तर्गत पढ़ाना, यज्ञ करना और दान लेना सम्मिलित नहीं था, लेकिन विशेष स्थिति में गैर ब्राह्मणों से भी वेदाध्ययन किये जाने का उल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि आपत्तिकाल में क्षत्रिय भी ब्राह्मण को वेदाध्ययन करा सकता है।[73] इससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण के लिए निर्दिष्ट कार्यों को करने में समर्थ था और वैदिक साहित्य में निपुण होने पर वह आचार्य का भी पद ग्रहण कर सकता था। जनक, अजातशत्रु, कैकेय अश्वपति आदि ऐसे अनेक क्षत्रिय आचार्यों ने अपने समय में वैदिक धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में नया आयाम प्रस्तुत किया। जहां तक दण्ड व्यवस्था का प्रश्न है तो एक ही अपराध में क्षत्रिय को ब्राह्मण से अधिक दण्ड मिलता था।[74]

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति।।

वैश्य वर्णव्यवस्था में तीसरे क्रम पर था। कृषि एवं व्यापार उसका प्रमुख कार्य था। महाभारत के अनुसार वैश्य समाज का वह वर्ग था जिसने अध्ययन और यजन के कार्यों को छोड़कर कृषि कर्म तथा गोपालन वृत्ति का अनुसरण किया:[75]

पितृवत् पालयेद् वैश्यों युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्मतद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ।

महाभारत में ही वैश्य लोगों का प्रधान उद्देश्य धनार्जन करना बताया गया है[76]:–

ब्राह्मण; प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ।।

और धनार्जन के निमित्त वह कृषि, पशुपालन और व्यापार करता था। गौतम के अनुसार ये लोग अपने को कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद (ब्याज पर ऋण देना) में लगाये रहे।[77] वशिष्ठ ने भी कृषि, पशुपालन, व्यापार और रुपया ब्याज पर देना वैश्य का मुख्य पेशा माना है।[78] कौटिल्य और मनु दोनों ने अध्ययन, यजन,

दान कृषि, पशुपालन, वाणिज्य–व्यापार एवं कुसीद वृत्ति को वैश्यों का कर्म बतलाया है।[79] बौद्ध ग्रंथों में वैश्य वर्ण के लिए वेस्स, गहपति, कुटुम्बिक, सेट्ठि शब्द मिलते है।[80] महावग्ग में मेण्डक को गहपति कहा गया है।[81] इसी प्रकार अनाथपिण्डक को भी गहपति बताया गया है। यद्यपि व्यापार करना वैश्य की स्वीकृति जीविका मानी जाती थी लेकिन कुछ ग्रंथों में उस क्षेत्र में कुछ प्रतिबन्धों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि मद्य, मांस, लौह और चर्म का व्यापार वैश्य को नहीं करना चाहिए।[82]

अधीत काल में आर्थिक विकास की गति तीव्र होने के कारण व्यापार वाणिज्य में संलग्न वैश्य वर्ग की आर्थिक स्थिति काफी मजबूत हो गयी थी। आर्थिक सम्पन्नता के कारण ये लोग राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर प्रभावशाली होते गये। अनाथपिण्डक, मेण्डक आदि बौद्ध साहित्य में चर्चित प्रभावशाली गहपति (वैश्य) थे। यही नहीं मगध नरेश, बिम्बिसार के राज्य की सम्पन्नता के स्तम्भ माने जाने वाले जोतिथ, जटिल, मेण्डक, पुन्नक और काकवलिया जैसे धनाढ्य वैश्यों का उल्लेख बार–बार मिलता है।[83] मगध के पड़ासी कोशल के राजा प्रसेनजित ने अपने राज्य में बसने के लिए जिन धनी वैश्यों को आमंत्रित किया था उनमें मेण्डक की पुत्री विशाखा की में शादी प्रसेनजित स्वयं उपस्थित हुआ था।[84] *इस तरह स्पष्ट है कि वर्णक्रम की दृष्टि से उस काल में वैश्य की स्थिति भले ही ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद रही हो लेकिन पेशे के दृष्टिकोण से और विशेषकर शिल्प और उद्योग के अध्ययन की दृष्टि से वैश्य वर्ण का महत्व ब्राह्मण–क्षत्रिय से कहीं अधिक माना जा सकता है।*

इस काल के बड़े–बड़े व्यापारी एक राज्य से दूसरे राज्य तक अपना व्यापार करते थे। श्रावस्ती का प्रसिद्ध गहपति अनाथपिण्डक अपनी व्यापरिक वस्तुओं के क्रय–विक्रय हेतु राजगृह की यात्रा किया करता था। जातकों के अनुसार नगर में निवास करने वाले व्यापारी जो कुटुम्बिक कहलाते थे, धान्य का क्रय–विक्रय करते थे और रुपया ब्याज पर दिया करते थे और इस प्रकार कृषि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया करते थे।[85] ऐसे सम्पन्न सेट्ठियों को राजदरबार में विशेष सम्मान प्राप्त था

और राज्य संचालन में ऐसे लोग समय–समय पर अपना सहयोग प्रदान करते थे।[86] जातकों में कथा आती है कि एक सेठ्ठि ने भिक्षु संघ को 80 करोड़ कार्षापण सहायता रूप में दान में दिया था।[87] *ऐसे धनवान और प्रभावशाली वैश्यों के अतिरिक्त बहुत से सामान्य वैश्य थे जो कृषि और पशुपालन से अपनी जीविका चलाते थे। समाज का सबसे धनी वर्ग होने के कारण राज्य इन्हीं से कर भी लेता था। बहुत से ब्राह्मण–क्षत्रिय विशेषाधिकार सम्पन्न होने के कारण कर से मुक्त थे तो अधिकतर शूद्र साधनहीन होने के कारण कर देने में असमर्थ थे। ऐसे में कृषि व्यापार शिल्प एवं उद्योग से जुड़े वैश्य वर्ग पर ही राज्य के कर का बोझ था। महाभारत के अनुसार सर्वाधिक धनी होने के कारण वही राज्य को सबसे अधिक कर देता था।*[88]

तथा हि रत्नान्यादाम विविधानि नृपा नृपम् ।

उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्य इव कर प्रदाः।

वैश्य के आपद्धर्म में गौं, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करना भी सम्मिलित था।[89]

गवार्थे ब्राह्मणर्थे व वर्णानां वाऽपि संकरे।

गृह्णीयतां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया।।

लेकिन अर्थशास्त्र के विवरण से स्पष्ट होता है कि वैश्य भी सैनिक वृत्ति किया करते थे। कौटिल्य ने कुछ शस्त्रोपजीवी श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। सार्थ के नेता की योग्यताओं के ऊपर चर्चा करते हुए कुछ लेखकों ने उसकी युद्ध पारदर्शिता और सामरिक कुशलता पर भी जोर दिया है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि सम्भवतः कुछ वैश्य सैनिक वृत्ति भी अपनाया करते थे। सम्भवतः समाज में वैश्य बड़ी संख्या में थे। धीरे–धीरे ये अलग–अलग समुदायों में विभाजित हो रहे थे। सार्थवाह, कुलीक, श्रेणी नैगम, मणिकार हिरण्यकार, वणिक आदि अलग–अलग समुदायों से विभाजित होने के कुछ प्रमाण समकालीन साक्ष्यों से प्राप्त होते हैं।

शूद्र वर्णव्यवस्था क्रम के अन्तिम चरण में थे। मनु के अनुसार शूद्र का धर्म द्विज वर्णों (ब्राह्मण , क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा है और इसी से उसे परमसुख की प्राप्ति हो सकती है[90] :-

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।

उन्हीं के अनुसार यदि शूद्र क्षत्रिय और वैश्य की सेवा न करे तो क्षम्य है लेकिन ब्राह्मण की सेवा करना उसका प्रधान लक्ष्य है[91] :-

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।

यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।।

ब्राह्मण उसे सेवा के बदले जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, धान का पुवाल, पुरानी खाट और पुराने बर्तन देता था[92] :-

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।

पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ।।

बौद्ध, साहित्य, सूत्र ग्रन्थों, स्मृतियों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हेय थी। समाज में निम्नतम् स्थान प्राप्त होने के कारण वैदिक साहित्य के अध्ययन की बात तो दूर रही, वेद को सुनना भी उसके लिए मना था। गौतम ने तो यहां तक लिखा है कि वैदिक मंत्रों को सुनने वाले शूद्र के कानों में टीन व लाख का गोला तथा गरम पदार्थ भर देना चाहिए और वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने वाले शूद्र की जिह्वा काट लेनी चाहिए।[93] उपनयन संस्कार से हीन होने के कारण वह शिक्षा का अधिकारी नहीं था और मंत्रहीन होने के कारण वह यज्ञ नहीं कर सकता था क्योंकि वह श्मशान की तरह अपवित्र माना जाता था।[94] महाकाव्यों में ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि अनधिकृत रूप से यदि शूद्र तपस्या करता भी था तो समाज में उसे उपेक्षित माना जाता था । तपस्या करने के कारण ही शूद्र वर्ण के शम्बूक का राम ने वध कर दिया था।[95] लेकिन इस प्रकार के कथनों के विरुद्ध भी मत महाकाव्यों में ही मिल जाते हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था।[96] इन

साक्ष्यों के अवलोकन से इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस युग में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी, भले ही विदुर, मातंग जैसे कुछ शूद्र अपने सत्कर्मों और सद्गुणों के चलते समाज में प्रतिष्ठित रहे हों।

शूद्रों के कर्मों के बारे में मुनस्मृति में कहा गया है कि काष्ठ शिल्प, धातुशिल्प, चित्रकला आदि कार्यों को सम्पादित करने का अधिकार शूद्रों को है[97] :—

यै कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रुष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुक कर्माणि शिल्पानि विविधानि च ।।

महाभारत के अनुसार यदि शूद्र सेवावृत्ति से अपनी जीविका चला पाने में असमर्थ हो तो उसे व्यापार, पशुपालन और विभिन्न शिल्प को ग्रहण करना चाहिए[98] :—

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम् ।

शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते ।।

अर्थशास्त्र में भी उल्लेख मिलता है कि शूद्र का निर्वाह द्विजों की सेवा से ही सम्भव हैं, किन्तु वे शिल्पियों, नर्तकों, अभिनेताओं आदि का व्यवसाय करके भी अपना जीवन निर्वाह कर सकते है।[99] बौद्ध साहित्य में भी शूद्रों के शिल्पी वर्गों तथा — तच्चक (तक्षक या बढ़ई), कम्मार (कर्मकार या लोहार), दन्तकार, कुम्भकार आदि का उल्लेख मिलता है और इन शिल्पों को हीन शिप्प (हीन शिल्प) माना गया है।[100] गौतम ने लिखा कि शूद्र यांत्रिक शिल्पों का सहारा ले सकते है।[101] निश्चित रूप से शूद्र समुदाय के कुछ लोग बुनकर, लकड़हारे, लोहार, चर्मकार, कुम्भकार, रंगरेज के रूप में काम करते थे।[102] इस तरह शिल्प और उद्योग में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका दिखायी पड़ती है।

ऐसा लगता है कि समाज के आर्थिक विकास के साथ—साथ वैश्य वर्ण के कुछ लोगों द्वारा खेती और शिल्प शूद्रों के लिए छोड़ दिया गया। मिलिन्दपन्हों से ज्ञात होता है कि वैश्य और शूद्र के पेशे में विशेष अन्तर नहीं था।[103] कौटिल्य ने खेती के लिए शूद्रों की आवश्यकता को भली भांति स्वीकार किया तथा नयी बस्तियां बसाने में शूद्र प्रतिनिधियों का होना आवश्यक माना।[104] कृषि के अलावा कौटिल्य ने

शूद्र को अपनी जीविका चलाने के लिए दस्तकारी के अभ्यास की भी सलाह दी।[105] इन परिस्थतियों में कालान्तर में पेशे के आधार पर शूद्र शिल्पियों के अनेक समुदायों का आविर्भाव होने का प्रमाण साहित्य में मिलता है। पतंजलि ने निरवसित और अनिरवसित शूद्रों का उल्लेख किया है।[106] निरवसित शूद्र को स्पर्श करने मात्र से ही अस्पृश्ता हो जाया करती थी तथा जिस पात्र में वे भोजन करते थे, ऐसे पात्र हमेशा–हमेशा के लिए अशुद्ध समझे जाते थे। अनिरवसित शूद्र को अस्पृश्य नहीं माना जाता था और ये लोग सदाचारी माने जाते थे।[107]

चातुवर्ण व्यवस्था के अन्दर और बाहर इस काल के समाज में अनेक जातियों–उपजातियों के विषय में सूचना मिलती है। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार देश में फैली हुई विभिन्न जातियां एवं उपजातियां एक जाति के पुरुष और दूसरी जाति की स्त्री के मेल से उत्पन्न हुई हैं। मनु ने ऐसी सन्तानों को वर्ण संकर की संज्ञा दी है[108] : –

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः।।

महाभारत में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि चातुर्वर्णों के अतिरिक्त समाज में अनेक जातियां थी जिनकी उत्पत्ति अनुलोम –प्रतिलोम विवाहों से हुयी थी। महाभारत में युधिष्ठिर ने कहा है कि धन, लोभ, काम, वर्ण के अनिश्चयं और वर्णों के अज्ञान से ही वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है[109] :–

अर्थाल्लोभाद् वा कामाद वा वर्णानां चाप्यं निश्चयात् ।

अज्ञानाद् वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः ।।

युधिष्ठिर ने वन पर्व में इन वर्ण संकरों की निन्दा की है[110] :–

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।

साहित्यिक साक्ष्यों में अधीतकाल में जातियों–उपजातियों की संख्या अत्यधिक थी और निरन्तर इसमें वृद्धि दिखलायी पड़ती है। इन सभी जातियों एवं उपजातियों के विषय में और अधिक प्रकाश डालना हमारे लिए कठिन कार्य तो है ही साथ ही

विषयेतर भी प्रतीत होता है। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जहां एक ओर ये जातियां – उपजातियां व्यवसाय सूचक हैं वहीं दूसरी ओर देश, प्रदेश अथवा प्रजातीय तत्वों की भी सूचक हैं। वैसे अध्ययन काल में जातियां विशेषकर विभिन्न व्यवसायों से ही सम्बंधित हो रही थी। ऐसा लगता है कि इस काल के साहित्य में जिन संकर जातियों का उल्लेख हुआ है उन सब के लिए कुछ विशिष्ट व्यवसाय निर्देशित है। इससे यह स्पष्ट है कि जातियों के विभाजन में व्यवसायों और शिल्प तथा उद्योगों की भिन्नता की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी । यह स्वाभाविक ही था कि इस अवधि में पेशे पर आधारित जातियों की सर्वाधिक संख्या शूद्र एवं वैश्य वर्ण में ही मिलती है क्योंकि दो वर्ण उत्पादन के क्षेत्र में सबसे घनिष्ठ रूप से संबंधित थे। आर्थिक विकास के साथ–साथ शिल्प एवं उद्योगों और पेशों की विविधता बढ़ती गयी। इन परिस्थितियों में शूद्र–वैश्य वर्ण व्यावसायिक जातियों का प्रगुणन स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी हो गया था।

ऋग्वैदिक काल में जिन व्यवसायगत एवं शिल्पगत समूहों की उत्पत्ति के संकेत मिलते हैं उनमें वप्ता, तष्ट्रा, भिषक्, कर्मार, चर्मन् आदि सम्मिलित हैं जिन्हें क्रमशः नाई, बढ़ई, वैद्य, लोहार, चर्मकार के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है। उत्तरवैदिक काल से ही नये–नये उद्योग धन्धों के विकास के कारण विभिन्न प्रकार के शिल्पी समूहों के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी और परिणामस्वरूप शिल्प एवं व्यवसाय पैतृक होते गये जो समाज में अलग–अलग जातियों की उत्पत्ति में सहायक कारक सिद्ध हुए। इस तरह हम कह सकते हैं कि जातियों–उपजातियों तथा विभिन्न शिल्पी एवं पेशेवर समूहों की उत्पत्ति के प्रमुख आधारों में रक्त और भोजन की शुद्धता, क्षेत्रीयता के अलावा विभिन्न शिल्प एवं उद्योगों तथा पेशों की शुद्धता को एक प्रबल आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 7/33/2 पांचवा भाग पृ0 2374–75 विश्वबन्धु विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर 1964
2. प्राचीन भारत का इतिहास–डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली पृ0 131 नई दिल्ली, 1991
3. शतपथ ब्राह्मण 1.6.1.3 (अनु0) गंगा प्रसाद उपाध्याय गोविंदराम हासानंद नई दिल्ली, 1988 ई0

4. तैतरीय संहिता 5.2.5. पृ0 408 (अंग्रेजी अनु0) आर्थर बेरीडले कीथ– मोती लाल बनारसीदास पटना, 1914

5. वाजसनेयी संहिता 18.12 (सं0) वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंसिकर बम्बई 1912 ई0

6. वही

7. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–ओम प्रकाश पृ0–82 1975 नई दिल्ली, वाईली ईस्टर्न लि0

8. यर्जुवेद 18–13

9. हिन्दू सभ्यता–राधा कुमुद मुखर्जी (अनु0) बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 110 नई दिल्ली, (पुनः) 1998

10. अंगुतर निकाय 1–213, 4–252, 256, 260 भदंत आनंद कौसल्यायन–महाबेधिसभा कलकत्ता, 1957–59

11. बुद्धिष्ट इण्डिया–रीज डेविड्स

12. प्राचीन भारत का इतिहास–डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली पृ0 131 नई दिल्ली, 1991

13. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास–हेमचन्द्र राय चौधरी पृ0 178 इलाहाबाद

14. प्राचीन भारत का इतिहास–एन0 एन0 घोष पृ0 153 इलाहाबाद, 1984

15. द पुराण टेक्स्ट ऑफ द डायनेस्टीज ऑफ कलि एज – पार्जिटर एफ0 ई0 पृ0 23–24

16. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास–हेमचन्द्र राय चौधरी(अनु0) पृ0 201

17. अर्थशास्त्र 2–14 (सं0) आर0 पी0 कांग्ले, बम्बई विश्वविद्यालय, 1969

18. प्राचीन भारत पृ0 182 आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

19. प्राचीन भारत पृ0 182 आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

20. प्राचीन भारत पृ0 182 आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

21. प्राचीन भारत पृ0 182–83 आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

22. प्राचीन भारत पृ0 183 आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

23. व्याकरण–महाभाष्य – पतंजलि 3/2, 111पृ0 118–119 के0 वी0 अभ्यंकर, जिल्द दो भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना 1965

24. गार्गी संहिता

25. हर्षचरित – षष्ठ उच्छवास

26. प्राचीन भारत का इतिहास– डी0 एन0 झा एवं श्रीमाली, पृ0 230 नई दिल्ली, 1991

27. प्राचीन भारत–आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) परमेश्वरी लाल गुप्त, दिल्ली, 1990

28. प्राचीन भारत–डी0एन0झा एवं के0 एम0 श्रीमाली, 233 दिल्ली, 1991

29. प्राचीन भारत का इतिहास– झा एवं श्रीमाली, पृ0 240 नई दिल्ली, 1991

30. भारत का इतिहास–रोमिला थापर पृ0 32, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976

31. ऋग्वेद नवम्मण्डल 112.3 पृ0 265 जिल्द चार (पु0 मु0 1995) वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1946

32. ऋग्वेद प्रथम् मण्डल 105.18 जिल्द एक पृ0 649 वही 1972

33. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 29 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (पुनः) 1997

34. ऋग्वेद 5.11.33 (सं0) विश्वबन्धु विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर 1962

35. ऐतरेय ब्राह्मण 2.19 (सं0) आर0 अनंत कृष्ण शास्त्री, भास्कर प्रेस त्रिवेन्दम

36. प्राचीन भारत का इतिहास– डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली पृ0 133 नई दिल्ली, 1991

37. ऐतरेय ब्राह्मण 8.17 वही

38. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – जयशंकर मिश्र पृ0 82 बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना 1974

39. तैत्तरी ब्राह्मण – (सं0) विनायक दामोदर आपटे, आनन्द आश्रम 1938

40. ऋग्वेद चर्तुथ मण्डल 35.6, 36.5 जिल्द दो पृ0 648 और पृ0 651 वैदिक संशोधन मण्डल, पूना 1977

41. अथर्ववेद (iii) 5.6 (सं0) विश्ववंधु विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, 1992ई0

42. वाजसनेयी संहिता **xxx-5** (सं0) वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंसिकर, बम्बई 1912 ई0, शतपथ ब्राह्मण **xxx6.2.10** गंगा प्रसाद उपाध्याय, नई दिल्ली, 1998

43. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 51 नई दिल्ली, 1992

44. ऋग्वेद दशम मण्डल 90.12 पृ0 618 जिल्द चार, वहीं 1946

45. गीता अध्याय 4.12 पृ0 126 (सं0) स्वामी अपूर्णानन्द, रामकृष्णमठ नागपुर, 1988

46. महाभारत, शान्ति पर्व 188.10 गीता प्रेस, गोरखपुर

47. महाभारत, शान्ति पर्व,188.11,12,13

48. मनुस्मृति, अध्याय 1, 85 पृ0 47

49. मनुस्मृति, अध्याय 1,88 पृ0 48

50. मनुस्मृति, अध्याय 4,पृ0 186

51. मनुस्मृति, अध्याय 1,97 पृ0 50

52. महावग्ग, पृ0 243–244 पाराजिक पृ0 53

53. महाभारत, शान्ति पर्व 72.1–2 पृ0 4612(हि0 अनु0) रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय'राम' गीता प्रेस, गोरखपुर सम्वत् 2026।

54. अथर्ववेद 1.9

55. गौतम धर्म सूत्र 13.26

56. गिरनार लेख।

57. मनुस्मृति, अध्याय 8, 9 मेघातिथि की टीका सहित जिल्द दो, मनसुखराम मोर, कलकत्ता 1971।

58. मनुस्मृति, अध्याय 7, 58, 59 वही पृ0 631

59. जातक, जिल्द तीन संख्या 389

60. मनुस्मृति, अध्याय 20, 82 पृ0 1006 जिल्द दो मनसुखराम मोर, कलकत्ता 1971।

61. गौतम धर्म सूत्र, 10.5

62. मनुस्मृति, अध्याय 10.85 पृ0 1008 वही

63. महाभारत

64. अथर्ववेद, 3.6 सं0 श्रीपाद शर्मा 1938, मनुस्मृति 1.89 हरगोविन्द शास्त्री वाराणसी 1970।

65. रामायण, 2.106 मद्रास 1933 गीता प्रेस गोरखपुर

66. दीघनिकाय, 1.98 हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायन सारनाथ वाराणसी, 1936।

67. सुत्त निपात, 1.7.21,3.9.57 राहुल सांकृत्यायन रंगून 1937।

68. महाभारत शान्ति पर्व, 56.24.25 पंचम खण्ड पृ0 4561 गीता प्रेस गोरखपुर सं0 2026 अनुवादक रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

69. मनुस्मृति, 10.79 वही पृ0 1005

70. मज्झिम निकाय, 2 पृ0 180 पालि पब्लिकेशन बोर्ड बिहार गवर्नमेण्ट 1936

71. मनुस्मृति, 10.90 गौतम धर्मसूत्र 7.26 पृ0 69 (सं0) उमेश चन्द्र पाण्डेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

72. मनुस्मृति, 11.14 वही

73. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.2.26 पृ0 248 (सं0) उमेश चन्द्र पाण्डेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1969

74. मनुस्मृति, 8.267 वही पृ0 824

75. महाभारत, 12.60.22 पंचम खण्ड पृ0 4580 रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय सं0 2023 गीता प्रेस, गोरखपुर

76. महाभारत, 5.132.30 उद्योग पर्व खण्ड तृतीय पृ0 2397, वही

77. गौतम धर्मसूत्र, 2.1.50 आनन्द आश्रम सीरीज 1910

78. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 2.19

79. अर्थशास्त्र, 3.7 आर0शाम शास्त्री मैसूर 1909–29 आर0पी0कांग्ले। बम्बई 1965, मनुस्मृति 1.90 वही

80. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास–जयशंकर मिश्र पृ0 84 पटना 1983

81. महावग्ग, पृ0 254–55 पालि पब्लिकेशन बोर्ड बिहार गवर्नमेंट 1965

82. महाभारत

83. सोशल एण्ड इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ मौर्य एम्पायर– बुद्ध प्रकाश

84. वही

85. जातक, 2 पृ0 88, जातक, 1 पृ0 196 (सं0) फाउसवेल, (हि0अनु0) भदन्त आनन्द कौसल्यायन

86. जातक, 1 पृ0 245, जातक, 3 पृ0 299,जातक, 5 पृ0 471 वही

87. जातक, 1 पृ0 349 सं0 फाउसवेल 1877–97 (हि0अनु0) भदन्त आनन्द कौसल्यायन

88. महाभारत, सभापर्व, 47.28 पृ0 849 प्रथम खण्ड (हि0 अनु0) रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम' सं0 2012 गीता प्रेस गोरखपुर

89. बौधायन धर्मसूत्र, 2.2.18 पृ0 202 (सं0) उमेश चन्द्र पाण्डेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1972

90. मनुस्मृति, 1.91 वही पृ0 48

91. वही 10.122–23 वही पृ0 1019

92. वही 10.125

93. गौतम धर्मसूत्र, 12.4

94. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 4.3

95. रामायण, 7.73.76 मद्रास 1933 गीता प्रेस, गोरखपुर

96. महाभारत सभापर्व, 33.41 प्रथमखण्ड पृ0 769 सं0 2012 (हि0अनु0) रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

97. मनुस्मृति, 10.100 वही पृ0 1013

98. महाभारत, शान्ति पर्व 294.4

99. अर्थशास्त्र, 1.3 सं0 आर0 शाम शास्त्री, मैसूर 1909–1929

100. विनयपिटक, 4.6 हि0अ0 राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ 1935

101. गौतम धर्म सूत्र 10.60

102. प्री बुद्धिस्ट इंडिया–आर0 एन0 मेहता पृ0 194–204

103. मिलिन्दपन्हों, पृ0 178 बाम्बे यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स देवनागरी पालि टेक्सट्स सीरीज 1940

104. कौटिल्य–अर्थशास्त्र 2.1 (सम्पादक) आर0 शाम शास्त्री , मैसूर 1909–29

105. वही 1.3

106. महाभाष्य, 2.4.10 (सं0) एफ0 कीलहार्न, बम्बई

107. शुद्रों का प्राचीन इतिहास–रामशरण शर्मा पृ0 89

108. मनुस्मृति, 10.24 वही पृ0 989

109. महाभारत, अनुशासन पर्व 48.1 पृ0 5625 षष्ठ खण्ड (हि0 अनु0) 'राम' सं0 2021 गीता प्रेस, गोरखपुर

110. महाभारत, वनपर्व 180.31–33 वही

अध्याय – 3

शिल्पियों का विवरण

हड़प्पा सभ्यता से सम्बद्ध विभिन्न पुरास्थलों से खोज निकाले गये पुरावशेष से ज्ञात होता है। कि उस काल में विविध प्रकार के शिल्प एवं उद्योग प्रचलित थे। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि तत्युगीन समाज में अनेक प्रकार के उद्योगों से लोगों का परिचय था। उस युग में विभिन्न उद्योगों को करने वाले ही विभिन्न शिल्पियों के नाम से पुकारे जाते थे। ऋग्वैदिक समाज में आर्यों ने अपनी–अपनी अभिरुचि के अनुसार शिल्प एवं उद्योगों को अपनाया और उनके पृथक्–पृथक् नामकरण किये गये जो परवर्ती चरण में अलग–अलग वर्ग के रूप में विकसित हुए; जैसे तक्षा, स्थकर, हिरण्यकार, चर्मकार आदि[1]

तक्ष्भ्यों रथकारेभ्यश्च वो नमोनमः।

कुलालेभ्यः कर्मकारेभ्श्च वो नमोनमः।

पुजिंष्टेभ्योधन्व कृद्भ्यश्च वो नमोनमः।

इषु कृद्भ्योधन्व कृद्भ्यश्च वो नमोनमः।

वैदिकोत्तर समाज में बढ़ते नगरीकरण और तीव्र आर्थिक विकास के साथ ही साथ ही शिल्प और उद्योगों का भी न केवल और अधिक विकास हुआ अपतिु उनमें विविधता और विशिष्टता भी आयी। शिल्प का क्षेत्र व्यापक मानते हुए संगीत और ललित कलाओं को भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया। कौशीतकी ब्राह्मण में नृत्य और गीत को भी शिल्प के अन्तर्गत रखा गया था।[2] ऐसे ही बौद्ध ग्रन्थों में भी नट, लंघक आदि की कलाबाजी को भी सिल्प (शिल्प) में सम्मिलित किया गया। शिल्पियों के सम्बन्ध में पाणिनि कृत व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी व्याकरण ग्रन्थ होने के बावजूद बहुत सी अन्य बातों का भी प्रामाणिक स्रोत है। इसमें शिल्प और उससे सम्बद्ध लोगों (शिल्पकारों) के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति मूलक जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द 'चारु शिल्पी' और 'कारु

शिल्पी' दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] नर्तक, गायक, वादक जिस नृत्य संगीत की साधना करते हैं उस ललित कला को भी उस समय शिल्प कहा जाता था।[4] अष्टाध्यायी के विभिन्न सूत्रों में ग्राम शिल्पी, ग्रामतक्षा और कुलाल का उल्लेख है।[5] पंतजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि उस समय के प्रत्येक गाँव में कम से कम पाँच प्रकार के शिल्पी अवश्य विद्यमान थे[6]:

तत्र चावरतः पंचकारुकी भवति।

नागेश ने उनके नाम इस प्रकार दिए हैं – कुम्हार, लोहार, बढ़ई, नाई और धोबी। पाणिनि ने संगीत, नृत्य गीत आदि शिल्प कार्य में प्रवृत्त शिल्पियों के अन्तर्गत गाथक, गायक, माड्डुकिक, झार्झरिक, पाणिघ, ताडघ, नर्तक का उल्लेख किया है।[7] इन शिल्पियों को मैंने अपने शोध विषय में सम्मिलित नहीं किया है। अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य में उल्लिखित अन्य शिल्पियों में कुलाल, धनुष्कार, अयस्कार, कर्मार, मूर्तिकार, सुवर्णकार, खनक, तन्तुवाय, चर्मकार, नगरकार (राजगीर), कटकार, रज्जुकार विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन सभी शिल्पियों की तत्कालीन अर्थव्यवस्था, वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग में विशिष्ट भूमिका को देखते हुए मैंने इन्हें अपने शोध का विषय बनाया है। इन्हीं के शिल्प एवं उद्योग को उनके क्रमिक विकास के साथ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में व्याख्यायित किया ज़ा रहा है लेकिन इन सब पर विस्तार के साथ लिखने के पूर्व संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है जिससे उनका पारिभाषिक रूप प्रस्तुत किया जा सके।

पाणिनि ने कुशल शिल्पियों को राजशिल्पी कहां है : राजा च प्रशंसायाम्।[8] जैसे राजनापित, राजकुलाल। सम्भवतः ये लोग राजकुल से संबंधित होने के कारण प्रशंसित और कर्मकुशल समझे जाते थे। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि जो बढ़ई राजा के लिए काम करता है, वह फिर निजी काम अर्थात् घर पर बैठकर जनता का काम नहीं करता – तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति।[9] राजकर्मों में नियुक्त शिल्पियों को जनता का काम करने का निषेध पतंजलि के पहले से ही चला आ रहा था। इसके विपरीत जो सर्वसाधारण के लिए काम करते थे, उनमें भी दो प्रकार के शिल्पी थे।

प्रथम वे जो अपने स्थान बैठकर ही काम करते थे और द्वितीय वे जो बुलाए जाने पर किसी के भी घर जाकर काम कर आते थे। विशेष रूप से बढ़इयों के लिए आज भी यह बात ठीक घटित होती है। प्रमुख शिल्पियों का संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित है :

कुम्भकार :

मृत्तिका शिल्प अत्यन्त प्राचीन शिल्प माना जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इससे सम्बन्धित जानकारी मिलती है। मृत्तिका से संबंधित शिल्पी को पाणिनि ने कुलाल[10] और मिट्टी के बर्तन को कौलालक[11] कहा है। चूँकि कुलाल ही घट (घड़ा) बनाने का कार्य करता था जो कि मिट्टी के बर्तनों में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था, इस कारण कुलाल को कुम्भकार (कुम्हार, कुम्भकार का ही तद्भव है) कहा जाने लगा और कुलाल के लिए कुम्भकार नाम का ही प्रचलन रहा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लिखित अन्य शिल्पियों में कुलाल भी एक है। इसे कुम्भकार अथवा कुम्हार कहा जाता है। मिट्टी के बर्तनों का प्रचलन भारत में भी अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। नवपाषाणकाल में चाक का निर्माण इस दिशा में क्रांतिकारी चरण माना जाता है। ताम्रपाषाणिक और आद्यैतिहासिक काल में मिट्टी के बर्तनों, खिलौनों और गृह निर्माण के लिए उपयोगी कच्ची और पक्की ईटों के निर्माण का उद्योग ऐतिहासिक काल में और अधिक महत्वपूर्ण दिखलायी पड़ती है। हम देखते हैं कि गुणात्मक स्तर पर ऐतिहासिक काल की उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा अपने पूर्ववर्ती सभी पात्र परम्पराओं से विशिष्ट मानी जाती है। हमने मिट्टी पर आधारित शिल्प एवं उद्योग के अन्तर्गत कुम्भकार द्वारा निर्माण किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के बर्तनों, खिलौने, मूर्तियों और मुहरों तथा मुद्रा को काल क्रम से विवेचित करने के साथ ही अधीत काल में उनके द्वारा बनाये जाने वाली पकी और कच्ची ईटों के निर्माण और ईट उद्योग के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

इसी कम में हमने प्रस्तर उद्योग पर भी प्रकाश डाला है। भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में मानव ने सर्वप्रथम प्रस्तर के ही उपकरण बनाये थे इसमें सन्देह नहीं किया जाता। तकनीकी विकास के साथ ही साथ प्रस्तर शिल्प में विशिष्टता आती
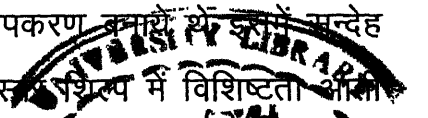
गयी और मौर्यकाल में उसे, आज की शब्दावली में कहा जाय, तो उद्योग का दर्जा प्राप्त हो गया। मौर्यकाल में भवन के आधार प्रायः पत्थर और ईंट के बनाये जाते थे तथा ऊपर के भाग लकड़ी के। स्ट्रेबों ने लिखा है कि पाटलिपुत्र के चतुर्दिक लकड़ी की दीवाल थी जिसमें तीर चलाने के लिए मोखे बने थे।[12] लेकिन चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री कौटिल्य लकड़ी के भवन–निर्माण का विरोधी था क्योंकि उसमें आग लग जाती थी।[13] हालांकि पाटलिपुत्र के आस–पास के क्षेत्रों में हुए उत्खनन से राजप्रसाद में लकड़ी के व्यापक प्रयोग की ही सूचना मिलती है।[14] लेकिन मौर्य काल में प्रस्तर उद्योग का विकास अभूतपूर्व था और उसे प्राचीन भारतीय इतिहास में अद्वितीय माना जा सकता है। प्रस्तर को सुन्दर , सुघड़, सुडौल और तीक्ष्ण रूप में काटकर, भवन, प्रासाद, स्तूप, विहार और स्तम्भ आदि, बनाये जाते थे। अशोक कालीन अनेक स्मारक तत्कालीन प्रस्तर प्रौद्योगिकी के साक्ष्य के रूप में समूचे भारत में आज भी विद्यमान हैं। हमने अपने शोध प्रबंध में 'प्रस्तर शिल्प एवं उद्योग' के अन्तर्गत इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

बर्द्धकि :

काष्ठ शिल्पी, जिसे बढ़ई के नाम से भी जाना जाता है उसे संस्कृत साहित्य में बर्द्धकि और तक्षा के नाम से सम्बोधित किया गया है। काष्ठ उद्योग के अन्तर्गत आने वाली सभी वस्तुओं का निर्माण तक्षा द्वारा किया जाता था। वह हल की मूँठें, जुआ तथा अन्य कृषि उपकरण बनाता था। यही नहीं कृषि उपज ढ़ोने वाली तथा सवारी के काम आने वाली गाड़ियों (बैलगाड़ी, भैसागाड़ी आदि) का निर्माण उसी के कार्य क्षेत्र में आता था। यज्ञ के लिए यूप (खूँटा) भी वही तैयार करता था। चूँकि काष्ठ को छीलने का कार्य बढ़ई ही करता था। इसलिए उसे 'तक्षा' कहा जाता था।[15]

रथकार :

बढ़ई ही जो रथ निर्माण में कुशल होता था, वह केवल रथ निर्माण का ही कार्य करने लगता था। इस प्रकार काष्ठ उद्योग में भी विशिष्टीकरण के कारण बढ़ई एक से अधिक वर्ग में विभाजित हो गये। रथ निर्माण करने वाले बढ़ई को ही रथकार कहा

जाता था जो अपने शिल्पगत विशिष्टीकरण के कारण से भिन्न स्थिति रखता था। चतुर रथकार को नागरक रथकार कहा जाता था।[16] उल्लेखनीय है कि नागरक प्रवीणता अथवा दक्षता का बोधक है। तक्षा चाहे साधारण हो या रथ निर्माता, दो तरह के होते थे : (1) ग्रामतक्षा (2) कौटतक्षा[17]

जो बढ़ई अपने घर पर अथवा अपने छोटे (आसन) पर बैठे–बैठे कार्य करता था और लोग उसके पास आकर कार्य कराते थे, वह कौटतक्षा कहलाता था जबकि मजदूरी (भूत्ति) पर गांव में जाकर घूम–घूमकर काम करने वाला बढ़ई ग्राम तक्षा कहलाता था। इनमें कौटतक्षा का अपेक्षाकृत अधिक सम्मान था।[18] ग्रामतक्षा ग्राम के सभी निवासियों के लिए काष्ठ कार्य करता था और आवश्यकतानुसार उनके घर पर जाकर भी मरम्मत और नव–निर्माण करता था। उसे वर्ष में एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित मात्रा में अन्न राशि मिलती थी।[19] *उल्लखनीय है कि उत्तर भारत के अधिकांश ग्रामों में बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी जैसे शिल्पकारों (इन्हें कुछ जगह 'प्रजा' भी कहा जाता हैं) को वर्ष में एक या दो बार इनकी सेवाओं के बदले निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता है जिसे कुछ क्षेत्रों में 'तिहाई' कहा जाता है। ऐसे में शोधकर्ता का गृह जनपद गोण्डा अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जा सकता है।*

'कौटतक्षा' का समीकरण आजकल के नगरों में स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाले काष्ठ शिल्पियों से किया जा सकता है जो अपनी दुकान पर बैठकर कार्य करते हैं और किये काम के लिए उचित नकद राशि लेते हैं। प्राचीन भारत में आज की तरह प्रत्येक ग्राम में एक बढ़ई का भी घर होता था और किसी–किसी ग्राम में एक से अधिक भी होता था।

राजशिल्पी' के अन्तर्गत आने वाले बढ़ई को 'राजतक्षा' कहा जाता था। ये व्यवसाय करने में स्वतन्त्र तो नहीं होते थे लेकिन इस पद पर आसीन होना उनके लिए गौरव की बात होती थी। राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रवृत्त होने के कारण 'राजतक्षा' को अपने व्यवसाय के लिए न तो अवकाश था और न ही अधिकार :

पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वयं कर्म जहाति।

तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वयं कर्म जहाति।[20]

धनुष्कार :

अष्टाध्यायी में उल्लिखिता शिल्पियों में धनुष्कार भी सम्मिलित किया गया है। यह सामान्य धनुष और महेष्वास नामक विशिष्ट प्रकार के धनुष का निर्माण करता था। महेष्वास विशाल धनुष होता था जो छः फुट लम्बा होता था और धनुष चालक की लम्बाई के बराबर होता था। इतने लम्बे धनुष को जमीन पर टेककर चलाया जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिकंदर–पोरस युद्ध के समय भारी वर्षा हो जाने के कारण गीली जमीन में भारतीय सैनिक अपने विशाल धनुष को टेककर सटीक निशाना लगाने में सफल न हो सके।[21] यूनानी लेखकों के विवरण से पता चलता है कि भारतीयों द्वारा प्रयुक्त विशाल धनुष का शिरा भूमि पर टेककर वाण चलाया जाता था।[22] तक्षा या बर्द्धकि (बढ़ई) और रथकार तथा धनुषकार मूलतः काष्ठ कर्म से सम्बद्ध थे। इसलिए मैंने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन सबकों 'काष्ठ शिल्प' नामक उपशीर्षक के अन्तर्गत व्याख्यायित किया है। काष्ठ शिल्प के अन्तर्गत ही नौका एवं जलपोत निर्माण पर भी प्रकाश डाला गया है। उल्लेख़नीय है कि नौकाएं कम से कम नवपाषाणकाल से परिवहन का एक महत्वपूर्ण साधन रही हैं विशेषकर तब जबकि स्थल मार्ग दुर्गम थे और आधुनिक काल जैसी परिवहन सुविधाएं कल्पना में भी विद्यमान नहीं थी। नौकाओं की चर्चा वैदिक ग्रन्थों और बौद्ध साहित्य में भी मिलती है। ऐतिहासिक काल में जब शिल्पगत विशिष्टीकरण में वृद्धि हुई तो कुछ तक्षा मुख्य रूप से नौकाओं के निर्माण में ही समय देने लगे और सीमित पैमाने पर या खाली समय में ही घरेलू सामानों का निर्माण करते थे। इस प्रकार उत्तम काष्ठ शिल्पी ही नौकाओं एवं जहाजों का निर्माण करते थे। ग्रीक लेखकों से विदित होता है कि उस समय पोत निर्माण की कला समाज में यथोचित रूप में विकसित थी।[23] मौर्यकाल में राजकीय सरंक्षण में ही इन विशाल जलपोतों के निर्माण का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है :–

शंखमुक्त ग्राहिणों नौहाटकान् दद्युः स्वनौभिर्वातरेयुः।[24]

इसके अतिरिक्त बांस, जो कि काष्ठ के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है पर आधारित पेशेवर जाति वेणुकार को भी हमने काष्ठ शिल्प से सम्बद्ध मानते हुए उसी के अन्तर्गत व्याख्याति करने का प्रयास किया है। वेण अथवा वेणुकार का स्तर जनजाति का था जो कि शिकार और बांस का काम करके निर्वाह करती थी।[25] परवर्ती काल के एक जातक के अनुसार वेणुकार या वेलुकार बाँस काटकर बोझा बनाने के लिए चाकू लेकर जंगल जाता था ताकि उसका व्यापार कर सके।[26] धर्मसूत्रों में वेणों की उत्पत्ति का अन्वेषण किया गया है। बौधायन के अनुसार वैण वैदेहक पिता और अम्बष्ठ माता की संतति था।[27] यद्यपि एक परवर्ती जातक में वेणी शब्द को चांडाल के साथ कोष्ठबद्ध किया गया है लेकिन ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि वेणों को चांडाल के समान अस्पृश्य समझा जाता था। विनयपिटक की टीका के अनुसार वेण के रूप में जन्म लेने का अर्थ हुआ बढ़ई (तक्षक) के रूप में जन्म लेना[28] – वेण जाति ति तच्छक जाति। इस प्रकार बौद्ध साहित्य से भी स्पष्ट होता है कि वैण और तक्षक शब्द समान अर्थ बोधक हैं। जिस तक्षक को वैदिक समाज में ऊँचा दर्जा मिला था, उसे बौद्ध ग्रन्थों में अधम जाति की कोटि में क्यों दिखाया गया,[29] विचारणीय है।

अयस्कार :

लोहार नामक शिल्पी वैदिक युग से ही समाज में विद्यमान थे। इन्हें कर्मार अथवा अयस्कार भी कहा गया है। चूँकि अयस् शब्द सामान्यतः धातु के लिए प्रयुक्त किया जाता था, इस कारण उससे सम्बद्ध शिल्पी को अयस्कार कहना उचित है। ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ सोना और सीसा के अतिरिक्त किसी भी धातु से लिया जा सकता है। निश्चय ही 'अयस्' नामक धातु से उस युग में विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्र बनते थे।[30] उत्तर वैदिक काल में जब लोहे की वस्तुओं का निरन्तर विकास हुआ और अयस्कार या लोहार अथवा कर्मकार के शिल्प का महत्व और बढ़ गया तो लोहार को 'मनीषी शिल्पकार' कहा जाने लगा।[31] वह समाज के उपयोग में लाने के लिए धातु के बर्तन तथा सोमरस पान करने के लिए

पात्र बनाता था।[32] महाकाव्यों के अनुशीलन से पता चलता है कि उस युग में सभी प्रकार के शस्त्र लोहे के ही बनने लगे थे जिसे कर्मार ही बनाता था।

'महाभाष्य' में अयस्कार का उल्लेख तक्षा के साथ मिलता है।[33] वास्तव में एक दूसरे के पूरक होने के कारण आज भी लोहार–बढ़ई साथ–साथ याद किये जाते हैं। राजस्थान से निकली हुई यायावर जाति 'लुहार–बढ़ाई' आज भी दोनों साथ काम करती है। अयस्कार को अयस्कृत भी कहा गया है।[34] कुटिलिका (सँड़सी) से पकड़कर लोहे को पीटने के कारण उसे कौटिलिक भी कहा जाता था।[35] तक्षा के समान अयस्कार भी कृषि के लिए आवश्यक औजार बनाता, हल के फाल पीटकर नुकीला करता और कील–काँटे बनाता था। रज्जु या अयस् (लोहे) के तार से बँधा हुआ काष्ठ खींचा जाता था, ऐसा उललेख महाभाष्य में मिलता है। लोहे के तार 'श्रृंखला' से कील में जुड़ा हुआ अर्थात् श्रृंखला से खूँटे में बँधा हुआ पशु उससे सम्बद्ध माना जायेगा' यह कथन भी महाभाष्य में मिलता है।[36] इससे स्पष्ट है कि लोहे के तारों, श्रृंखलाओं (लम्बी जंजीरों) और कीलों तथा पशुओं के बाँधने और शंकु का भी प्रयोग होता था। परशु लकड़ी काटनें के काम आता था यह प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु थी। शंकुला (सरौता), कुल्हाड़ी (इध्म–प्रव्रश्चन), हँसिया (पलाश–शातन), दरात तथा अन्य किसी प्रकार की साधारण व्यवहार की वस्तुएं अयस्कृत बनाता था।[37] लोहार का मुख्य साधन धौंकनी या भस्त्रा था जो चमड़े की बनी होती थी। इसी से हवा करके वह अग्नि प्रज्ज्वलित रखता जिसमें लोहे को तपाकर अयोधन से पीटता था। दुर्धन और कुटिलिका उसके दूसरे सहायक औजार थे।[38]

लोहार या अयस्कार को कभी–कभी कर्मार भी कहा जाता था। लेकिन कर्मार वस्तुतः ठठेरा के लिए ही प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द है। चूँकि लोहे के बर्तन भी बनाये जाते थे और यह कार्य करने में लोहार को विशिष्टता प्राप्त थी, इस कारण शायद लोहार को कभी–कभी कर्मार कह दिया जाता रहा होगा। वैसे कर्मार (ठठेरा) का काम गृह–उपयोगी धातु–पात्र बनाना था। छोटी –बड़ी सब नाप की स्थालियाँ, भगोने, कटोरियाँ, लोटे और घड़े कर्मार बनाता था। पूजा पात्र प्रायः ताँबे के बनते थे। लौह

शब्द का प्रयोग ताँबें के लिए होता था। घटी भी ताँबे की बनती थी। लौह पात्र काँसे के पात्रों से श्रेष्ठ माने जाते थे। घड़े लोहे के भी बनते थे।[39] कर्मार सन्तान कार्मायायणि कहलाती थी।[40] चंदु लोहार को बौद्ध साहित्य में कमार (कर्मार) कहा गया है जिसने महात्मा गौतम बुद्ध और उनके अनुनायायियों को शानदार भोजन कराया था।[41]

मूर्तिकार :

भारत में मूर्तिकला की प्राचीनता हड़प्पा सभ्यता तक जाती हैं। वैदिक साहित्य में तो इसके बारे में अधिक उल्लेख नहीं मिलते लेकिन ऐतिहासिक काल के ग्रन्थों में मूर्तिकारों का उल्लेख सामान्य हो गया था। महाभाष्य से पता चलता है कि मौर्य शासकों ने मूर्तियाँ बनाकर बेचना शुरु कर दिया था।[42] शिल्पगत साम्य के आधार पर मूर्तिकारों की गणना भी कर्मकारों के अन्तर्गत होनी चाहिए। मूर्तिकार धातु को पिघलाकर सांचों द्वारा मूर्तियां ढालते थे। ये मूर्तियां भीतर से पोली रहती और अग्नि द्वारा भीतर से गरम कर साफ की जा सकती थी[43] शोभना मूर्ति सुषिराग्निरन्तः प्रविश्य दहति । मूर्तियां प्रायः पशुओं की होती थी। अश्व की प्रतिकृति मूर्ति को अश्वक् कहते थे।[44] देवपूजा के लिए भी मूर्तियां ढ़ाली जाती थी। इन्हें बेचने की प्रथा नहीं थी। ये पुजारियों की जीविका का साधन थीं। बाद में मौर्य शासकों ने इनकी मूर्तियां बनवाकर बेचना शुरू कर दिया। पण्यार्थ बनायी जाने वाली मूर्तियां जिस देवता की होती थीं; उसके आगे 'क' प्रत्यय का प्रयोग होता था। जैसे शिवक, स्कन्दक । बिना विक्रय वाली मूर्तियां सम्बद्ध देवताओं के नाम से पुकारी जाती थी।[45] हो सकता है कि मौर्यों द्वारा निर्मित मूर्तियां पत्थर की हों। इस विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहना कठिन है लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूर्तियों का निर्माण प्रस्तर, मिट्टी और धातुओं से होता रहा होगा जब मूर्तिकार धातु से मूर्तियां बनाता था वह कर्मार की श्रेणी में ही रखा जाता रहा होगा। अतः हमने ऐसे मूर्तिकारों को कर्मारों और अयस्कारों के साथ–साथ धातु शिल्पी के अन्तर्गत रखकर व्याख्यायित किया है।

स्वर्णकार (हिरण्यकार) :

जो शिल्पी, सोने, चाँदी बहुमूल्य धातुओं से आभूषण बनाने का काम करता था, उसे स्वर्णकार, सुवर्णकार, अथवा हिरण्कार कहा जाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित हिरण्यपिण्ड से 'निष्क' नामक आभूषण का ज्ञान होता है।[46] उत्तर वैदिक युग में 'हिरण्य' का अनेक बार उल्लेख किया गया है, जो व्यक्ति को अमरत्व प्रदान करता था।[47] पुराणों में भी उसके द्वारा अलंकरण निर्माण का पता चलता है जिसका सम्बन्ध प्रजापति विश्वकर्मा से माना गया है[48] : –

विश्वकर्मा सुतस्तस्या जातः शिल्पि प्रजापतिः ।

भूषणानां च सर्वेषां कार्त्ता कारयितां च सः ।।

पाणिनि के सूत्रों में कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक, अंगुलीयक आदि आभूषणों के नाम आए हैं। उन्हें सुनार तैयार करते थे। वे कसौटी पर सोना कसने में कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हें आकर्षिक कहां जाता थाः आकर्षे कुशलः आकर्षइति सुवर्ण परीक्षार्थो निकषोपलः।[49] जो शिल्पी कसौटी लेकर घरों में जाकर सोना कसते और उसका ज्ञान बताते थे, उन्हें भी आकर्षिक कहा जाता थाः आकर्षेण चरित्र आकर्षिकः।[50] बौद्ध ग्रंथों से भी पता चलता है कि सोने, चाँदी के आभूषणों के प्रति स्त्री–पुरूष दोनों का आकर्षण था। स्वर्णकार विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण करता था, जो अत्यन्त कलात्मक और आकर्षक ढ़ंग से बनाये जाते थे। कुस जातक के अनुसार एक स्वर्णकार द्वारा बनाया गया आभूषण इतना सुन्दर और अद्वितीय उतरा था, जो अवर्णनीय था।[51]

पाणिनि ने स्वर्णकारों की शिल्पगत विशिष्टता का भी उल्लेख सूत्रों के माध्यम से किया है। उन्होंने स्वर्णकारों की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है। निष्टपति सुवर्णम् (निसस्तपतावनासेवने)[52]। इस वाक्य का अर्थ था 'वह सोने को आंच में केवल एक बार तपाता है।' इसकी पृष्ठभूमि यों समझनी चाहिएः अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन प्रकार के ग्राहकों का कार्य निपटाता था। पहले वे जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना, चाँदी लाते थे। दूसरे वे जो पुराने

आभूषण लाकर देते थे कि उन्हें गलाकर फिर नये गहने बनाए जाएं। इन दोनों के सोने को लेकर वह उसे बार–बार तपाता और पीटता था। इसी अर्थ में पाणिनि ने 'निस्टपति सुवर्णम्' शब्दावली का प्रयोग किया है। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते थे जो अपने आभूषण गलाने के लिए नहीं बल्कि सफाई और चमकाने के लिए लाते थे। सुवर्णकार उन्हें लेकर एक बार अग्नि में तपाता था और फिर रगड़कर चमकीला कर देता था। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही पाणिनि ने 'निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकारः' पदावली का प्रयोग किया है।[53] पाणिनि के युग में धातु और बहुमूल्य रत्न का काम भी प्रगति पर था। हिरण्य (स्वर्ण) के साथ–साथ रजत, अयस (लोहा) कांस्य (कांसा) आदि विभिन्न धातुओं[54] तथा लोहित (मणि), सस्यक (पन्ना) और वैदूर्य आदि रत्नों का[55] तत्कालीन समाज में प्रचलन था। हमने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से स्वर्णकारों और मणिकारों को बहुमूल्य धातुओं से सम्बन्धित शिल्पी मानते हुए इसे 'बहुमूल्य धातु पर आधारित शिल्प एवं उद्योग' के अन्तर्गत रखा है। इसके अन्तर्गत हमने यह देखने का प्रयास किया है कि सोना, चाँदी तथा रत्नों के स्रोत कहाँ–कहाँ थे और मौर्यकालीन राजकीय नियन्त्रण में इस शिल्प का कितना विकास हुआ।

चर्मकार :

चमार अथवा चर्मकार चमड़े की वस्तुएं बनाने वाले शिल्पी थे जो भारतीय हिन्दू समाज में अत्यत्न प्राचीनकाल से पृथक् एवं अस्पृश्य जाति के रूप में विद्यमान रहे हैं। चर्मकार का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है।[56]

या में हिरण्य संदृशों दश रज्ञो अभंहत।

अधस्पंदा इच्चैद्यस्य कृष्टश्चर्मम्ना अभितो जनाः।।

अष्टाध्यायी में चमड़े की बनी हुई अनेक वस्तुओं का उल्लेख हैं, जैसे नध्री (हिन्दी में इसे नाड़ कहा जाता है) वह तस्मा जिसमें बैलों को जुए में बांधते थे, वर्ध्र (बद्वी) चमड़े की दुवाली या रस्सी।[57] इससे स्पष्ट होता है कि कभी–कभी मोटी बरत या कुँआ से पानी निकालने की रस्सी या शकट गाड़ी में बाँधने की रस्सी चमड़े की बनायी जाती थी। कभी–कभी गाय–भैंस का पूरा का पूरा चमड़ा कुछ वस्तुओं के

निर्माण में लग जाता था। जैसे कुंए से पानी उठाने के लिए मोट, चरसा या पुर के बनाने में पूरा का पूरा चमड़ा लग जाता था। ऐसी वस्तुओं के अर्थ में पाणिनि ने 'सार्वचर्मीण' शब्द का प्रयोग किया है।[58] अष्टाध्यायी में पनही (जूते) के लिए अनुपदीना' शब्द का उल्लेख मिलता है। ऐसे जूते मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर बनवाये जाते थे।[59] इन्हें आज की शब्दावली में 'आर्डर' देकर बनवाये जाने वाले जूता कह सकते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रायः जूते हाट में जाकर अपनी पसन्द एवं नाप के ही खरीदे जाते रहे हैं। बौद्ध ग्रन्थों में चमड़े के जूतों (उपानह) का प्रचलन सामान्य हो गया था। व्याघ्र, सिंह, चीते, गिलहरी आदि पशुओं एवं जानवरों के चमड़े के भी जूते बनाये जाते थे।[60] महाभाष्य में भी विविध प्रकार के जूते बनाये जाने के प्रमाण विद्यमान हैं। जूते, चरस (मोट/पुर) के अलावा चमड़े की म्यान भी बनायी जाती थी जिसे महाभाष्यकार ने 'चार्मकोश' कहा है।[61] मनु ने चमड़े के कार्य में लगे शिल्पी को कारावर और चर्मकार कहा है और यह बताया है कि उस काल तक निषाद पुरूष और वैदेहक स्त्री के संयोग के कारावर/चर्मकार की उत्पत्ति मानी जाने लगी थीः कारावरों निषादान्तु चर्मकारः प्रसूयते।[62] साहित्य एवं पुरातात्विक दोनों साक्ष्यों के आलोक में हमने 'चमड़े पर आधारित शिल्प एवं उद्योग के अन्तर्गत चर्मकारों द्वारा बनायी जाने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, उनकी उपयोगिता तथा कच्चे माल के स्रोतों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

बुनकर या जुलाहा :

वस्त्र उद्योग भारत का प्राचीनतम उद्योग रहा है। हड़प्पा सभ्यता के कतिपय पुरास्थलों से वस्त्रों के प्रचलन के साक्ष्य से कम से कम हड़प्पा काल तक वस्त्र उद्योग की प्राचीनता देखी जा सकती है।[63] ऋग्वेद में वासस्, वसन, वस्त्र आदि शब्दों[64] के उल्लेख मिलते हैं। और्ण, क्षौम और चर्म के वस्त्रों[65] के प्रयोग की सूचना ऋग्वेद से मिलती है। उत्तर वैदिक काल में कपड़ा बुनने के लिए करघे के अर्थ में 'वेमन' के उल्लेख से वस्त्र निर्माण की सूचना मिलती है।[66] 'वयत्री' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि उस काल में ही स्त्रियां कपड़ा के कार्य में संलग्न हो चुकी थीं।[67]

पाणिनि के सूत्रों से तत्युगीन समाज में विविध प्रकार के वस्त्रों के प्रचलन की सूचना मिलती है। बुनकर अथवा जुलाहे को ऋग्वेद में 'वासोवाय' और करघी को 'तसर' कहा गया है।[68] पाणिनि ने बुनकर को 'तन्तुवाय' और वस्त्र को 'आच्छादन' कहा है।[63] महाकाव्य काल में विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाये जाने की सूचना महाभारत एवं रामायण से मिलती है। महाभारत में चीन, हूण, शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्र उपहार में लाये थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।

प्रमाणंराग स्पर्शाढ्य बाल्ही चीन समुद्भवम्।
और्ण च रांकव चैव कीटजं पट्टजं तथा।।
कुट्टीकृतं तथैवान्यत् कमलाभं सहस्रशः।
श्लक्ष्ण वस्त्रमकार्पास भाविकं मृदु चाणिनम्।[70]

इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से भी वस्त्र उद्योग के विषय में जानकारी मिलती है। वाराणसी में क्षौम, कौशेय और और्ण के नीले, लाल, सफेद तथा अन्य मनोहारी रंगों वाले विभिन्न प्रकार के वस्त्र बौद्ध काल में बनाये जाते थे।[71] इसके अलावा पुरावशेषों जो विशेषकर बेसनगर, भरहुत, मथुरा आदि से प्राप्त हुए हैं, उनके अनुशीलन के माध्यम से भी हमने 'वस्त्र उद्योग' के अन्तर्गत ऐतिहासिक काल में बनाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के वस्त्रों, निर्माण के कच्चे माल और उनके स्रोतों, पुरूष एवं स्त्री बुनकरों और वस्त्र निर्माण केन्द्रों का वर्णन तो किया ही साथ में ही इसी शीर्षक के अन्तर्गत हमने रंगसाज (कपड़ा रंगने वाले) और रजक (कपड़े की धुलाई करने वाले) शिल्पियों के विषय में भी जानकारी एकत्र करने का प्रयास किया है। उपरोक्त शिल्पियों के अतिरिक्त हमने 'अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग' के अन्तर्गत चित्रकार, दन्तकार, सुराकर और वैद्य जैसे शिल्पियों के विषय में भी संक्षेप में प्रकाश डाला है क्योंकि ये शिल्पी भी प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण महत्वपूर्ण रहे हैं।

चित्रकार चित्रकारी का पेशा करने वाला शिल्पी था। ऐसे लोगों का प्राचीन ग्रन्थों में संदर्भ मिलता है जो विभिन्न प्रकार के चित्र बनाते थे। अजन्ता की गुफाओं के भित्ति चित्र इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

दन्तकार हाथी दाँत के सामान बनाने वाले ऐसे शिल्पी थे जो अपनी कुशलता के कारण विदेशों में भी प्रशंसा के पात्र बनते थे। प्राकृतिक वातारण की दृष्टि से भारत हाथी अधिवास के लिए प्राचीन काल से ही उपयुक्त रहा है और इस कारण दन्तकारों को कच्चे माल सहंज उपलब्ध थे।

सुरा/मदिरा का प्रचलन वैदिक काल में भी था। सुरा का निर्माण करने वाला वर्ग सुराकार कहलाता था।[72] चरक संहिता में विभिन्न प्रकार की सुरा–गौड़ी, पैठवी, माध्वी, कादम्बरी, हैतली, लांगलेया, ताल जाता आदि के नामों का उल्लेख मिलता है।

अन्त में हमने ऐसे शिल्पी का विवेचन किया है जो अन्य सभी शिल्पियों का काल्याकल्प करता था। वह शिल्पी था वैद्य या चिकित्सक। यह पर्वतों, जंगलों एवं नदी घाटियों से जड़ी–बूटियों को चयनित करके विभिन्न प्रकार के रोगों के निदान के लिए औषधि तैयार करता था। संयोग से भारत प्राचीन काल से ही आयुर्वेद के क्षेत्र में अग्रणी रहा है। ऐतिहासिक काल में जीवक, चरक और धनवंतरि जैसे वैद्यों की प्रतिष्ठा से कौन परिचित नहीं है। हमने इन्हें भी एक महत्वपूर्ण शिल्पी के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. तैत्तरीय संहिता 4,5,4,2
2. कौशितकी ब्राह्मण 29.5
3. पाणिनि कालीन भारत वर्ष – बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 220 चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1969
4. पाणिनीय अष्टाध्यायी 3.1.146, 3.2. 55 – जिल्द सं0 एक श्रीश चन्द्र वसु मोतीलाल बनारसी दास नई दिल्ली, 1977
5. अष्टाध्यायी 6.2.62, 5.4.95
6. व्याकरण महाभाष्य 1.1.48–जिल्द एक सं0 एफ0 कीलहॉर्न के0 वी0 अभ्यंकर भंडारकर शोध संस्थान पूना, 1962

7. पाणिनि कालीन भारत वर्ष – बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 221 चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1969
8. अष्टाध्यायी 6.2.63
9. महाभाष्य 2.2.1–जिल्द एक सं0 एफ0 कीलहॉर्न के0 वी0 अभ्यंकर भंडारकर शोध संस्थान पूना, 1962
10. अष्टाध्यायी 4.3.118 जिल्द एक सं0 श्रीश चन्द्र वसु नई दिल्ली, 1977
11. महाभाष्य 4.3.116
12. मैक्रिंडल, 2, फैगमेंट्स 23 पृ0 65
13. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – जय शंकर मिश्र 598
14. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0एन0पाण्डेय
15. वही 3.1. 76
16. काशिका – जयादित्य – वामन 4.2.128
17. अष्टाध्यायी 5.4.95 जिल्द दो सं0 श्रीश चन्द्र वसु नई दिल्ली, 1997
18. पाणिनि कालीन भारत वर्ष–बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 220–21 चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1969
19. पतंजलि कालीन भारत – पी0 डी0 अग्निहोत्री – पृ. 312–13
20. महाभाष्य 2.1.1
21. प्राचीन भारत का इतिहास– एन0एन0 घोष पृ0 157 इंडियन प्रेस इलाहाबाद, 1973
22. पाणिनि कालीन भारत वर्ष–बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 221 वाराणसी, 1969
23. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – जयशंकर मिश्र पृ0 598 पटना, 1974
24. अर्थशास्त्र 2.28
25. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 120
26. जातक 9 पृ0 – 251 सं0 वी फासबेल लंदन, 1877–97
27. बौधायन धर्मसूत्र 1.9.17.12 ई0 हुल्श लिपजिंग 1884
28. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स 10 पृ0 173 1926–27 जातक 8 पृ0 306
29. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशंरण शर्मा पृ0 120
30. ऋग्वेद 1.53.3.6.27.6
31. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – जयशंकर मिश्र पृ0 185
32. वाजसनेयी संहिता 17.2.1

33. महाभाष्य 2–4–10

34. महाभाष्य 6–3–91

35. महाभाष्य 4–4–18

36. महाभाष्य 2–1–1

37. पतंजलि कालीन भारत – पी0 डी0 अग्निहोत्री – पृ. 314

38. महाभाष्य 4–18,3–3–82

39. महाभाष्य 4.1.1

40. महाभाष्य 4–1–155

41. उवासगदसाव पृ0 सं0 ए0 एफ0 हार्नले, कलकत्ते, 1990

42. पतंजलि कालीन भारत – पी0 डी0 अग्निहोत्री – पृ. 315

43. वहीं पृ0 314

44. महाभाष्य 8–3–102

45. महाभाष्य 1–3–27

46. ऋग्वेद 1.122.14

47. तैत्तरीय संहिता 1.713.122.14

48. मत्स्य पुराण 5.28, विष्णु पुराण 1.15.120 वायु पुराण 66.28

49. अष्टाध्यायी 5.2.64

50. अष्टाध्यायी 4.4.9

51. जातक 5.282

52. अष्टाध्यायी 8.3.102

53. पाणिनि कालीन भारत वर्ष–बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 221 वाराणसी, 1969

54. अष्टाध्यायी 3.4.154, 6.4.95

55. अष्टाध्यायी 5.4.30

56. ऋग्वेद 8.5.38 भाग 5 पृ0 विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर 1965

57. अष्टाध्यायी 5.1.15

58. अष्टाध्यायी 5.2.5

59. अष्टाध्यायी 5.2.9

60. महावग्ग 5.2.4,

61. महाभाष्य 6.4.154

62. मनुस्मृति 10.36

63. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डेय इलाहाबाद

64. ऋग्वेद 1.34.1, 1.95.7, 1.26.17

65. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – जयशंकर मिश्र पृ0 464 पटना 1974

66. तैत्तरीय ब्राह्मण 2.1.4.2

67. पंचविश ब्राह्मण 2.1.4.2

68. ऋग्वेद 10.136.2

69. पाणिनि कालीन भारत वर्ष–बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 222–223

70. महाभारत सभापर्व 47.22.23

71. महापरिनिब्बानसुत 5.26

72. अर्थर्ववेद 6.70

73. चरक संहिता 27.181.81

अध्याय 4

धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग

लौह शिल्प :

धातु से सम्बन्धित शिल्पकारों में लोहार सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिल्पी था। भारत में लौह उद्योग की प्राचीनता विवादास्पद रही हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित धातुओं में 'अयस्'[1] का भी उल्लेख मिलता है और धातु के काम करने वाले को कर्मार[2] कहा गया है। उस व्यक्ति को जो इसे अग्नि में पिघलाने का काम करता था 'ध्मातृन्'[3] कहा जाता था तथा जो इस धातु को पीटता था उसे 'अयोहत'[4] कहा जाता था। ऋग्वेद के अनुसार कर्मार धातु को अग्नि में पिघलाता था। अग्नि को वह चिड़ियों के पंखों की धौंकनी देता था तथा सूखी लकड़ियों को जलाकर धातु को पिघलाता था, तत्पश्चात् गली हुई धातु से उपकरण एवं बर्तन बनाता था। बर्तन बनाने में उसे धातुओं को अत्यधिक पीटना पड़ता था।[5] घरेलू सामानों के अतिरिक्त धातु के विभिन्न अस्त्र–शस्त्र भी बनाये जाते थे जैसे असि, परशु, पवीर, बाण, भाला, खड्ग् आदि। ऋग्वेद में इस धातु के खंभे, कवच[7] सिर के कवच और अन्य हथियार[8] बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। लेकिन ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अयस्' को अधिकांश इतिहासकार लोहे से भिन्न धातु (ताँबा) मानने के पक्ष में हैं। उत्तरवैदिक काल में अयस् के साथ दो विशेषण लगे दिखाई पड़ते हैं – लोहित अयस् और श्याम अयस्।[9] कृष्ण अयस् से तलवार भी बनायी जाती थी। उत्तर वैदिक काल में आर्यों का प्रसार गंगा दोआब में हो गया था और वे पूर्व में सदानीरा नदी तक पहुँच गये थे। इसकी पुष्टि ब्राह्मण के विदेधमाधव वृतान्त से होती है।[10] आधुनिक इतिहाकारों की मान्यता हैं कि इस काल में ही आर्यों ने लोहे का प्रयोग आरम्भ किया। हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, नोह, अतरंजीखेड़ा, बटेसर आदि स्थानों में भालो के अग्र भाग आदि लोहे के उपकरण मिलते है[11]। ये सब स्थान कुरू–पांचाल प्रदेश में स्थित है। उत्तर वैदिक काल में कृषि कार्यों में लोहे का प्रयोग बड़े पैमाने पर होने के कारण अधिशेष कृषि उत्पादन होने लगा।

छठी शताब्दी ई0 पू0 के आते–आते लोहे के उपकरणों के निर्माण में शिल्पियों ने और अधिक दक्षता प्राप्त कर ली थी। दीघनिकाय के विवरण से पता चलता है कि लोहार धौंकनी से लोहे को पिघालकर उसे मन चाहा आकार देता था। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्धकाल के अनेकों शिल्पियों का उल्लेख मिलता है जिसमें गाँव में रहने वाले लोहार का महत्व सर्वाधिक था। लोहारों की बड़ी बस्तियाँ भी होती थी और उनकी बहुलता के आधार पर उनके गाँवों को कम्मार गाँव (कर्मकार ग्राम) भी कहा जाता था।[12] ये लोहार गाँव के लोगों के लिए विविध प्रकार के लौह उपकरणों का निर्माण करते थे। गाँव वाले इनके पास आकर कुठार (कुल्हाड़ी) फाल, चाबुक, अग्रभाग आदि बनवाते थे।[13] प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से लोहे एवं उससे निर्मित अनेक वस्तुओं की जानकारी मिलती है। जीवन के सभी क्षेत्रों में –सामाजिक, आर्थिक, सामारिक दृष्टि से लोहा अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर चुका था। बौद्ध ग्रंथों–विशेषकर विनयपिटक से ज्ञात होता है कि पात्रों का बौद्ध भिक्षुओं के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। भगवान बुद्ध ने स्थान–स्थान पर भिक्षुओं को बहुमूल्य धातुओं से दूर रहने एवं लौह तथा मिट्टी के पात्रों के प्रयोग की अनुमति दी थी।[14] भगवान बुद्ध ने लोह–कुंभ (कुम्भि/कुम्भी), लोह भाणक, लोहवारक, लोह कटाह, वासी (वसूला) फरसा, कुदाल, निखादन (रखने का औजार) भिक्षुओं को अपने पास रखने की आज्ञा दी थी।[15] भिक्षुओं द्वारा प्रयुक्त लौह कुम्भ सम्भवतः घट आकृति का पात्र रहा होगा जैसा कि कुम्भा शब्द से स्पष्ट होता हैं। जातक एवं सुत्त निपात में विशाल आकृति की लौह कुम्भी में अपराधियों को दण्डस्वरूप लटकाये जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लौह कुम्भी अधिक गहराई लिये हुए विशालकाय होती थी। लौहभाणक और लौह वारक सम्भवतः लोहे का मटका रहा होगा। लोह कटाह का अर्थ लोहे की कड़ाही से लिया जाता है। लौह–वासी लोहे का वसूला होता है। फरसा एवं कुदाल का अर्थ स्पष्ट ही हैं। महावग्ग में तेल आदि पकाने के लिए लोहे के तुम्बे के प्रयोग की अनुमति दी गयी है।[16] तुम्बा–सम्भवतः चौड़े मुख वाला घटाकृति पात्र रहा होगा। लोहे के अन्य पात्रों में लोहे के तवे[17], थाली, कमण्डल[18] आदि का उल्लेख आता है। दीघनिकाय महापरिनिब्बानसुत में

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरान्त उनके शरीर को रखने के लिए लोहमय द्रोणी का उल्लेख मिलता है।[19]

लौह निर्मित अलंकरण की वस्तुओं का भी प्रयोग किया जाता था। लोहे का कुण्डल[20] जिस पर स्वर्ण परत चढ़ी थी, लोहे की छुरी[21] जिसका उपयोग नाई एवं भिक्षु केशों के काटने के लिए करते थे जिसे आजकल उस्तुरा भी कहा जाता है और नहहरनी[22]। *उल्लेखनीय है कि बाल तथा नाखून काटने के लिए उस समय छुरा (उस्तुरा) और नहहरनी ही महत्वपूर्ण उपकरण थे क्योंकि उस युग में ब्लेड तथा नेलकटर जैसे आधुनिक उपकरण प्रचलित नहीं थे। यही नहीं लौह निर्मित सिलाई–बुनाई के उपकरणों में सुई[23] और कैंची[24] का उल्लेख मिलता है।*

बौद्ध साहित्य में लौह निर्मित उपकरणों में फाल, कुदाल, कुल्हाड़ी, खनती आदि का उल्लेख मिलता है। लोहे का फार या फाल का उल्लेख सुत्तनिपात के कासिभारछाजसुत से प्राप्त होता है।[25] इसके अतिरिक्त लोहे की ज़ंजीर पीढ़ी एवं मंच का उल्लेख प्राप्त होता है।[26] लोहे के बने हुए युद्ध सम्बन्धी हथियारों का उल्लेख मिलता है जैसे लोहे की बर्छी[27], कूट[28], बाण[29], कवच[30], तलवार[31], शूल[32] आदि। धम्मपद से विदित होता है कि बाण बनाने वाले उसे अग्नि में तपाता था और तब उसे सीधा और तीव्रतर बना सकने में समर्थ होता था।[33]

स्थापत्य के निर्माण में भी लोहे का व्यापक प्रयोग होने लगा था, ऐसी सूचना भी बौद्ध ग्रन्थों से मिलती है। लोहमय गृह[34], लौह प्राकार से घिरे अन्नागार[35], लोहे की कील[36], जंजीर[37], एवं सिटकनी[38] आदि का उपयोग किया जाता था। जंग लगने से लोहा विनष्ट हो जाता है।[39] सुई को जंग से बचाने के लिए विविध उपायों का उल्लेख विनयपिटक चुल्लवग्ग में मिलता है।[40]

लोहे का काम करने वाले को कम्मार कहा जाता था। कभी–कभी यें लोहार बड़ी संख्या में एक स्थान पर रहते थे। इनका एक मुखिया होता था। इनके गाँव से लोहे के विविध उपकरण, शस्त्र आदि पास–पास के क्षेत्रों में जाते थे[41]। लोहे के सामान को तैयार करने के लिए भट्ठी भूमि के अन्दर तक बनी होती थी जिसमें गैस प्रवाह के लिए बाहरी सिरे पर दो छिद्र होते थे जिनमें मिट्टी की बनी

वायुनलिका लगी रहती थी तथा नलिका के दोनों सिरो पर भाथी होती थी। इस भाथी पर दोनों पैरों से खड़ें होकर क्रमशः ऊपर–नीचे उठते हुए दोनों पैरों से दबाब डालकर वायु को ताप बनाये रखने हेतु पहुँचाया जाता था।[42] सर्पराज मार की श्वास–क्रिया की उपमा तेज शब्द करने वाली लोहार की भाथी से की गयी है[43] शुद्ध लौह पिण्ड तैयार करने के लिए दिन भर लोह को तपाया जाता था। इस तप्तावस्था में वह हल्का भी हो जाता था।[44] इस तैयार शुद्ध लौह पिण्ड से विभिन्न वस्तुएं बनायी जाती थी। तप्तावस्था में लोहे को पीटकर सम्भवतः उसमें जो थोड़ी बहुत अशुद्धियाँ – कार्बन आदि होती थी वह भी दूर कर ली जाती थी[45]।

नायाधम्मकहा के अनुसार लोहार हल, भाला, खड्ग के साथ घरेलू बर्तन भी बनाता था। सम्भवतः इन बर्तनों में तवा, कड़ाही, बाल्टी, कटोरी, चमचा, सँड़सी आदि रहे होंगे। लोहे को तपाकर अत्यन्त तीव्र और अकलुष इस्पात की तरह का भी निर्माण लोहार ही करता था[46]। जैन साहित्य से भी लौह उद्योग के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। आवश्यकचूर्णि में उल्लिखित अनेक औद्योगिक वर्गों में कम्मार का भी उल्लेख हुआ है। कम्मार लोहार होता था। वह सँड़सी जयकोट्ठ तथा अहिकरणी की सहायता से धातु की अनेकानेक वस्तुएं बनाता था। सुई, पिप्पलग, अवपक्क, भल्लग, पाल कण्डय, कवल्लि, तवय आदि उसके द्वारा निर्मित की जाने वाली प्रमुख वस्तुएं थी[47]।

सूत्रकाल में भी लोहे का काम करने वाले लोहकार का उल्लेख मिलता है[48]। हल, छूरा, सुई, चाकू, आदि विभिन्न वस्तुएं लोहार बनाता था। यही नही वह युद्ध संबंधी अस्त्र–शस्त्र भी तैयार करता था[49]।

पाणिनि के अष्टाध्यायी में लोहार के लिए 'कर्मार' शब्द का प्रयोग किया है और लोहा के लिए काशिका में 'कालायस' शब्द का प्रयोग किया गया है जबकि ताँबा को लोहितायस् कहा गया है। लोहार के द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले प्रमुख उपकरणों में थे भस्त्रा[50] अयोधन या घन नामक हथौड़ा[51], कुटिलिका या आँकुड़[52] जिसके कारण लोहार के लिए कौटिलिक[53] शब्द भाषा में चल गया । वह ग्रामीण लोगों के दैनिक जीवन में काम आने वाले विविध प्रकार के उपकरणों को तैयार

करता था। जैसे लोहे की बनी हुई हल की कुशी या फाल (अयोविकार कुशी)[54] और कुल्हाड़ी (द्रुघन)[55]। विदेशी लेखकों के विवरण में भी भारत में उस समय प्रचलित विविध प्रकार के शिल्प एवं उद्योगों के बारे में जानकारी मिलती है। हेरोडोटस ने ईरानी साम्राज्य के सर्वाधिक सघन जनसंख्या वाले एवं समृद्ध प्रान्तों की गणना करते समय गंधार की चर्चा बीसवीं क्षत्रपी (प्रान्त) के रूप में की है। उसके अनुसार इन भारतीय प्रान्तों से ही 486–465 ई0 पू0 के दौरान फारस की सेनाओं को यूनानियों के विरूद्ध लड़ने के लिए किराए के सैनिक प्राप्त हुए थे। आगे लिखते हुए वह बताता है कि किराये के ये सैनिक सूती वस्त्र पहनते थे और बेंत के धनुष, भालों तथा लोहे की नोकवाले बेंत के वाणों से सुसज्जित होते थे।[56]

डायोडोरस के अनुसार भारत में सोना, चाँदी के अलावा लोहे की भी अनेक खानें थी और टिन तथा अन्य धातुओं से आभूषण और युद्ध के लिए उपयोगी वस्तुएं – कवच, सिर के टोप (शिरस्त्राण) तथा हथियार बनाये जाते थे।[57] पाँचवी शताब्दी ई0 पू0 के उत्तरार्द्ध में ईरानी राजदरबार में रहने वाले प्रसिद्ध यूनानी चिकित्सिक टेसियस ने ईरानी राजा को दी जाने वाली दो विचित्र भारतीय तलवारों का उल्लेख किया है।[58] यही नहीं कर्टिअस के विवरण से पता चलता है कि भारत के लोगों को इस्पात शिल्प कि विषय में अच्छी जानकारी थी। उसके अनुसार राजा पोरस द्वारा मेसीडोनियन नरेश सिकन्दर को उपहार के रूप में जो एक सौ मुद्राएं दी गयी थीं वे भारतीय इस्पात की बनी थी।[59]

मौर्यकाल में अन्य कई शिल्पियों की तरह लोहारों को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त था। लोहारों को आर्थिक सहायता दी जाती थी और यदि कोई व्यक्ति उनकी आँख या हाथ को हानि पहुंचाता था तो उसे प्राण दण्ड की सजा दी जाती थी।[60] लोहे के शस्त्रों का इतना महत्व था कि अर्थशास्त्र में शस्त्रागार के निरीक्षक के कार्यों का अलग अध्याय में विवेचन किया गया है।[61] इस काल में तीर बनाने वाले को 'उसुकार' कहा जाता था। जो यद्यपि लोहे का ही कार्य करता था लेकिन सामान्य लोहार से उसे पृथक् शिल्पी माना जाता था। इससे स्पष्ट है कि इस काल में शिल्पगत विशिष्टीकरण की प्रकिया चरम पर थी।

मौर्य युग तक देश में अनेक प्रकार के व्यवसायों, शिल्पों और उद्योगों का विकास हो चुका था। अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। उस समय धातु उद्योग अपने चरमोत्कर्ष पर था। खानों की खुदाई और उससे सम्बन्धित विभिन्न धातुओं का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है। खानों का प्रबंध एवं निरीक्षण 'आकराध्यक्ष' नामक अधिकारी करता था। इसमें दो राय नहीं कि खानों से सोना, चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त लौह जैसी मजबूत धातुएं भी मुख्य रूप से निकाली जाती थी। आकराध्यक्ष के मुख्य कार्य थे – मूल्य, विभाग, ब्याजी, परिध (परीक्षाकार), अत्यय (क्षतिपूर्तिकार), वैधरण, दण्ड, रूप (मूल्य का आठ प्रतिशत), रूपिका तथा विभिन्न प्रकार की खानों से उत्पन्न होने वाली बारह प्रकार की धातुओं और उन धातुओं से तैयार होने वाले माल का संग्रह करना।

एवं मूल्य विभागं च ब्याजीं परिधमत्ययम्।

शुल्कं वैधरणं दण्डं रूपं रूपिकमेव च।।

खनिभ्यो द्वादशविधं धातु पण्यं च संहरेत् ।

एवं सर्वेषु पण्येषु स्थानयेन्मुख संग्रहम् ।।[62]

यही नहीं कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में आगे लिखा है कि राजकीय आकराध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि सरकारी कारखानों में तैयार धातुजनित समस्त सामानों का क्रय–विक्रय संबंधी व्यापार किसी एक ही स्थान पर स्थापित करें। यदि राजा से छिपाकर स्वर्ण आदि धातुओं को खान से निकाले, खरीदे या बेचे तो ऐसा करने वाले को राजा दण्ड दे। रत्न के अलावा यदि कोई व्यक्ति स्वर्ण आदि धातु खान से निकाले, बनाये या बेचे तो राजा उस पर दण्ड लगाकर माल का जो मूल्य हो, उससे आठगुना धन वसूल करे। यदि राजा से आज्ञा लिए बिना चोरी से अन्य खनिज पदार्थ निकाले तो राजा उसे बन्दी बनाकर उससे कठिन से कठिन काम ले। जो लोग ऐसे अपराधी की सहायता करें, उनकों भी उतना ही कठोर दण्ड दिया जाये[63]। **कृतभाण्ड व्यवहार मेक मुखमत्ययं चान्यत्र कर्तृकेत विकतृणां स्थापयेत्। आकरिकम पहरन्तमंष्टगुणं दापयेदन्यत्र रत्नेभ्यः । स्तेनमनिर्कृष्टोपजीविनं च बुद्धं कर्म कारयेत्। दण्डोपकारिणं च।** विशाल मौर्य साम्राज्य की विशाल सेना के लिए

अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण में लोहार की विशिष्ट भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। उससे जहाँ कृषि एवं दैनिक जीवन में उपयोगी उपकरणों के निर्माण की अपेक्षा की जाती थी वहीं सेना के लिए आवश्यक अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण की अपेक्षा रहती थी। मौर्य काल में लगभग सभी शिल्प एवं उद्योगों पर राजकीय नियंत्रण उस काल की प्रमुख विशेषताओं में एक था। अतः यह न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि लौहकार राजकीय नियंत्रण में सैनिक साजोसामान और अस्त्र–शस्त्र के निर्माण में लगे विशिष्ट शिल्पी थे।

मौर्योत्तर काल में लौह शिल्प के बारे में महत्वपूर्ण सूचना महर्षि पतंजलि के महाभाष्य, नागसेन के मिलिन्दपन्हों, मनुस्मृति और कुछ कनिष्क कालीन बौद्ध ग्रंथों तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से मिलती हैं। महर्षि पतंजलि को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन माना जाता है। उन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' नामक विस्तृत भाष्य लिखा है। इसमें बहुत से शिल्पकारों के बारे में भी टिप्पणी मिलती है। महाभाष्य में तक्षा (बढ़ई) के साथ ही अयस्कार का उल्लेख मिलता है[64] *वास्तव में एक दूसरे के पूरक होने के कारण आज भी लोहार–बढ़ई साथ–साथ याद किये जाते है। राजस्थान से निकली हुई यायावर जाति 'लुहार–बढ़ई[65] आज भी दोनों साथ काम करती है।* भाष्य में अयस्कार को अयस्कृत भी कहा गया है[66]। कुटिलिका (संडसी) से पकड़कर लोहे को पीटने के कारण उसे कौटिलिक भी कहते थे[65]। तक्षा के समान अयस्कार भी कृषि के लिए आवश्यक औजार बनाता, हल के फाल पीटकर नुकीला करता और कील–काँटे बनाता था। "रज्जु या अयस् (लोहे) के तार से बँधा हुआ काष्ठ खींचा जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है[68]। लोहे के तार या श्रृंखला से कील में जुड़ा हुआ अर्थात श्रृंखला से खूंटे में बंधा हुआ, पशु उससे सम्बद्ध माना जायेगा,[69] यह कथन भी एक स्थान पर मिलता है। इससे स्पष्ट है कि लोहे के तारों, श्रृंखलाओं (लम्बी जंजीरों) और कीलों तथा पशुओं के बाँधने के काम आने वाले खूंटों का प्रचलन गाँवों में था। यद्यपि रज्जू और शंकु का भी प्रयोग होता था।[70] परशु लकड़ी काटने के काम आता था।[71] यह दैनिक उपयोगी वस्तु थी। शंकुला (सरौता)[72] कुल्हाड़ी (इध्म प्रव्रश्चन)[73], हँसिया (पलाश शातन) दरात[74] तथा

अन्य इसी प्रकार की साधारण व्यवहार की वस्तुएं अयस्कृत बनाता था। कीलों की चर्चा तो अनेक स्थानों पर मिलती है।[75] लोहार का मुख्य साधन भस्त्रा (धौंकनी) चर्म की रहती थी[76] । इसी से हवा करके वह अग्नि प्रज्वलित रखता था। लोहे को तपाकर वह अयोधन[77] से पीटता था। दुर्घन और कुटिलिका[78] उसके दूसरे सहायक औजार थे। लोहार के लिए कर्मार शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो ठठेरों के लिए भी प्रयुक्त होता था[79]। कर्मकारों की सन्तान कार्मायायणि कहलाती थी[80]।

मौर्योत्तर काल में शिल्प, उद्योग तथा अन्य कलाओं पर मौर्यकालीन नियंत्रण नहीं रहा । शायद इस कारण इस काल के दौरान शिल्प एवं उद्योगों तथा विभिन्न व्यवसायों का उल्लेखनीय विकास हुआ । आरम्भिक बौद्ध ग्रंथों अथवा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दस्तकारों, शिल्पकारों की इतनी विविधता नहीं दिखाई देती जितनी इस काल के दौरान देखने में आती है। दीघनिकाय में लगभग दो दर्जन व्यवसायों का उल्लेख किया गया है।[81] लेकिन महावस्तु में राजगृह शहर में रहने वाले छत्तीस तरह के कामगारों की सूची दी गयी है।[82] इस सूची को पूर्ण नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसके अन्त में बताया गया है कि सूची में उल्लिखित प्रकारों के अलावा और भी है। मिलिन्दपन्हो[83] में पचहत्तर व्यवसायों की गणना की गयी है जिसमें से प्रायः साठ विविध प्रकार के शिल्पों से जुड़े हुए थे। इनमें से आठ शिल्प धातु–उत्पादों – सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबा, पीतल, लोहा, हीरे –जवाहरातों के काम से जुड़े हुए थे।[84] इन सबसे धातुकर्म के क्षेत्र में पर्याप्त विकास और विशेषीकरण का संकेत मिलता है। विशेष रूप से लोहा–ढुलाई के तकनीकी ज्ञान में काफी वृद्धि हो चुकी थी।[85] यह भी बताया गया है कि पीटते–पीटते काला पड़ जाने के बावजूद लोहा कारगर रहता है और एक बार जो पानी यह सोख लेता है उसे फिर नहीं निकालता। यही कारण है कि पेरिप्लस ऑफ दि इरीथ्रियन सी' में भारतीय लोहे और इस्पात का अबीसीनियाई बंदरगाहों में आयात की जाने वाली वस्तुओं के रूप में उल्लेख किया गया है।

तक्षशिला के सिरकप टीले के उत्खनन से बड़ी संख्या में लौह धातु से निर्मित वस्तुएं प्राप्त हुई है। इन्हें सामान्य तौर पर 5 वर्गों में रखा गया है –

1. गृहस्थी के उपकरण
2. शस्त्रास्त्र और कवच
3. घोड़े की लगाम और हाथियों को नियंत्रित करने वाले सामान
4. यन्त्र या उपकरण
5. विविध सामग्री (सूई, साहुल (Plummets)) (और अपरिष्कृत धातुपिण्ड (Unwrought ingots)[86]

इसी प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों के पुरास्थलों से जो लौह वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, वे अच्छी प्रकार से न तो विश्लेषित की गयी हैं और न ही उनका वर्गीकरण हो पाया है। आढ्या महोदय ने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया है और उन्होंने इन लौह वस्तुओं को मोटे तौर पर इस प्रकार वर्गीकृत किया है।[87]

(अ) कृषि –उपकरण और शिल्पियों के औजार। जैसे कुल्हाड़ी, बसूले, छेनी, रुखानी, हँसिया या दराँती और पेंच।

(ब) शस्त्रास्त्र –वाणग्र, भाले, बरछे, भाले के नोंक और उनके सॉकेट

(स) विविध वस्तुएं –छड़, कील, शिकंजा, करछुल या दर्बी, विभिन्न प्रकार के हत्थे या मूँठ।

उत्तर भारत में लौह शिल्प एवं पुरातत्व :

उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों में यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र परम्परा (P.G.W) के काल में लगभग 1000 ई0 पू0 में हो गया था। लेकिन एन0 बी0 पी0 काल में लोहे के व्यापक स्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं जिससे लौह अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणों के बड़े पैमाने पर उपयोग से लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।[88] प्रमुख लौह उपकरणों में वाणफलक, भाले के शीर्ष, बल्लभ शीर्ष, बर्छी कटार, चाकू, हँसिा, खुरपी, कीलें, बसूला, छेनी, कड़ाही तथा दीपक आदि हैं। उत्खनन से प्राप्त लौह धातुमल, धातु विगलन का संकेत देते हैं। खेती के कार्यों विशेषकर जुताई के कार्य में लोहे के बने हुए फालों के प्रयोग से गांगेय क्षेत्र की चूने से युक्त कड़ी जलोढ़क मिट्टी पर कृषि

कार्य अधिक आसान हो गया । लोहे के वर्मे (Drills), बसूले (Adzes) छेनियों एवं रूखानियों के निर्माण से विभिन्न शिल्प कार्यों विशेषकर लकड़ी की वस्तुओं के बनाने में विशेष प्रगति हुई। लोहे की लोकप्रियता के कारण ताँबे का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित होता गया। ताँबे का प्रयोग अब सिक्कों के निर्माण, अंजन शलाकाओं खिलौनों, मुद्रिकाओं (Rings) तथा मनकों आदि के बनाने में किया जाने लगा। ये सब उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा (N.B.P) के साथ मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि एन0 बी0 पी0 की तिथि प्रस्तुत शोध की समय सीमा के अन्तर्गत आती है।

ताँबा और कांसा पर आधारित शिल्प तथा उद्योग :

ताँबा मानव द्वारा प्रयुक्त धातुओं में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। हड़प्पा संस्कृति से पूर्व के ताँबे के अनेक औजार आमरी, कोटदीजी और कालीबंगा के उत्खनन से प्राप्त हुए है। कालीबंगा से प्राप्त प्रथम ताम्र – कुठार का विकसित रूप हड़प्पा संस्कृति में मिलता है।[90] हड़प्पा काल के लोग दैनिक उपयोग की वस्तुओं में ताँबा और कांसा धातुओं से निर्मित वस्तुओं का भी प्रयोग करते थे।[91] हड़प्पा संस्कृति में ताँबे के कुठार, छेंनियाँ, चाकू, भाले और तीरों के अग्रभाग, छोटी आरियां आदि मिलती है। सम्भवतः इन औजारों को बनाने के लिए ताँबे और कांसे के सुन्दर बर्तन भी बनाये जाते थे। हड़प्पोत्तर काल में भारत के बड़े भू–भाग से ताम्रनिधियाँ प्रकाश में आयी है। इनमें विभिन्न प्रकार के ताम्र उपकरण एवं दैनिक उपयोग की ताम्र निर्मित वस्तुएं सम्मिलित है।[93] ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द 'अयस्' सम्भवतः ताँबा था जिसे उत्तरवैदिक काल में लोहितायस कहा गया है।[94] ताँबे के पुरातात्विक साक्ष्य उत्तरभारत के सभी क्षेत्र से प्राप्त हुए है। विभिन्न स्थानों से प्राप्त इन ताम्र उपकरणों की प्राचीनतम् तिथि निश्चित रुप से निर्धारित करना कठिन है किन्तु इनमें से अधिकांश को सरलता पूर्वक 1000 ई0पू0 से पहले का माना जा सकता है।[95] मध्य प्रदेश स्थित गुंजेरिया नामक पुरास्थल से अब तक सबसे बड़ी मात्रा में ताम्र उपकरण मिले है।[96] यहाँ से प्राप्त ताम्र वस्तुएं अधिकतर शुद्धधातु से निर्मित हैं और उनको देखने से स्पष्ट होता है कि उन्हें हथौड़े से पीटकर बनाया गया है।

ऐसा कहा जाता है कि ये ताम्रनिधियाँ व्यापारियों के कारण इकट्ठी हो सकी थीं। इनका समय सामान्य तौर पर मुद्राओं के प्रचलन के पूर्व का माना जाता है। लेकिन इतना अवश्य कहा जाता है कि भारत के विस्तृत भू–भाग में बड़े पैमाने पर ताम्र धातु से निर्मित वस्तुओं का प्रयोग हो रहा था।[97]

ऐतिहासिक काल में रमपुरवा अशोकस्तम्भ से ताँबे का एक ठोस बोल्ट प्राप्त हुआ है। उल्लेखनीय है कि रमपुरवा उत्तरी बिहार में स्थित है। इस बोल्ट का समय अशोक स्तम्भ के आधार पर तीसरी शताब्दी ई0पू0 प्रस्तावित किया गया है। इस बोल्ट की विशेषता यह है कि इसका निर्माण ढलाई विधि से किया गया है और हथौड़े से पीटकर इसे ठीक वैसे ही परिष्कृत किया गया है जैसे गुंजेरिया पुरास्थल के ताम्र उपकरणों को।[98]

तक्षशिला से बहुत सी पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है लेकिन उनमें से ताँबा अथवा काँसा से निर्मित कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे चौथी शताब्दी ई0 पू0 के पहले का माना जा सके । सम्भवतः यही कारण था जिससे विवश होकर पुरावेत्ता मार्शल महोदय को यह सोचना पड़ा कि उत्तरवैदिक काल से ही जैसे –जैसे लोहे का प्रयोग बढ़ता गया, ताँबा और कांसा जैसी धातुओं को उसके द्वारा स्थानापन्न होना पड़ा।[99] लेकिन मार्शल महोदय की यह बात काँसे के सन्दर्भ में कुछ सीमा तक सत्य मानी जा सकती है।[100] ताँबे के संदर्भ में नहीं क्योंकि प्रथम तो तक्षशिला जैसी स्थिति सम्पूर्ण भारतीय भू–भाग में नहीं दिखाई पड़ती। द्वितीय बहुत से स्थलों से ताम्रनिर्मित वस्तुएं प्राप्त हुई हैं और उत्तरी भारत के कई राज्यों से प्रचुर मात्रा में ताम्र मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जिनका समय ई0 सन् के प्रारम्भ के पूर्व का माना जाता है। मार्शल महोदय ने अपने तर्क के समर्थन में 'पेरीप्लस ऑव दि इरीथ्रियन सी' के अज्ञातनामा लेखक के उस उद्धरण को भी महत्व दिया था जिसके अनुसार भारत में पश्चिम से ताँबा आयात किया जाता था।[101] लेकिन पेरीप्लस का समय तक्षशिला के उक्त पुरावशेषों से काफी बाद का होने के कारण मार्शल महोदय के विचार को सहजता से ग्रहण करना कठिन है। *इसके अलावा ताँबे के आयात की जहाँ तक बात है तो किसी उपभोग्य वस्तु के आयात के पीछे केवल यही तर्क नहीं होता है*

कि उक्त वस्तु की किसी देश में कमी हैं बल्कि एक दूसरा तर्क यह भी हो सकता है कि उस वस्तु का उस देश में प्रभूत भण्डार तो है लेकिन उसके दोहन की विधि इतनी व्यय साध्य है कि उस वस्तु का आयात करना ही श्रेयस्कर है। इसके आलावा वस्तु की गुणवत्ता भी देखी जाती है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल के कुछ दशक पूर्व तक ताँबे का आयात इस कारण किया जाता था क्योंकि भारतीय खानों से ताँबा निकालने और उसे साफ करने का खर्च इतना अधिक था कि आयातित ताँबा उससे सस्ता पड़ता था।[102] *सम्भवतः यह एक कारण रहा होगा जिससे पेरीप्लस के समय में ताँबे का आयात किया जाता था।*

बड़े पैमाने पर प्राचीन काल के ताम्र अवशेष और ताँबे की खानों के बारे में दक्षिणी बिहार–झारखण्ड, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं तमिलनाडु से साक्ष्य मिले है।[103] जैसे–जैसे पश्चिमी लोगों का भारत में प्रवेश बढ़ता गया, इन ताम्र स्रोतों में भी वृद्धि होती गयी और पश्चिमी देशों के साथ बढ़ते राजनयिक संबंधों के चलते ईरान, आर्मेनिया, काकेशस, दक्षिणी सीरिया, एशिया माइनर, साइप्रस तथा अन्य भूमध्यसागरीय देशों से भी ताँबा भारत आ सका।[104] स्ट्रेबों ने भारतीय ताँबे का उल्लेख तो किया है लेकिन भारत में वह कहाँ से प्राप्त होता था इसका संकेत नहीं देता।[105]

जहाँ तक प्रागैतिहासिक काल में भारत में कास्यं उपकरणों की न्यूनतम् उपलब्धता का प्रश्न है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में कभी कास्यं युग नहीं था।[106] उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि तिम्नेवेल्ली जनपद से प्राप्त कांस्य अवशेषों के निर्माण का उद्देश्य विलासिता से संबंधित था क्योंकि कांसे के किसी भी उपकरण या हथियार वहाँ से प्राप्त नहीं हुए हैं। लेकिन ताँबे के अतिरिक्त कांसा का दूसरा घटक टिन भारत में बहुत समय पहले से ही प्रयुक्त होता रहा। धारवाड़ और पश्चिमी भारत में पालमपुर, मध्यप्रदेश में रीवा, बिहार तथा उड़ीसा भारत में टिन–उत्पादक क्षेत्र रहे है।[107] फिर भी भारत में टिन का आयात सम्भवतः हिन्दुकुश, खुरासान और करदध की पहाड़ियों से होता था। मार्शल महोदय के अनुसार ये वे क्षेत्र हैं जहां से कांसे को पहली बार खोज निकाला गया क्योंकि

इस क्षेत्र में ताँबा एवं टिन के स्तर क्रमशः मिले हैं।[108] उनके अनुसार स्ट्रेबों द्वारा उल्लिखित ड्रेमियाना की खानें इसी क्षेत्र में थी। अज्ञातनामा का लेखक ने भी 'पेरीप्लस ऑव दि इरीथियन सी' में पश्चिमी देशों से भारत में टिन के आयात का उल्लेख किया है।[109]

कांस्य पर आधारित शिल्प एवं उद्योग के विकास में तकनीकी दक्षता के कारण और अधिक तेजी आयी थी। कांसे के निर्माण में मुख्य रुप से ताँबा एवं टिन का प्रयोग किया जाता था। उल्लेखनीय है कि कांसा स्वतंत्र धातु नहीं है। कभी–कभी सीसा, जस्ता और निकिल का भी प्रयोग कांसे के निर्माण में किया जाता था। हम प्लिनी के इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते कि भारत में न तो ताँबा था और न ही सीसा।[110] सीसे का सल्फाइड सीसाभश्म भारत के अनेक क्षेत्रों से प्राप्त होता है और प्रारम्भिक काल में सीमित स्तर पर इसकी खानें भी मौजूद थी। प्राचीन काल की सीसे की बहुत सी खानें राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और मद्रास में स्थित है।[111] इसके अतिरिक्त सीसा अफगानिस्तान और ईरान से भी प्राप्त किया जाता था।[112] इसका आयात पश्चिम भारतीय बन्दरगाहों से किया जाता था।[113] अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि आयातित सीसे का प्रयोग सातवाहन शासकों द्वारा किया जाता था।

ताँबा और टिन की तुलना में जस्ता तो भारत में और भी दुर्लभ रहा है। भारत में केवल राजस्थान स्थित जावर खान से ही जस्ता मिलता है।[114] खानों में स्थित विविध धातुओं से जस्ता निकालने की विधि का ज्ञान भारतीयों को थोड़ा बाद में हुआ।[115] भारत में जस्ता होनान, अल्ताई पर्वत अथवा करमान से भी आता था।[116] ताँबा और जस्ता के मिश्रण से पीतल तैयार किया जाता है। जहाँ तक पीतल की प्राचीनता का प्रश्न है, भारत में अर्थशास्त्र के पूर्व इसके बारे में किसी भी ग्रंथ से सूचना नहीं मिलती। अर्थशास्त्र में इसके लिए 'अरकुट' शब्द का प्रयोग किया गया है।[117] इसके बाद के ग्रंथों में मनुस्मृति तथा चरकसंहिता में पीतल के लिए 'रिति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[118] कुछ ऐसे पुरावशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि इस धातु का प्रयोग उत्तर पश्चिमी भारत (अब पाकिस्तान स्थित) के

कुछ भाग में होता था। ऐसे कुछ नमूने तक्षशिला से प्राप्त हुए हैं। तक्षशिला में महास्तूप के पास ही कतिपय कुषाणकालीन सिक्कों से युक्त पीतल का एक बॉक्स प्राप्त हुआ है। उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों से पीतल के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। छोटानागपुर की असुर समाधियों से भी पीतल की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं किन्तु उनकी अंतिम तिथि निर्धारित नहीं हो पायी है।[119]

जहाँ तक पीतल के प्रयोग की विधि का प्रश्न है तो इस संदर्भ में मार्शल महोदय का मत है कि सम्भवतः भारतीयों ने इसे तीसरी शताब्दी ई0 पू0 में पश्चिम से सीखा था।[120]

उल्लेखनीय है कि पीतल, ताँबा, कांसा जैसी धातुओं पर आधारित शिल्पकारी में हथौड़ा विधि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ताँबे के साथ निकिल का प्रयोग करने पर वह मिश्रित धातु बहुत अधिक प्रत्यास्थ और हथौड़ा विधि के लिए अधिक अनुकूल हो जाती है। भारत में मुख्य रूप से निकिल छोटा नागपुर क्षेत्र में ताँबा और मैग्नीशियम के साथ मिलता है।[121] निकिल बाहर से भी मंगाया जाता था। द्वितीय शताब्दी ई0 पूं0 के यूथीडेमस, एगैथेक्लीज, और पैंटेलियोन जैसे इण्डो–ग्रीक शासकों द्वारा जारी की गयी कतिपय ऐसी मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं[122] जिनके रासायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि उनका निर्माण ताँबा, निकिल तथा कुछ अन्य धातुओं के मिश्रण से हुआ था।

निकिल धातु की प्राचीनता के संदर्भ में कहा जाता है कि प्राचीन विश्व में केवल चीन को ही निकिल का मिश्रण तैयार करने की जानकारी थी। इसे वे पैंन्तुंग कहते थे जिसका मतलब कांसा होता था। यह समझा जाता है कि पश्चिमोत्तर भारत में निकिल चीन से आया था।[123] आभूषण और सौन्दर्य प्रशाधन की कुछ वैसी ही वस्तुएं (निकिल के मिश्रण से तैयार) जैसी चीन में प्रचलित थी, तक्षशिला के उत्खनन से प्राप्त हुई थीं और इनका निर्माण तीसरी से प्रथम शताब्दी ई0 पू0 के मध्य में किया गया था। चीन के युनान प्रान्त में ताँबा और निकिल के प्राकृतिक मिश्रण के साक्ष्य मिले हैं।[124] चीन के हन् राजवंश के इतिहास से पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई0 पू0 में चीन बैक्ट्रिया और भारत के मध्य अच्छे व्यापारिक संबंध

थे।[125] जबकि कतिपय विद्वानों के विचार में चीन के बजाय ईरान से भारत में निकिल आया होगा जहाँ पुरानी ताँबे की खानों से निकिल प्राप्त हुआ है।[126]

प्रारम्भिक ऐतिहासिक कालीन तक्षशिला के स्तरों से प्राप्त ताम्र एवं कांस्य निर्मित वस्तुओं को मोटे तौर पर 5 वर्गों में रखा जा सकता है।[127]

1. उपकरण एवं यन्त्र
2. गृहस्थी के सामान
3. आभूषण एवं विलासिता की वस्तुएं
4. लघुमूर्तियां
5. विविध वस्तुएं

इनमें सबसे मुख्य बात यह है कि धातुनिर्मित लघुमूर्तियों की संख्या बहुत कम है। गृहस्थी की वस्तुएं शक–पार्थियन स्तर से ही मिली हैं जबकि व्यक्तिगत रुप में प्रयुक्त की जाने वाली सौन्दर्य प्रशाधन सामग्री सभी स्तरों से प्राप्त हुई हैं। इससे इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि इन धातुओं का प्रयोग मुख्य रुप से आभूषण तथा सौन्दर्य प्रशाधन के रुप में किया जाता था। इन वस्तुओं के निर्माण में मुख्य रुप से तीन विधियां प्रयुक्त की गयी थीं[128] –

1. हथौड़े से पिटाई करना और आवश्यकतानुसार रिवेट एवं टाँका लगाना
2. ठोस और खोखला दोनों ही प्रकार की ढलाई
3. उभारदार निर्माण

तक्षशिला से प्राप्त इन पुरावशेषों के रासायनिक परीक्षण से पता चलता है कि इनके निर्माण में प्रायः शुद्ध, नरम एवं प्रत्यास्थ ताँबा प्रयुक्त हुआ था और बहुत थोड़ी मात्रा में सीसा और सल्फर का प्रयोग मिश्रण के रुप में किया गया था। इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय भारत के उस क्षेत्र के लोग ताँबा, कांसा, पीतल, सीसा, निकिल जैसी धातु–शिल्पकारी और उससे सम्बन्धित उद्योग में कितने कुशल थे। मिलिन्दपन्हों में भी सोना एवं लोहा के साथ ताँबा, सीसा, टिन आदि विभिन्न धातुओं की वस्तुएं बनाने वाले पृथक्–पृथक् वर्ग का उल्लेख मिलता है।[129] इससे स्पष्ट होता है कि धातु शिल्प एवं उद्योग में पर्याप्त

विशिष्टीकरण आ गया था। तक्षशिला से कुछ ऐसी कांस्य वस्तुएं मिली है जिसमें सीसे का प्रयोग नहीं किया गया है। उल्लेखनीय है कि सीसा धातु को सख्त बनाने का कार्य करता है। शायद यही कारण था कि चतुर्थ शती ई0 पू0 में नियार्कस को भारतीय कांस्य वस्तुओं के भुर–भुरेपन का उल्लेख करना पड़ा।

यहाँ मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि तक्षशिला अब पाकिस्तान में है जो शोध शीर्षक की दृष्टि से हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर है लेकिन यहाँ तक्षशिला के पुरावशेषों के विश्लेषण में अधिक बल दिया गया है। इसका कारण केवल यह है कि तक्षशिला की तरह भारत में मथुरा जैसे नगर भी मौर्यकाल से लेकर कुषाणों के समय तक साथ–साथ ही एक ही सत्ता द्वारा प्रशासित थे और सम्भवतः शिल्पगत विशिष्टीकरण सुदूर पश्चिमोत्तर से लेकर उत्तर भारतीय नगरों तक एक ही जैसा रहा होगा। लेकिन इसका कारण यह नही है कि तक्षशिला के अलावा किसी भारतीय नगर से ताँबे, कांसे तथा अन्य ऐसी धातुओं के पुरावशेष प्राप्त ही नहीं हुए हैं। ताँबे और कांसे के पुरावशेष भारत के अन्य कई स्थानों से मिले हैं लेकिन दुर्भाग्यवश वे न तो सूचीबद्ध किये जा सके हैं, न ही उनका सादृश्य स्थापित किया जा सका है और न ही उनका विश्लेषण किया गया है। अन्य स्थानों से भी गृहस्थी की वस्तुएं, आभूषण, उपकरण तथा धारण किये जाने वाले विविध प्रकार के सामान प्राप्त हुए है। बड़ी संख्या में किये गए उत्खननों से प्राप्त इन धातुओं के अवशेषों से स्पष्ट है कि कांस्य के आभूषण भारत के कुछ भागों में लोकप्रिय थे।[130] जहाँ तक ताँबे का प्रश्न है तो इस बारे में प्रमाण हैं कि इण्डोग्रीक शासकों से लेकर कुषाण राजवंश तक शासकों ने प्रायः ताँबे की मुद्राएं जारी किये थे। आन्ध्र–सातवाहन शासकों ने सीसे के भी सिक्के चलाये थे यह तो सर्वविदित ही है। मौर्योत्तर काल के राजनीतिक इतिहास की जानकारी पुरातत्व पर अधिक निर्भर करती है और पुरातत्व में इस काल के शासकों तथा निगमों द्वारा जारी किये गये ताँबे या कांसे के दान पत्रों एवं विविध धातुओं के सिक्कों का विशेष महत्व है। इसमे संदेह नहीं कि उस काल में भी तांबे को पवित्र धातु माना जाता था। इसका क्या कारण रहा होगा, स्पष्ट नहीं है। मेगस्थनीज ने भी इस संदर्भ में लिखा है कि चन्द्रगुप्त के

शासन में जनसमारोहों के शान में बहुमूल्य पत्थर जड़े ताम्रपात्रों द्वारा वृद्धि हो रही थी। लेकिन दुर्भाग्यवश तक्षशिला के अतिरिक्त अन्य स्थानों से इस काल के ताँबे और कांसे की ऐसी वस्तुएं नहीं मिलती जो उत्कृष्ट दस्तकारी का नमूना मानी जा सकें।

बहुमूल्य धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग:

आभूषणों के प्रति मनुष्य का आकर्षण आदिकाल से ही रहा है। धातुओं के विंषय में जैसे–जैसे जानकारी बढ़ती गयी, उसकी गुणवत्ता और मांग के अनुसार कीमतें भी बढ़ती गयी । कुछ धातुएं जो सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं, उनकी गुणवत्ता भी अधिक होने के कारण निरन्तर अधिक मूल्यवान होती गयी। यही कारण है कि सोना, चाँदी जैसी धातुएं बहुमूल्य धातुओं के अंतर्गत आती हैं। हिन्दू परम्परा में आनुष्ठानिक उद्‌देश्य से कतिपय धातुओं की पवित्रता का क्रम निर्धारित किया गया है जैसे सोना, ताँबा, चाँदी, पीतल और लोहा।[131] सौन्दर्य प्रेमी होने के कारण स्त्री–पुरूष दोनों अपने शरीर को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अलंकारों का भी प्रयोग करते रहे हैं। मनुष्य की यह सौन्दर्यप्रियता प्राग्वैदिक काल से ही रही है। मध्य गंगा घाटी में प्रतापगढ़ जनपद में स्थित मध्य पाषाणिक पुरास्थल से किसी विशिष्ट पुरुष कंकाल के साथ मनके के आभूषण मिलना निश्चित रुप से आभूषणों के प्रति मनुष्य के आकर्षण का एक प्रमाण माना जा सकता है।[132] हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के लोग मनके और ताबीज पहनते थे जो सीप की गुरिया के बने होते थे लेकिन धनिकों के आभूषण सोने और चाँदी के बने होते थे।[133] ऋग्वेद से विदित होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों स्वर्ण और रजत से बने आभूषणों में समान रुचि रखते थें दोनों अनेक प्रकार के आभूषण पहनते थे जिनमें रत्न जड़े होते थे। कानों में वे 'कर्णशोभन' तथा गले में 'निष्क'[134] नामक आभूषण धारण करते थे। आर्य स्त्रियाँ शीश पर 'कुम्ब' नामक आभूषण पहनती थीं। आभूषणों में 'कृश्न'(मोती) का व्यवहार किया जाता था– अभिवृतं कृशनैर्विश्वरुपं हिरण्यशम्यं जयतो वृहन्तम्।[135] भुज, कैमूर, नूपुर, भुजबंध, कंकण, मुद्रिका आदि आभूषण स्त्रियां भी पहनती थी। वे हाथों में 'कड़े' और पैरों में

'खादि' का प्रयोग्र करती थीं : पत्सु खादयः।[136] उत्तर वैदिक काल तक समाज में अनेक धातुओं का प्रयोग आभूषणों में होने लगा था। इनमें स्वर्ण (हिरण्य) और रजत का ही प्रायः प्रयोग होता था। आभूषण को बनाने के लिए सोने–चाँदी को गलाने का उल्लेख मिलता है। तस्मादश्मनोइयों धमन्ति अयसो हिरण्यम्।[138] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'निष्क' के विनियोग से 'निष्ककण्ठ' नामक आभूषण गले में पहना जाता था।[139] सोने और चाँदी के अनेक प्रकार के आभूषणों का उल्लेख अथर्ववेद में भी हुआ है।[140] सोने के आभूषण बनाने वाले शिल्पी को हिरण्यकार' कहा जाता था।[141]

वैयाकरण पाणिनि ने 'अंगुलीय' (अँगूठी), 'कर्णिका' (कान का आभूषण), 'ललाटिका' (ललाट का आभूषण), 'ग्रैवेयक' (गले का हार), 'कुम्बा' (स्त्रियों के केशों का अलंकरण) आदि आभूषणों का वर्णन किया है[142] जो प्रायः सोने–चाँदी के बने होते थे। सोने–चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं से आभूषण तैयार करने वाले शिल्पी–स्वर्णकार, कसौटी पर सोना कसने में कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हें 'आकर्षिक' कहा जाता था : आकर्षे कुशलः आकर्ष इति सुवर्ण परीक्षार्थो निकषोपलः।[143] कसौटी लेकर जो लोग घरों में जाकर सोना कसते और उसका बान बनाते थे, उन्हें भी आकर्षित कहा जाता था – आकर्षेण चरति आकर्षिकः।[144] पाणिनि ने सुनारों की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है – निष्टापति सुवर्णम (निसस्तपतावनासेवने)।[145] इस वाक्य का ठीक अर्थ यह था – 'वह सोने की आंच में केवल एक बार तपाता है' इसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार समझनी चाहिए। अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ तीन तरह के ग्राहकों का काम निपटाता है। पहले वे जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना–चाँदी लाते हैं। दूसरे वे जो पुराने आभूषण लाकर देते हैं कि उन्हें गलाकर फिर नए गहने बनाये जायें। इन दोनों के सोने को लेकर वह उसे बार–बार तपाता और पीटता या बढ़ाता है। उसके लिए भाषा का प्रयोग 'निस्तपति सुवर्णम' था। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिए नहीं, बल्कि सफाई और चमकाने के लिए ले आते हैं। सुनार उन्हें लेकर एक बार अग्नि में तपाता है और रगड़कर या बुझाकर उन्हें फिर

नए जैसा चमकीला कर देता है। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही भाषा में 'निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकारः' प्रयोग चलता था।[146]

अष्टाध्यायी के भाष्यकार पंतजलि ने भी महाभाष्य में आभूषण निर्माण करने वाले शिल्पियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार अलंकार प्रायः सुवर्ण के होते थे। वैसे तो मुक्तामणियाँ भी पहनी जाती थीं लेकिन सामान्यतः उनका प्रयोग धनी वर्ग तक ही सीमित था। मणिकार (आभूषण बनाने और बेचने वाले), वैकटिक (हीरे, मणियाँ कातने –तराशने वाले), रँजक (रंगरेज), मालाकार और सौगन्धिक सज्जा में सहायक शिल्पी थे। अलंकारों में जो आढ्यंकरण[147] (सौन्दर्यवर्धक) और सुभंगकरण माने जाते थे, भाष्यकार ने सुवर्णालंकारों का उल्लेख किया है और वह भी विशेषकर स्त्रियों के संदर्भ में। 'कन्या को अलंकृत करता है[148] वाक्य के साथ उन्होंने सुवर्ण का अलंकार पहनने वाले पुरुष का भी उल्लेख किया है।[149] पुरुषों के आभूषणों में अंगद, कुण्डल और किरीट महत्वपूर्ण थे।[150] अंगद भुजाओं में पहना जाता था। कुण्डल वर्तुलाकार कर्णाभाषूण होता था। किरीट शिरोभूषण होता था। ग्रैवेयक[151] ग्रीवा या कण्ठ में पहना जाता था, जिसे कण्ठा भी कहा जाता है। यह मोटा तथा कम लम्बा होता था और कण्ठ से सटा रहता था। ग्रैवेयक पुरुष और स्त्री दोनों पहनते थे।

स्वर्णकारों द्वारा स्त्रियों के लिए विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार किये जाते थे जिनमें अंगुलीय[152] रुचक, कटक, वलय, स्वस्तिक, कुण्डल, बध्र और पुटक[153] उल्लेखनीय है। कटक कलाई में पहने जाते थे। स्वस्तिक के आकार के 'स्वस्तिकों' को कानों में पहनने की प्रथा थी। वध्र सोने की मजबूत माला के समान बनते थे और कण्ठ तथा कटि में पहने जाते थे। *'कर्णिका' कान में पहनी जाने वाली बालियाँ थीं और ललाटिका मस्तक पर लटकाने वाला सोने का तिलक[154] जिसे आज की शब्दावली में 'माथ बेंदी' कहा जा सकता है।* 'कर्णवेष्टक' कान के आभूषण थे, जो मुख की सौन्दर्य वृद्धि में सहायक माने जाते थे।[156]

महाकाव्यों में जिस तरह के अलंकरण विषयक उल्लेख मिलते हैं उससे भी तत्कालीन समाज में स्वर्णकारों की कुशल शिल्पकारी का संकेत मिलता है।

महाकाव्यों में भी स्त्री–पुरुष दोनों के विविध आभूषणों का विवरण मिलता है।[156] ये आभूषण स्वर्ण और रजत के तो होते ही थे, साथ ही हीरे–जवाहरात जैसे विभिन्न मूल्यवान रत्नों से मंडित भी होते थे। कुण्डल, मुक्ताहार, कंठसूत्र, मेखला, केयूर, चूड़ामणि, वलय, अंगद, अंगुलीयक, नूपुर आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण तत्कालीन समाज में प्रचलित थे जिन्हे स्त्री–पुरुष दोनों पहनते थे। अभिजात वर्गों के आभूषण सोने–चाँदी और जवाहरातों के होते थे तथा सामान्य और निर्धन व्यक्तियों के पीतल, मूँगा, कौड़ी आदि के होते थे।[157]

बौद्धग्रंथों से भी स्वर्णकारी के विषय में जानकारी प्राप्त होती हैं। विभिन्न बौद्धग्रंथों में विविध प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है जिनमें अंगूठी (मुद्रिका या पट्टिका), कुंडल (वल्लिका), गले का हार (कायूर या ग्रैवयक), कंकण (कंगन या ओवन्तिका), मेखला, चूड़ी (हत्थरण), कर्णफूल (पामंग) आदि विविध प्रकार के अलंकार स्त्री–पुरुष द्वारा पहने जाते थे।[158] स्वर्णकारों द्वारा तैयार इन आभूषणों में प्रायः बहुमूल्यरत्न भी जड़े जाते थे। मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शिला, लोहितंक, मसारगल्ल, प्रवाल आदि अलंकारों में जड़े जाने वाले बहुप्रचलित रत्न थे, जिन्हें स्त्री–पुरुष सभी अलंकार–प्रिय थे और स्वर्णाभूषणों के प्रति विशेष रुचि रखते थे। कुस जातक में उल्लिखित है कि एक स्वर्णकार द्वारा बनाया गया आभूषण इतना सुन्दर और अद्वितीय उतरा था, जो अवर्णनीय था।[160] मज्झिम निकाय में वर्णित है कि एक रत्नकार ने आकर्षक 'वेलुरिय' नामक रत्न को आठ पहलों में तराशकर अत्यन्त आश्चर्यजनक बनाया। वह जब पीत वस्त्र में जड़ा गया तब उसकी चमक चतुर्दिक फैलने लगी थी: **नेक्खं जम्बों नदं दक्खं कम्मार पुत्त उक्का मुखे सुकुसुलसपहट्ठं पंडुकम्बले निक्खितं भासति च विरोचति च।**[161] इसी प्रकार के एक अन्य विवरण के अनुसार विशाखा के विवाह के अवसर पर पाँच सौ स्वर्णकार आभूषण बनाने के लिए बुलाए गए थे। रत्नजटित आभूषणों की इतने अधिक परिमाण में आवश्यकता थी कि उन्हें बनाने के लिए बहुत से स्वर्णकारों को नियुक्त करना पड़ा था जो चार मास में भी उन्हें नहीं बना सकते थे।[162]

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि स्वर्णकारों की पृथक् बस्तियाँ नहीं होती थीं जैसा कि लुहारों की होती थीं[163] बल्कि वे नगरों में ही रहते थे। अर्थशास्त्र में सोना और चाँदी के बर्तन व आभूषण बनाने वालों का अलग अध्याय में विवेचन किया गया है।[164] कौटिल्य ने उसमें अलंकार, तार खींचने और मणि जड़ने आदि का पूरा वर्णन किया है। स्वर्णकार आभूषणों के अलावा सोने–चाँदी के सिक्के भी बनाते थे। अर्थशास्त्र में सिक्कों के बनाने की मजदूरी अलग–अलग सिक्कों के अनुसार लिखी है।[165]

ऐतिहासिक काल में भारत में स्वर्णकारों को कच्चे माल की आपूर्ति के बारे में ग्रीको–रोमन लेखकों के विवरण से छिटपुट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। हेरोडोटस ने लिखा है कि भारत के निवासी ईरान को कर के रुप में 360 टेलेंट सोने का चूर्ण देते थे। यह सोना भारत स्थित पूर्वी मरुस्थल से प्राप्त होता था। इस पूर्वी मरुस्थल की पहचान सिन्ध से की जाती है।[166] स्ट्रैबों के मतानुसार भारत में सोना और चाँदी राजा सोफीथियस के देश के निकट स्थित पर्वतों से प्राप्त होता था, इसकी पहचान झेलम नदी के पूर्व या पश्चिम में स्थित पंजाब के क्षेत्र के रुप में की जाती है। इन्ही तथा कुछ अन्य पाश्चात्य लेखकों ने भारत में 'सोना खोदने वाली चींटियों' के बारे में चमत्कारपूर्ण विवरण छोड़े हैं।[167] लेकिन अत्याधिक वाद–विवाद के बावजूद ऐसी चींटियों के अस्तित्व के विषय में अभी तक स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने इस शब्दावली से यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में सोने का आयात होता था। यह सम्भवतः अफगानिस्तान, चीन, तुर्किस्तान, साइबेरिया, तिब्बत, वर्मा और मलाया से आता रहा होगा।[168] कुषाणों के शासनकाल में सोने की माँग और अधिक बढ़ गयी थी क्योंकि उन्हें सिक्के बनाने के लिए अधिक सोने की आवश्यकता थी। इस कारण कुषाण शासकों को सोने का आयात करना पड़ा था लेकिन वे इसे कहाँ से मंगाते थे, इसकी पहचान करना कठिन है।

इसी प्रकार चाँदी के स्रोत के बारे में भी मतभेद है वैसे तो भारत में हड़प्पा काल में भी चाँदी की वस्तुएं मिली हैं, लेकिन इसके लिए चाँदी कहाँ से आती थी, यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। *भारत में सीसे के साथ चाँदी बिहार, उड़ीसा,*

मध्यप्रदेश और कुल्लूघाटी से प्राप्त होती है। लेकिन सीसे के अयस्क के साथ चाँदी के खनन की प्रक्रिया बहुत खर्चीली होती है। ऐसी प्रक्रिया सिर्फ मैसूर स्थित कोलार खान में अपनायी जाती रही है जहाँ चाँदी–सोने के साथ प्राप्त होती है।[169] चाँदी का खनन रजतमय सीसाश्यम जमावों से किया जा सकता है। भारत में इस प्रकार के अनेक जमाव हैं और उनमें से कई में कार्य भी हो चुके हैं। इस प्रकार के अनेक जमाव हैं और उनमें से कई में कार्य भी हो चुके हैं। इस प्रकार का एक जमाव अजमेर में तथा कुछ अन्य दक्षिणी अफगानिस्तान में है।[170] चाँदी सम्भवतः पंजशीर घाटी, हेरात और आक्सस के उत्तरी राज्यों से आयात की जाती रही होगी।[171] स्ट्रैबों ने चाँदी का एक स्रोत पंजाब भी बताया है।

सोने– चाँदी के आभूषण सिंधु सभ्यता के बाद तक्षशिला क्षेत्र से खोज निकाले गये हैं। उनमें से कुछ स्वर्णाभूषण भीर टीले से प्राप्त हुए हैं जिनका समय पाँचवी शताब्दी ई0 पूर्व से द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 के पूर्वाद्ध के मध्य रखा गया है।[172] ज्यादातर आभूषण जो सिरकप टीले से प्राप्त हुए हैं वे विदेशी अनुकृति के हैं। वे भरहुत और साँची तथा अन्य स्मारकों की नक्काशी में उकेरे गये आभूषणों से भिन्नता लिये हुए हैं। इन पर ग्रीक, ग्रीको–रोमन और यदा–कदा सीथियन और सर्मेटियन प्रभाव स्पष्ट रुप से दिखायी पड़ता है। स्वस्तिक, नन्दिपद जैसे कुछ भारतीय चिह्न ही कतिपय आभूषणों में देखें जा सकते हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन आभूषणों के निर्माता–शिल्पी कौन थे ? अर्थात् वे भारतीय स्वर्णकार थे अथवा विदेशी स्वर्णकार ? वैसे इन आभूषणों की डिजाइन और निर्माण की तकनीक को देखते हुए सरसरी तौर पर कोई व्यक्ति इन्हें विदेशियों की कृति कह सकता है। जहाँ तक इस क्षेत्र की स्थिति का प्रश्न है तो राजनीतिक दृष्टि से तक्षशिला एक ऐसा क्षेत्र रहा है जहाँ विदेशियों का सतत् आवागमन होता रहा और बड़ी संख्या में यहाँ विदेशी निवास करते रहे, शासन एवं व्यापार करते रहे। मार्शल महोदय का विचार है कि सिरकप टीले से प्राप्त आभूषणों की डिजाइन से पता चलता है कि भारतीय दस्तकारी पर विदेशी प्रभाव पड़ा था। यह भी संभव है कि इस क्षेत्र के बहुत से दस्तकार–स्वर्णकार विदेशी और विशेषकर यूनानी थे। ऐसे में

इन आभूषणों का निर्माण इन विदेशी स्वर्णकारों ने किया हो, इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता। जहाँ तक इन आभूषणों में कुछ पर भारतीय चिह्न के अस्तित्व का प्रश्न है तो कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के मंदगति के संक्रमण से ऐसा संभव हो सका हो।[173]

तक्षशिला के सिरकप टीले से प्राप्त स्वर्णाभूषणों के निर्माण में प्रयुक्त साँचों और ठप्पे को देखने से पता चलता है कि उनमें जो तकनीकी प्रक्रिया अपनायी गयी थी, वह साधारणतया विदेशी थी। साँचे प्रायः पत्थर के बने हैं और वे दो तरह के हैं – बंद और खुले। इनसे ठोस और खोखले या पोलदार आभूषण तैयार किये जाते थे। ठप्पे या तो ताँबे के बने हैं या कांसे के। इनके निर्माण में कणिकायन और जरदोजी की तकनीकें प्रयुक्त हुई हैं। यही नहीं तक्षशिला के स्वर्णकारों को आभूषणों में मणि या रत्न जटित करने की कला भी ज्ञात थी। यह कला भारत की अपनी कला है या बाहर से आयी है इसके बारे में निश्चित रुप से तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता हैं कि सिकंदर के आक्रमण के बाद ही भूमध्यसागरीय लोगों को इसकी जानकारी हो सकी थी।[174] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मणि जटित करने की कला सम्भवतः भारतीय थी।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद संहिता विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान होशियार, 1964।

2. ऋग्वेद 10.72.2।

3. वही 5.9.5।

4. वही 5.9.5।

5. वही 10.72.2, 5.95, 5.30.15, 9.12।

6. वही 1.162.2।

7. वही 5.54.11,7.7.15।

8. वही 5.63।

9. अथर्ववेद 9.5.4, यजुर्वेद 18.13

10. शतपथ ब्राह्मण (अनु0) गंगा प्रसाद उपाध्याय गोविन्दराम हासानंद, नई दिल्ली, 1988 ई0

11. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया ए0 घोष पृ0 5–11 शिमला, 1973 ई0।

12. दीघनिकाय 2–88।

[13] जातक 3–281 के आगे 5–45

[14.] विनय पिटक, चुल्लवग्ग 5.1–10 (द्वि. अ0) पृ0 423।

[15.] वही 6.5.3 पृ0 207 ।

[16.] विनय पिटक महावग्ग 6.2.1।

[17.] अंगुत्तरनिकाय खण्ड 3 पृ0 207।

[18.] चल्लुनिद्देश, खुद्दक निकाय खण्ड पृ0 268–69, 290।

[19.] महापरिनिब्बानसुत्त 4.5।

[20.] संयुक्त निकाय 1.3.2 पृ0 75।

[21.] विनय पिटक, चल्लुवग्ग 5.3.6।

[22.] वही 5.3.5।

[23.] विनयपिटक, चुल्लवग्ग 5.1.12।

[24.] वही 5.3.6।

[25.] सुत्तनिपात 1.4।

[26.] सुत्तनिपात 1.4।

[27.] सुत्तनिपात, काकालिका सुत्त (द्वि0 अ0) पृ0 71।

[28.] वही 3,10 पृ0 179।

[29.] धम्मपद पंडितवग्गो पृ0 37।

[30.] अंगुत्तर निकाय खण्ड 3 पृ0 253।

[31.] जातक, असिलखक्या जातक सं0 126।

[32.] महानारद काश्यप जातक संख्या 544।

[33.] बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स, बर्लिगेम 29.2 पृ0 168।

[34.] अयोधर जातक सं0 510।

[35.] संयुक्त निकाय 2.14.1.6।

[36.] मज्झिम निकाय बालपंड़ित सुतन्त 2.1.6 (द्व0 अ0) पृ0 229।

[37.] संयुक्त निकाय 1.3.1.10 (द्वि0 अ0) पृ0 73।

[38.] विनयपिटक, चुल्लवग्ग पृ0 –236।

[39.] धम्मपद, मल्लवगों, पृ0 109।

[40.] विनयपिटक, चुल्लवग्ग 5.1.12।

[41.] सूची जातक ।

[42.] प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म, प्रिया श्रीवास्तव पृ0 208।

[43.] संयुक्त निकाय पृ0 106 (द्वि0 अ0) भाग एक पृ0 360।

[44.] दीघनिकाय 2.10.1.3।

[45] मेटल्स एण्ड मेटलर्जी – एम0 एन0 बनर्जी, आई0 एच0 क्यू0 3।

[46] नायाधम्मकहा 1 पृ0 42।

[47] आवश्यकचूर्ण 2.59।

[48] बौधायन श्रौतसूत्र 6.13।

[49] आश्वलायन गृहसूत्र 3.12, 9.10।

[50] अष्टाध्यायी 7.3.47।

[51] वही 3.3.82।

[52] वही 4.4.18।

[53] वही 4.4.42।

[54] वही 4.1.42।

[55] वही 3.3.82।

[56] भारत का इतिहास–रोमिला थापर पृ0 51 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1975।

[57] डायोडोरस 2.36।

[58] मेटालर्जी इन एंटीक्यूटी – फोर्ब्स पृ0 438।

[59] अर्ली इंडियन इकोनामिक्स–जी0 एल0 आढ़्या पृ0 49।

[60] सोशल एंड रूरल इकोनामी आफ नार्दन इंडिया–ए0 एन0 बोस पृ0 239।

[61] अर्थशास्त्र–कौटिल्य 2.18।

[62] वही 2.12.23।

[63] वही 2.12।

[64] महाभाष्य 2.4.10।

[65] पतंजलि कालीन भारत–पी0 डी0 अग्निहोत्री पृ0 313।

[66] महाभाष्य 6.3.91 पृ0 365।

[67] वही 4.4.18।

[68] वही 8.3.37 पृ0 422।

[69] वही 2.1.1 पृ0 243।

[70] वही 5.1.2 पृ0 294।

[71] वही 1.4.23 पृ0 156।

[72] वही 2.1.1 पृ0 285।

[73] वही 2.2.8 पृ0 324।

[74] वही 2.1.32।

[75] वही 2.2.6 पृ0 339।

[76] महाभाष्य 7.3.47 पृ0 191।

77. वही 3.3.82।

78. वही 3.3.82।

79. वही 4.1.55 पृ0 140।

80. महाभाष्य 1.4.23 पृ0 156।

81. दीघनिकाय

82. महावस्तु (सं0) ई0 ।।। सेनार्ट पृ0 442 – 43 पेरिस 1832–97।

83. मिलिपन्दों (सं0) वी0 ट्रेंकनर, लंदन 1982 (अनु0) टी0 डब्लू0 रीजडेविड्स एसबीईआक्सफोर्ड 1890–94।

84. वही पृ0 33।

85. वही ।।। 415।

86. तक्षशिला – सर जान मार्शल पृ0 533।

87. अर्ली इंडियन इकोनामिक्स – जी0 एल0 आद्या पृ0 51–52।

88. पुरातत्व विमर्श – डॉ0 जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 566 इलाहाबाद 2000।

89. वही पृ0 567।

90. दि बर्थ आफ इंडियन सिविलाइजेशन – त्रिजेड एवं आलचिन दम्पत्ति पृ0 280।

91. मार्शल एम0 आई0 सी0 पृ0 30।

92. दि बर्थ आफ इंडियन सिविलाइलजेशन –त्रिजेड एवं आलचिन दम्पत्ति पृ0 280।

93. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय।

94. अथर्ववेद 9.5.4, 11.3.7।

95. इंडियन आर्कियोलॉजी 1905 पृ0 240 (दि कापर एज–स्मिथ)।

96. वही 233।

97. अर्ली इंडियन इकोनामिक्स – जी0 एल0 आद्या पृ0 54।

98. कापर इन एंशियट इंडिया – पी0 नियोगी पृ0 18–20।

99. तक्षशिला – मार्शल पृ0 564।

100. ए आई, ग्प्प 53 – 57 (ऐन एक्जामिनेशन आफ सम मेटल इमेज्स फ्राम नालन्दा–लाल)

101. पेरीप्लस – 28, 49, 56।

102. इंडियाज मिनरल वेल्थ – कजिन ब्राउन पृ0 86।

103. वही 90।

105. तक्षशिला – मार्शल पृ0 566।

105. अर्ली इंडियन इकोनॉक्सि – जी0 एल0 आढ़या – पृ0 55।

106. दि कापर एज – स्मिथ पृ0 229।

107. इंडियज मिनरल वेल्थ – कजिन ब्राउन पृ0 103।

108. तक्षशिला – मार्शल पृ0 566।

109. पेरीप्लस 28,49, 56।

110. नेचुरल हिस्ट्री प्लिनी XXXX पृ0 163

111. इंडियज मिनरल वेल्थ – कजिन ब्राउन पृ0 103।

112. तक्षशिला – मार्शल पृ0 566।

113. पेरीप्लस 56।

114. इंडियज मिनरल वेल्थ – कजिन ब्राउन पृ0 96।

115. कापर इन एंशियंट इंडिया – पी0 नियोगी पृ0 41।

116. तक्षशिला – मार्शल पृ0 571।

117. अर्थशास्त्र 2.12।

118. चरक संहित 111.4 . V- 26 मनुस्मृति 5.114

119. जेबीओआरएस 1920 पृ0 392 (एस0 सी0 राय, डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड नेचर आफ असुर साइट्स इन छोटानागपुर)।

120. तक्षशिला – मार्शल पृ0 571।

121. इंडियाज मिनरल वेल्थ – कजिन ब्राउन पृ0 134–35।

122. दि इन्डों – ग्रीक्स – नरायन पृ0 181।

123. तक्षशिला – मार्शल पृ0 571–72।

124. ए कम्पेनिडियम ऑफ मिनरल्स एण्ड स्टोन्स – रीड एण्ड पैक पृ0 4

125. चाइनीज आर्ट – बुशेल पृ0 12।

126. सिनोलाजिका, 1958 पृ0 2.8 (आर्कियोलाजिकल एवीडेन्स फारचाइनीज कानटैक्स् विथ इंडिया ड्यूरिंग दि हन डायनेस्टी – कामन)।

127. अर्ली इंडियन इकोनिामिक्स – जी0 एल0 आढ़्या पृ0 58।

128. वही।

129. मिलिन्दपहों 5–4 पृ0 323।

130. कुम्रहार एक्कैवेशन – अल्टेकर एण्ड मिश्र पृ0 1310 – 31।

131. एंशियंट इंडियन न्यूमिस्मेटिक्स – एस0 के0 चक्रवर्ती पृ0 63।

132. पुरातत्व विमर्श – डॉ0 जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 313, इलाहाबाद –2000।

133. दि बर्थ ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन, – त्रिजेट एण्ड रेमंड आलचिन पृ0 284 – 85।

134. ऋग्वेद 8.7.83, 1.33.10।

135. ऋग्वेद 6.138.3, 1.3.5.4।

136. ऋग्वेद 6.166.9, 5.54.11।

[137] ऋग्वेद 5.54.11।

[138] शतपथ ब्राह्मण 6.13.5 ।

[139] ऐतरेय ब्राह्मण 8.22।

[140] अथर्ववेद 5.2.28।

[141] ऋग्वेद 1.43.5।

[142] अष्टाध्यायी 4.3.62–65।

[143] अष्टाध्यायी 5.2.64।

[144] अष्टाध्यायी 4.4.9।

[145] अष्टाध्यायी 8.3.102।

[146] पाणिनि कालीन भारतवर्ष – वी0 एस0 अग्रवाल पृ0 224–25 वाराणसी 1969।

[147] महाभाष्य – पतंजलि 3.2.56 पृ0 220।

[148] वही 2.2.56 पृ0 418।

[149] वही 2.2.16।

[150] वही 1.3.2.पृ0 18।

[151] वही 3.2.9।

[152] वही 4.3.39 पृ0 233।

[153] वही 3.1.26 पृ0 79।

[154] वही 4.3.65।

[155] काशिका 5.1.99।

[156] रामायण – युद्धकाण्ड 116.31।

[157] रामायण 1.58.11, महाभारत 13.48.32–33।

[158] मज्झिम निकाय 3 पृ0 243, अंगुत्तरनिक 3 पृ0 16।

[159] अंगुत्तर निकाय 4 पृ0 199, 255–58, 262 जातक 1 पृ0 251, जातक 2 पृ0 6।

[160] जातक 5 –282।

[161] मज्झिम निकाय 3.102।

[162] बुद्धिस्त लीजेन्ड्स –बर्लिंगेम 29, 2 पृ0 65–66।

[163] दीघनिकाय 2.88, मिलिन्दपन्हों 331।

[164] अर्थशास्त्र –कौटिल्य 2,12 के आगें

[165] कौटिल्य (म्यूनिक) 4,1।

[166] हेरोडोटस प्प 94–98।

[167] हेरोडोटस प्प 102–26, स्ट्रैबो ग्ट 1.37 ह 703।

[168] तक्षशिला – मार्शल पृ0 620।

[169] इंडियाज मिनरल वैल्थ – कजिन ब्राउन एण्ड डे पृ0 140।

[170] अर्ली इंडियन इकोनामिक्स – जी0 एल0 आढ्या पृ0 62।

[171] तक्षशिला – मार्शल ।

[172] तक्षशिला – मार्शल ।

[173] अर्ली इंडियन इकोनॉमिक्स – जी0 एल0 आढ्या

[174] एएसआर 1902 –03 पृ0 191 (बुद्धिस्ट गोल्ड ज्वेलरी – मार्शल)

अध्याय 5

मृत्तिका, प्रस्तर एवं काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग

साहित्य एवं पुरातत्त्व दोनों से ही प्राचीन भारत में मृत्तिका, प्रस्तर और काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योगों के प्रचलन की सूचना मिलती है। मृत्तिका शिल्प से जुड़े वर्ग के लोगों को 'कुलाल' कहा जाता था जिन्हें आज कुम्हार या कुम्भकार कहा जाता है। साहित्यिक परम्परा में इस वर्ग के विकास के बारे में सूचना वैदिक साहित्य से ही मिलने लगती है, किन्तु मिट्टी पर आधारित शिल्प एवं उद्योग पहले से ही उन्नति पर था, इसमें संदेह नहीं है। भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही मिट्टी के बर्तनों का निर्माण होने लगा था। इस सन्दर्भ में बागोर (भीलवाड़ा जिला, राजस्थान)[1], आदमगढ़ (होशंगाबाद, मध्य प्रदेश)[2], भीम बैठका (रायसेन मध्यप्रदेश)[3], लेखहिया[4](मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश) और चोपनीमाण्डो[5] (इलाहाबाद, उ0प्र0) जैसे मध्य पाषाणिक पुरास्थलों का उल्लेख किया जा सकता है जहां से मृदभाण्डों के बहुसंख्यक टुकड़े मिले हैं। यह बाद दूसरी है कि ये अनगढ़, बेडौल और हस्तनिर्मित हैं। साहित्य में ऋग्वैदिक काल से ही कुम्भ और उसके विभिन्न प्रयोगों के बारे में जानकारी मिलने लगी है। 'शतं कुंभान असिंचतं सुरायाः'[6] 'शतं कुंभान असिचतं मधूनाम्'[7] और हिरण्यस्य इव कलशं[8] आदि पदावलियों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में मिट्टी के बर्तनों का न केवल निर्माण हो रहा था अपितु इनका दैनिक जीवन में विभिन्न प्रयोग भी होता था। उत्तर वैदिक काल में अन्य शिल्पियों के साथ 'कुलाल' का भी उल्लेख मिलता है।

तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमोनमः।

कुलालेभ्यः कर्मकारेभ्यश्च वो नमोनमः।।[9]

पुरातात्त्विक साक्ष्यों की दृष्टि से अधीतकाल (600ई0पू0 से 100 ई0 तक) उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा या एन0बी0पी0 काल माना जाता है। एन0बी0पी0 के विकास की दो अवस्थाएं मानी जाती है[10] –

(1) प्रथम अवस्था (600ई0पू0 से 300 ई0पू0 तक)

(2) द्वितीय अवस्था (300ई0पू0 से 100 ई0 तक)

एन0बी0पी0 काल में ही उत्तर भारत में तीव्रगति से नगरीकरण हुआ।[11] अब तक एन0बी0पी0 काल से सम्बन्धित अनेक पुरास्थलों का उत्खनन हो चुका है। इनमें से अधिकांश वे नगर थे जो शिल्प एवं उद्योग के केन्द्र भी थे। ऐसे पुरास्थलों में तामलुक (पं0 बंगाल), पटना, राजगिर, चम्पा, वैशाली (बिहार), श्रावस्ती, कौशाम्बी, अतरंजीखेड़ा, मथुरा, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर (उ0प्र0), एरण, सांची, उज्जैन, माहेश्वर, त्रिपुरी (मध्य प्रदेश), प्रकाश, बहाल, नासिक, नेवासा, कौडिन्यपुर (महाराष्ट्र) और अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा (आन्ध्र प्रदेश) आदि उल्लेखनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पात्र परम्परा का मूल स्थान मध्य गंगाघाटी था, जहाँ पर स्थित स्थानों से ये अधिक संख्या में उपलब्ध हुए है। व्यापार के द्वारा तथा अन्य सांस्कृतिक सम्पर्को के फलस्वरूप यह पात्र परम्परा पश्चिम की ओर तक्षशिला (सम्प्रति पाकिस्तान में स्थित) तक और दक्षिण–पश्चिम में नासिक तक पहुँची और दक्षिण में अमरावती तक इसका प्रसार हुआ। उत्तर पश्चिम में बेग्राम (अफगानिस्तान) और उत्तर में तिलौराकोट (नेपाल की तराई) तथा बानगढ़ और पहाड़पुर (बांग्लादेश) पूर्व में स्थित पुरास्थल है।[12]

मिट्टी उद्योग के अन्तर्गत बर्तन निर्माण, ईंट निर्माण, खिलौनों एवं मनके का निर्माण मुख्य रूप से सम्मिलित था। बौधायन श्रौतसूत्र से ज्ञात होता है कि अश्वमेघ यज्ञ के समय कुलाल की भी आवश्यकता पड़ती थी। राजा उसे आमंत्रित करता था और छोटी–बड़ी ईंट तथा पोत बनाने का आदेश देता था जो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के लिए अनिवार्य था।[13]

बर्तन निर्माण :

कुम्हार ग्रामीण शिल्पकारों में प्रमुख थे। ये न केवल ग्रामीणों अपितु नगरवासियों के लिए भी मिट्टी के पके हुए बर्तनों की आपूर्ति करते थे। बर्तन बनाने के लिए उपयुक्त प्रकार की मिट्टी कुम्हार स्वयं खोदकर लाते थे, मिट्टी को तैयार कर और उससे मिट्टी के बर्तन बनाने का काम कुम्हार अपने घर के एक हिस्से में करते थे जो इनकी शिल्पशाला या कार्यशाला के रूप में होता था।[14] इस

भाग में कुम्हार का चाक स्थापित होता था। तैयार मिट्टी से बर्तन बनाने के बाद उन्हें आवश्यकतानुसार धूप या छाया में सूखने के लिए रख दिया जाता था। तत्पश्चात सूखे हुए बर्तनों को कुम्हार आँवें में पकाते थे। आँवा कुम्हार के घर के पास ही किन्तु बस्ती के बाहर स्थित होता था। कुम्हार को मिट्टी के बर्तनों की कीमत के रूप में अनाज फसल तैयार होने पर मिलता था या उनको उसी समय बर्तन के मूल्य के रूप में अनाज की उपयुक्त मात्रा दे दे जाती थी।

अधीतकाल की उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के बर्तन अत्यन्त तीव्र गति से चलने वाले चाक पर बनाये जाते थे। बर्तनों का प्रमुख रंग चमकदार काला होता था किन्तु इसके अतिरिक्त नीले, नारंगी, गुलाबी सुनहरे और रूपहले रंगों के भी बर्तन मिलते है।[15] इस प्रकार के बर्तन अत्यन्त पतले एवं हल्के होते थे। बर्तनों को औसत मोटाई के आधार पर मोटे, मध्यम और पतले इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।[16] बर्तन अत्यन्त ऊँचे तापक्रम पर पकाये जाते थे। इसी कारण इनमें धातु के बने हुए बर्तनों की तरह की सफाई और खनक मिलती है। इस मृद्भाण्ड परम्परा के पात्रों में अन्दर की ओर मुड़े हुए अथवा सीधे किनारे वाली थालियाँ, सीधे और उन्नतोदर कटोरे, ढक्कन, सुस्पष्ट कोखवाली हाँड़ियाँ तथा छोटे आकार के कलश प्रमुख हैं।[17]

हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती और महाराष्ट्र के बहाल (धुले) आदि पुरास्थलों से ऐसे नमूने मिले हैं जिन पर चित्रकारी मिलती है। प्रमुख अलंकरण अभिप्रायों पट्टी अथवा धारियां, बिन्दु समूह, रेखाएँ, संकेन्द्रित वृत्त, प्रतिच्छेदी वृत्त, अर्द्धवृत्त, लहरिया, पाश आदि है। इसके अतिरिक्त कुछ पात्र खण्डों विशेषकर थाली एवं कलशों के अन्दर वृत्त बिन्दु समूह, चक्र तथा वृषभ श्रृंग आदि का ठप्पा लगाकर डिजाइनें बनायी गयी हैं।[18]

उत्तरी काले चमकीले मृद्भाण्ड जनसामान्य द्वारा प्रयुक्त होने वाले मृद्भाण्ड नहीं थे। सम्भवतः यह अभिजात्य वर्ग के लोगों द्वारा भोजनालय में प्रयोग में लायी जाने वाली पात्र–परम्परा थी। इसकी पुष्टि सोनपुर, कुम्हार, बैराट और रोपड़ जैसे पुरास्थलों के उत्खनन से मिले कीलक लगे अथवा जोड़े गए पात्रों से हो जाती है।

इन पुरास्थलों से ताँबे के पतले तार अथवा पिन से जोड़े गए फूटे हुए पात्र प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह इंगित होता हे कि इन बर्तनों का मूल्य बहुत ज्यादा होता था।[19]

एन0बी0पी0 पात्र परम्परा के साथ–साथ अन्य कई प्रकार के मिट्टी के बर्तन भी इस काल में बनाये जाते थे जो जनसाधारण के दैनिक जीवन में काम आते थे। साधारण प्रकार की पात्र–परम्पराओं में उल्लेखनीय है– चित्रकारी रहित धूसर रंग के मिट्टी के बर्तन, कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड, लाल रंग के मिट्टी के बर्तन और कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड।[20] इन पात्र परम्पराओं में बड़े आकार के घड़ें, मटके, तसले और नाद आदि प्रमुंख पात्र होते थे।

ऐसा लगता है कि उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा का आविर्भाव सर्वप्रथम गंगा घाटी में आरम्भ हुआ था और शीघ्र ही इस प्रकार के मृद्भाण्ड अफगानिस्तान, पाकिस्तान, से लेकर बांग्लादेश और नेपाल की तारई से लेकर तटीय गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश तक प्रचलित हो गए।[21] यहाँ उल्लेखनीय है कि इस पात्र परम्परा के बहुसंख्यक पुरास्थल उत्तरभारत तक ही मिले हैं। इस प्रकार के उत्कृष्ट पात्रों से मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग के मानकीकरण का संकेत तो मिलता ही है साथ ही शिल्पकारों के कौशल और तकनीकी विशिष्टीकरण का संकेत तो मिलता ही है साथ ही शिल्पकारों के कौशल और तकनीकी विशिष्टीकरण की भी सूचना मिलती है। पुरातात्विक और रेडियोकार्बन विधि के आधार पर इस पात्र परम्परा को 600 ई0पू0 से 100 ई0 के बीच रखा गया है[22] जो कि शोध का अधीतकाल है।

इस एन0बी0पी0 पात्र परम्परा के प्रथम चरण (ई0पू0 600 से 300 ई0पू0) के बारे में साहित्य से भी सूचना मिलती है। कच्छप जातक में उल्लिखित है कि जब कुलाल के पुत्र के रूप में बोधिसत्व का जन्म हुआ था तब वे चाक चलाने के लिए फरसे से मिट्टी खोदते थे। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि कुलाल लोग अपना सामान गदहों पर लादकर तक्षशिला जैसे नगरों में जाकर बेचते थे।[23] इस काल में मिट्टी के बर्तनों के निर्माण में चाक का व्यापक प्रयोग हो रहा था।[24] मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करने वाले को पाणिनि ने 'कुलाल' और मृद्भाण्डों को

'कौलालक' कहा है।[25] उन्होंने 'राजकुलाल' का उल्लेख किया है।[26] इससे स्पष्ट होता है कि मृद्भाण्डों का निर्माण करने वाला ऐसा वर्ग भी था जो राजकीय संरक्षण में और राजा के यहाँ रहकर राजकर्मचारी के रूप में कार्य करता था। जैन साहित्य में भी अनेक औद्योगिक वर्गों के साथ कुम्भकार का भी उल्लेख हुआ है।[27] आवश्कचूर्णि के अनुसार मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हार अपने मृद्भाण्ड कुम्भशाला में निर्मित करता था, पकनशाला में उन्हें पकाता था, भण्डशाला में एकत्रित करता था तथा पाणियशाला में उन्हें बेचता था।[28]

मौर्यकाल में बढ़ते राजकीय नियंत्रण का शिल्प एवं उद्योग पर भी प्रभाव पड़ा। पुरातत्व की दृष्टि से मौर्यकाल से लेकर प्रथम शती ई0 तक के काल को एन0बी0पी0 के दूसरे चरण से सम्बन्धित माना जाता हैं इस चरण में उत्तरी भारत विशेषकर गंगा के मैदान में एन0बी0पी0 के पात्रों के निर्माण में तकनीकी दृष्टि से ह्रास, सिक्कों का व्यापक प्रचलन[29] मिट्टी के खिलौनों का आधिक्य, भवन निर्माण में पकी हुई ईंटों के उपयोग[30] तथा स्वच्छता एवं सफाई के लिए मृत्तिका वलय कूप या रिंग वेल[31] के प्रचलन की सूचना मिलती है।

मौर्यकालीन एन0बी0पी0 पात्रों में सामान्य रूप से चित्रकारी नहीं मिलती। मिट्टी के बर्तन अपेक्षाकृत मोटे आकार के है। अधिकांश पात्र तेजगति के चाक पर निर्मित हैं तरह–तरह की थालियाँ, कटोरे, ढक्कन और हांड़ियाँ तथा कलश इस काल के एन0बी0पी0 पात्रों में प्रमुख थे। यह पात्र परम्परा निश्चित रूप से अभिजात्य या विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त होती थी और खाने–पीने के कार्य में इसका उपयोग होता था। ताँबे तथा कांस्य धातु के बर्तनों के प्रचलन के फलस्वरूप मिट्टी के बर्तनों के निर्माण में ह्रास परिलक्षित होता है।[32] इसके बावजूद मौर्यकाल में मिट्टी के बर्तन बनाने से सम्बन्धित शिल्प–उद्योग की स्थिति बुरी नहीं थी।

मौर्योत्तर काल में कुम्भकार का व्यवसाय सामान्य पेशा माना जाता था। इस काल में राजकीय नियंत्रण में शिथिलता आने से शिल्प एवं उद्योग से जुड़े लोगों को पर्याप्त स्वतंत्रता मिल गयी। यह बात इस काल के विभिन्न शिल्पियों द्वारा बौद्धों एवं

बौद्धसंघों को दिए गए अनेकानेक दान के पुरालेखों से प्रमाणित होती है।[33] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिट्टी पर आधारित शिल्प और उद्योग तथा कुम्भकारों की भी स्थिति अच्छी रही होगी। शुंगकालीन ग्रंथ पतंजलि–महाभाष्य से भी 'कुलाल' और उसके शिल्प के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। महावस्तु में उल्लिखित 11 शिल्पियों में कुम्भकार भी सम्मिलित है।[34] ई0सन् की आरम्भिक शताब्दी के सातवाहन अभिलेखों में अन्य शिल्पियों के साथ कुम्भकारों का भी उल्लेख मिलता है जिनके पास धन जमा किए गये थे।[35]

कुषाणकाल में कुम्भकार मिट्टी की मूर्तियाँ, ईटों और मकानों के छाजन में प्रयुक्त खपड़ों के साथ ही विभिन्न प्रकार के बर्तन भी बनाते थे। मिट्टी के बर्तनों में कुषाणकाल के सबसे विशिष्ट मिट्टी के बर्तनों में एक विशेष प्रकार की सुराही उल्लेखनीय है जिसे स्प्रिंकलर कहा जाता है।[36] यह कुषाणकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं तकनीकी दृष्टि से विशिष्ट पात्र रचना मानी जाती है। इस प्रकार की सुराही में ऊपर की ओर एक टोंटी होती है जिसमें पानी निकालने के लिए कुछ छिद्र बने होते हैं। अन्य आकार–प्रकारों में विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षुओं द्वारा प्रयुक्त भिक्षापात्र या कटोरे प्राप्त होते है। दैनिक जीवन में काम आने वाले मिट्टी के पात्रों में घड़े, मटके, तसले, कड़ाही आदि भी मिले हैं। कुषाणकाल के अनेक स्थानों से पूजा के निमित्त बने हुए तालाब (वोटिव टैंक) के मिट्टी के छोटे–छोटे नमूने बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिनके किनारे–किनारे पानी पीने की ओर एक सर्प की आकृति बनी है।[37]

पुरातत्व में मिट्टी के बर्तन बनाने के कौशल का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। भारत की अनेक ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों और उसके बाद की अन्य संस्कृतियों में अन्तर तलाशने का आधार पात्र परम्पराएं बनी और इनके महत्त्व को देखते हुए पात्र परम्परा, चित्रित धूसर मृद्भाण्ड परम्परा और उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा आदि। प्रत्येक मानव समुदाय के अपने विशिष्ट प्रकार के मिट्टी के पात्र होते थे। तकनीकी प्रगति और शिल्पगत विशिष्टीकरण जैसे–जैसे बढ़ता गया मिट्टी के बर्तनों पर भी चित्रण एवं अलंकरण में विशेष प्रगति हुई और जटिलता का

समावेश हुआ। मिट्टी के बर्तनों के रंग रूप बनाने की विधि आदि प्रचीन काल में थोड़े–थोड़े अन्तराल के बाद बदलती रही। नवीन मानव समुदायों के आगमन के साथ ही इनमें नवीनता आ जाती थी।

मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुम्भकार आज भी अपनी शिल्पकारी के लिए प्रसिद्ध है। बढ़ते नगरीकरण एवं व्यवसायीकरण से मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग भी अछूता नहीं रहा। यही करण कि इस उद्योग से जुड़े लोगों के आकर्षण के केन्द्र नगर बनते गये। गाँव हो या नगर, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले लोग अपने घर और उसके पास स्थित खुले क्षेत्र में मिट्टी के बर्तन बनाने का कार्य वर्ष भर करते हैं लेकिन गर्मी के दिनों में मिट्टी के बर्तनों की मांग बढ़ जाती है। बर्तनों के अतिरिक्त गर्मी में ये लोग मकानों के छाजन के लिए खपड़े भी बनाते हैं। यही नहीं फूल पौधों एवं वनस्पतियाँ लगाने के लिए गमले बनाने का भी कार्य करते हैं।

कुम्भकार बर्तन एवं अन्य वस्तुएं बनाने के लिए परखकर उपयुक्त मिट्टी लाकर पहले मिट्टी को खुले स्थान पर कूट पीसकर उसमें मिले हुए कंकड़–पत्थर अलग करते है। तत्पश्चात् उसको भिगोते हैं। आवश्यकतानुसार एक दो दिन मिट्टी भीगती रहती है फिर उसे हाथ से भलीभाँति गूँथते हैं। इस काम में परिवार के सभी सदस्य हाथ बटाते हैं। मिट्टी तैयार करते समय उसमें धान की भूंसी और उसके अभाव में गेहूँ का भूसा भी मिलाते हैं ताकि बर्तन फटे नहीं। बर्तन, खिलौने, गमले, खपड़े या ईंट बनाने के बाद उसे धूप या छाया में आवश्यकतानुसार सूखने के लिए रखा जाता है। सूखने के बाद उसे पकाने के लिए आँवा में रखा जाता है। पकने के बाद बर्तनों को कुम्भकार स्वयं या तो बेचते हैं अथवा इकट्ठा अन्य दुकानदारों को बेंच देते हैं। गाँवों में कुम्भकार आज भी कहीं–कहीं बर्तन उपभोक्ताओं के घर तक स्वयं पहुँचाते हैं और उसका भुगतान नकद अथवा जजमानी प्रथा के अनुसार खरीफ या रबी की फसल तैयार होने पर किया जाता है। इससे प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में भी बर्तनों के निर्माण एवं उनके विक्रय तथा भुगतान के बारे में अनुमान लगा सकते हैं क्योंकि बर्तनों के ठीकरों के अवलोकन से एन0बी0पी0 पात्रों

के निर्माण में भी आजकल की ही प्रविधि के प्रयुक्त होने का संकेत मिलता है। जैसे चाक की तीव्रगति एवं उच्च तापक्रम।

यहाँ उल्लेखनीय है कि धातु विशेषकर स्टेनलेस स्टील के बर्तनों के प्रचलन, कूलर, फ्रिज एवं वातानुकूलित यंत्रों के प्रसार तथा प्लास्टिक एवं फाइवर की वस्तुओं के अधिकाधिक उपयोग से मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस उद्योग से जुड़े लोग अपनी जीविका के लिए अन्य व्यसाय अपनाने के पक्ष में है।

गार्डन चाइल्ड ने नगरों का लक्षण बताते हुए 10 शर्तों का उल्लेख किया है। इसमें तीसरी शर्त है स्मारकीय भवन जो शहर को गाँवों से पृथक कते हैं।[38] ये भवन निश्चित रूप से गाँवों के परम्परागत मिट्टी के भवनों से भिन्न पत्थर ईंट अथवा लकड़ी के बने होते थे। यहाँ हम भवनों आदि के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले ईंट और तत्संबन्धी उद्योग पर विचार करना चाहेंगे जो मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग के अन्तर्गत ही आता हैं हड़प्पा सभ्यता को भारत की प्रथम नगरीय सभ्यता माना जाता है। हड़प्पा सभ्यता से सम्बन्धित अनेक पुरास्थलों के उत्खन से भवनों, रक्षा प्राचीरों नालियों, तालाबों आदि के निर्माण ईंटों के प्रयोग की पुष्टि हो चुकी है। यही नहीं प्राक् हड़प्पा काल में भी कालीबंगा जैसे पुरास्थलों से भवन एवं रक्षा प्राचीर के निर्माण में कच्ची ईंटों के प्रयोग की सूचना मिलती है। द्वितीय नगरीकरण छठीं शताब्दी ई0पू0 में शुरू हुआ माना जाता है जिसे हम प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की आदि सीमा मानते हैं और इस पूरे काल को (600 ई0पू0 से 100 ई0 तक के समय को) पुरातत्व की भाषा में उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा का काल मानते है। लेकिन जहाँ साहित्य में अनेक नगरों के अस्तित्व की सूचना मिलती हैं वहीं आश्चर्य यह है कि एन.बी.पी. के प्रथम चरण से सम्बद्ध पुरास्थलों से पकी ईंटों के प्रयोग की सूचना नहीं मिलती। भवन, रक्षा प्राचीर आदि के निर्माण में पकी ईंटों के व्यापक प्रयोग के प्रमाण एन0बी0पी0 के परवर्ती चरण से ही मिलते हैं। कुएं के निर्माण में पकी ईंटों का ही प्रयोग किया जाता था। ऐसे अनेक कुएं रोपड़[39] हस्तिनापुर[40], मथुरा[41], उज्जैन[42], और नासिक[43] के उत्खनन से प्रकाश में आ चुके हैं।

भवन निर्माण रक्षा प्राचीन निर्माण तथा अन्य कार्यों में पकी ईंटों के प्रयोग का आरम्भ तीसरी शताब्दी ई0पू0 माना जाता है।[44] इस काल में कई आकार–प्रकार की ईंटें भवन निर्माण तथा स्तूपों, रक्षा प्राचीरों के निर्माण मे प्रयुक्त मिलती है। ईंटों के भवनों के निर्माण से यह इंगित होता है कि भवन निर्माण कला काफी विकसित हो गयी थी। रिहायशी भवनों के अतिरिक्त इस काल में नवीन स्तूपों का निर्माण और पुराने स्तूपों के आकार में वृद्धि की प्रक्रिया बड़े पैमाने पर उत्तर भारत में हो रही थीं। साहित्य में नगरों के चारों ओर सुरक्षा के लिए रक्षा प्राचीरों और परिखा अथवा खाई बनाये जाने के उल्लेख तो मिलते ही हें साथ ही अनेक पुरातात्विक साक्ष्य भी उपलब्ध हुए हैं।[45]

आजकल की तरह ही उस समय भी ईंट निर्माण का कार्य अकेले सम्भव नहीं था। इस कार्य में अपेक्षाकृत अधिक लोगों की आवश्कता रही होगी। बड़े पैमाने पर ईंटों के निर्माण का कार्य ईंट निर्माता शिल्पियों की देख–रेख में अनेक श्रमिकों तथा शिल्पियों के परिवारजनों द्वारा सम्पन्न होता था। ईंटों को बनाने के लिए अच्छी मिट्टी का चयन किया जाता था और उसे अच्छी तरह गूँथकर साँचे द्वारा बनाया जाता था। ईंटों को सूखने के लिए धूप में रखा जाता था। इस उद्योग पर भी वर्षा का प्रतिकूल प्रभाव रहता था इस कारण बरसात के दिनों में यह उद्योग बन्द रहता था। उस समय केवल उनकी बिक्री ही सम्भव रही होगी। ईंट निर्माण के लिए वर्षा के 4 माह को छोड़कर शेष 8 महीने और उसमें भी गर्मी के 4 महीने अधिक उपयुक्त रहे होंगे जैसा कि आज भी हैं। ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी की भी बड़ी मात्रा में आवश्यकता थी जिसे ईंटों के शिल्पी लकड़ी का काम करने वाले शिल्पियों के द्वारा प्राप्त करते रहे होंगे अथवा स्वयं जंगलों से काटकर लाते रहे होंगे। अंगविज्जा नामक ग्रंथ में भवन निर्माण सम्बन्धी वस्तुएं बनाने वाले और भवन निर्माण की विभिन्न क्रियाओं से जुड़े हुए शिल्पियों का विस्तार से उल्लेख मिलता है।[46]

भवन बनाने वाले शिल्पियों को साहित्य में 'स्थपति'[47] कहा गया है। उनके उपकरणों में सबसे महत्वपूर्ण 'कन्नी' नामक उपकरण रहा होगा जिससे दीवालों की

जुड़ाई करते थे। इस प्रकार के उपकरणों के प्रथम शताब्दी ई0 के सन्दर्भ में नमूनें माहेश्वर[48] तथा देवनीमोरी[49] से मिले है। दीवाल को सीधी रखने के लिए साहुल नामक उपकरण प्रयुक्त होता था, जिसके उदाहरण ऐतिहासिक काल के सन्दर्भ में तक्षशिला से प्राप्त हुए है। तक्षशिला से तांबे, लोहे और मिट्टी के 'साहुल' मिले है। तक्षशिला से प्राप्त तांबे के साहुल का समय 200 ई0 पू0, मिट्टी के बने साहुल का समय 300 ई0पू0 और लोहे के बने साहुल का समय 100 ई0 पू0 सर जान मार्शल ने निर्धारित किया है।[50] प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ही भवन बनाने के कार्य में विभिन्न प्रकार की कीले, फावड़े और गैंती आदि उपकरणों के प्रयोग का उल्लेख मिलने लगता है।

अनेक पुरास्थलों से एन0बी0पी0 के परवर्तीचरण से भवनों आदि के निर्माण में पकी ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले है। अतरंजीखेड़ा का चतुर्थ सांस्कृतिक काल एन0बी0पी0 से सम्बन्धित है[51]। इसे चार उपकालों अ, ब, स एवं द में विभाजित किया गया है। 'अ' उपकाल में भवनों के निर्माण में ईंटों के प्रयोग का अभाव है। दूसरे उपकाल में ईंटों का कुछ–कुछ प्रयोग होने लगा था। 'स' उपकाल में यद्यपि घास–फूस, बाँस–बल्ली तथा मिट्टी के कच्चे मकान बनते रहे तथापि भट्ठे में पकाई गयी ईंटों का प्रयोग भवनों के निर्माण में अधिक से अधिक मात्रा में होने लगा था।[52]

कौशाम्बी से भी एन0बी0पी0 के परवर्ती चरण से पकी ईंटों के प्रयोग की सूचना मिलती है। अशोक स्तम्भ क्षेत्र में एन0बी0पी0 पात्र परम्परा से सम्बन्धित आठ स्तर प्रकाश में आये है।जिनमें से प्रथम पाँच में भवन निर्माण कार्य में मिट्टी तथा कच्ची ईटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले है। ऊपरी तीन निर्माण स्तरों से जो साक्ष्य प्राप्त हुए है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कालान्तर में भवनों का निर्माण पकी हुई ईंटों से होने लगा था।[53] इसी प्रकार श्येनचिति के निर्माण में ईटों के प्रयोग के पुरातात्त्विक साक्ष्य कौशाम्बी के रक्षा प्राचीर क्षेत्र से प्राप्त हुए है।[54] कौशाम्बी के राजप्रासाद क्षेत्र में हुए उत्खनन तृतीय सांस्कृतिक काल 'जिसका समय दूसरी शताब्दी ई0 पू0 से प्रथम शदी ई0 माना जाता है') में दीवालों के निर्माण में

ईटों के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।[55] इसी तरह अन्य कई पुरास्थलों से ईटों के प्रमाण मिले हैं जिनका प्रयोग भवन निर्माण, रक्षा प्राचीर निर्माण, रक्षा प्राचीर निर्माण, तालाब अथवा नालियों आदि के निर्माण में हो रहा था। श्रृंगवेरपुर का चतुर्थ सांस्कृतिक काल शुंग कुषाणकाल से सम्बन्धित है। इस स्तर से एक ऐसे आयताकार तालाब का साक्ष्य मिलता है जिसका निर्माण पकी हुई ईटों से किया गया था।[56] पाटिलपुत्र, वैशाली, चिराँद सोनपुर, राजघाट, तिलौराकोट, मथुरा, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, त्रिपुरी, नवदाटोली,नेवासा तथा नासिक आदि ऐसे अन्य पुरास्थल हैं जहाँ से ईटों के भवन निर्माण में प्रयोग के साक्ष्य मिले है [57]। एन0बी0पी0 पात्र परम्परा के उत्तरवर्ती चरण में भवन निर्माण में पकी ईटों का प्रयोग सामान्य बात हो गयी थी और दूसरी शताब्दी ई0पू0 तथा उसके बाद ईटों की प्रचुरता दिखलायी पड़ती है।[58] यही नहीं मौर्यकाल में स्तूपों का निर्माण प्रायः ईटों से किया गया था। इनमें धर्मराजिका स्तूप (सारनाथ) विशाल स्तूप सं0 1(साँची) और धर्मराजिका स्तूप (तक्षशिला) उल्लेखनीय है। इनमें 16X 10 X 3 इंच आकार वाली ईट प्रयुक्त हुई है।[59]

इस प्रकार ईटों के प्रयोग को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ईट उद्योग विकासमान था। ईटों का निर्माण आज की तरह साँची में किया जाता रहा होगा, यह कहना कठिन है मृद्भाण्डों के निर्माण में भिन्न तकनीक इसके निर्माण में प्रयुक्त होती थी। जहाँ मृदृभाण्डों को प्रायः चाक पर बनाया जाता था वहीं ईटों के निर्माण में चाक की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ईटों के निर्माण के लिए उपयुक्त स्थान की मिट्टी का चयन करके उसे अच्छी तरह गूँथकर तैयार किया जाता था और फिर उसे निश्चित आकार में ठोक–पीटकर ईट का रूप दिया जाता था। ईट सूखने के बाद उसे भट्ठे में पकाया जाता था। स्पष्ट है कि ये भट्ठे आजकल की चिमनियों (बड़े भट्ठों) जैसे नहीं रहे होंगे। उन भट्ठों में आजकल की तरह कोयले का प्रयोग नहीं होता था। लकड़ी से ही भट्ठे चलते रहे होंगे और उनका आकार–प्रकार अपेक्षाकृत काफी छोटा रहा होगा जिनसे स्थानीय

आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। फिर भी यह कार्य एक या दो आदमी के द्वारा संभव नहीं था। इसमें अधिक लोग लगकर परिश्रम करते थे।

मृण्मूर्तियों, खिलौनों और मनकों का निर्माण

विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्डों, ईटों और खपड़ों के निर्माण के अतिरिक्त लौकिक तथा धार्मिक मूर्तियों, विविध प्रकार के खिलौनों और मनकों का निर्माण भी मिट्टी से जुड़े शिल्प एवं उद्योग के अन्तर्गत आता है। भारत में हड़प्पा सभ्यता से सम्बद्ध अनेक पुरास्थलों से मृणमूर्तियाँ, खिलौने मनके एवं मुहरें प्राप्त हुई हैं। मृणमूर्तियाँ मानव और पशु–पक्षियों दोनों ही तरह की बनायी जाती थी। मानव मृणमूर्तियाँ जहाँ ठोस हैं वही पशु–पक्षियों की मूर्तियाँ प्रायः खोखली हैं। अपवाद स्वरूप कतिपय मूर्तियाँ ही साँचे में ढालकर बनायी गयी हैं शेष मूर्तियाँ हस्तनिर्मित हैं।[60]हड़प्पा संस्कृति से सम्बद्ध नारी मृणमूर्तियाँ विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित किन्तु घुटनों के नीचे प्रायः नग्न हैं। हाथ से बनी इन मृणमूर्तियों के रूपों में विविधता है। इनके अंग–प्रत्यंग आभूषण आदि गीली मिट्टी से हाथ से बनाए गए हैं। चुटकी से दबाकर नाक का निर्माण किया गया है। तृण से चीर कर आँखें तथा मुख बनाये गये हैं। कभी–कभी अलग से मिट्टी चिपका कर आँखें बनायी गयी हैं। आभूषण ऊपर से मिट्टी चिपकाकर बनाये गए हैं। इन मृणमूर्तियों को धूप में सुखाकर आग में पकाया जाता था।[61] इसी तरह मिट्टी के खिलौने भी बनाये जाते थे जिनमें प्रधानता पशु–पक्षी के रूप वाले खिलौनों की है। पशुओं में बैल, भैंसा, भेड़, बकरा, कुत्ता, हाथी, बाघ, गैंडा, भालू, सुंअर, खरगोश, बन्दर आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। पक्षियों में तोता कबूतर, बतख, गौरैया, मुर्गा, चील और उल्लू की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[62]इसी प्रकार अन्य खिलौनों में मिट्टी के हल, इक्का गाड़ी, सीटियाँ आदि भी प्रमुख हैं। मुहरें और मनके मिट्टी के भी बनाये जाते थे।[63]

अधीतकाल में भी विभिन्न प्रकार की मृणमूर्तियों, खिलौनों, मनके एवं मुहरों के निर्माण के पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध है। एन0बी0पी0 संस्कृति से सम्बद्ध अनेक पुरास्थलों से ऐसी मृणमूर्तियाँ मिली हैं जिनके अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इस शिल्प की अब तक पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। हाथी, घोड़े, वृषभ, कुत्ते, भेड़, हिरण

आदि पशुओं और कच्छप, सर्प आदि सरीसृपों एवं चिड़ियों की हस्तनिर्मित मूर्तियाँ मिलती हैं।[64] पशुओं की मृणमूर्तियों को छोटे–छोटे गोलों के ठप्पे लगाकर, गहरे रेखांकन तथा किसी चीज से दबाकर बनायी गयी पत्तियों के द्वारा सजाया–सँवारा गया है। अधिकांश मृणमूर्तियाँ लाल रंग की हैं जिनके ऊपर गेरू के गहरे घोल का प्रलेप चढ़ाया गया है। वैशाली, मथुरा और अहिच्छत्र आदि से धूसर और काले रंग की पशु–मूर्तियों के भी उदाहरण मिलते हैं। बक्सर से पीले रंग की पड़ी रेखाओं से अलंकृत पशु–मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[65]

मानव मृण्मूर्तियों के मुख को साँचे में ढालकर बनाये जाने के कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। शेष भाग हस्तनिर्मित हैं। हाथी और पैरों का निर्माण स्टम्प अथवा डण्डे के रूप में किया गया है। आँखों को छोटे से गोल छेद से, बालों को रेखांकन द्वारा तथा नाक को चुटकी से दबाकर बनाया जाता था। स्त्री मृण्मूर्तियों में बड़े–बड़े कर्णपटल, गोलाकार कर्णफूलं, गले में कामदार भारी हारावली तथा भव्य शिरोवेश भूषा चिपकवाँ विधि से बनायी जाती थी।[66] अनुमान किया जाता है कि इन मृण्मूर्तियों का निर्माण खिलौनों के रूप में किया जाता रहा होगा लेकिन इस बात की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि इनमें से कुछ का निर्माण धार्मिक उद्देश्य से भी किया गया है। मानव, पशु–पक्षी आदि की विभिन्न मृण्मूर्तियाँ हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, मथुरा, अतंरजीखेड़ा, कौशाम्बी, भीटी, श्रृंगवेरपुर, राजघाट, बुलन्दीबाग तथा कुम्हरार आदि स्थानों से प्राप्त हुई है।[67]

इससे स्पष्ट होता है कि एन0बी0पी0 पात्र परम्परा के शिल्पी मृण्मूर्तियों के निर्माण में भी अत्यन्त कुशल थे। यदि पूर्ववर्ती पी0जी0डब्ल्यू0 की मृण्मूर्तियों से इसकी तुलना की जाय तो एन0बी0पी0 पात्र परम्परा का मृण्मूर्तिकार और अधिक दक्ष दिखलायी पड़ता है। विभिन्न प्रकार की इन मृण्मूर्तियों का निर्माण चाहे लौकिक उद्देश्यों से खिलौने के रूप में किया गया हो अथवा धार्मिक उद्देश्यों से किया गया हो; लेकिन इससे अवश्य कहा जा सकता है कि इस काल विशेषकर मौर्यकाल से शुंगकुषाणकाल में मिट्टी पर आधारित शिल्प एवं उद्योग अत्यन्त समृद्ध हो चुका था।

मृत्तिका शिल्प के अन्तर्गत मनके का भी उल्लेख किया जा सकता है। मनका निर्माण उद्योग की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है लेकिन मिट्टी के मनके अपेक्षाकृत बाद में बनने लगे। हड़प्पा संस्कृति से सम्बद्ध अनेक पुरास्थलों से विभिन्न प्रकार के पत्थरों एवं धातुओं के अलावा मिट्टी के भी मनके मिले हैं अधीतकाल में एन0बी0पी0 पात्र परम्परा से सम्बद्ध अनेक पुरास्थलों से मिट्टी के मनके मिले हैं जिनका प्रयोग आभूषणों के निर्माण में किया जाता था। कौशाम्बी से प्राप्त मिट्टी के मनके विशेषोउल्लेखनीय है।

तक्षशिला[69], हस्तिनापुर[70], कौशाम्बी[71], श्रावस्ती[71],राजघाट[73], वैशाली[74] तथा उज्जैन[75] आदि स्थानों से विभिन्न प्रकार के पत्थरों, हाथी दाँत तथा पशुओं की हड्डियों के बने हुए मनकों के साथ मिट्टी के मनके भी मिले हैं। मनके तत्कालीन लोगों की आभूषणप्रियता के परिचायक तो हैं ही साथ ही मृत्तिका शिल्पियों की कुशलता एवं हस्तलाघव के भी द्योतक है। उज्जैन के उत्खनन से विभिन्न प्रकार के मनके बनाने वाले शिल्पियों की कार्यशाला के प्रमाण मिले हैं।[76]

मनकों के अतिरिक्त एन0बी0पी0 पात्र परम्परा से सम्बद्ध पुरास्थलों से लेखरहित सिक्के ढालने के साँचे भी प्राप्त हुए हैं। मिट्टी की बनी हुई राजमुद्राएं, राजमुद्रांक, कुम्भकार की थापी और कुम्भकार के ठप्पे भी प्राप्त हुए हैं।[77]

प्रस्तर पर आधारित शिल्प एवं उद्योग

प्रस्तर उपकरणों का निर्माण आदि मानव के जीवन का सबसे क्रांतिकारी अन्वेषण था। यह उसकी प्रकृति पर सर्वप्रथम विजय थी। शारीरिक रूप से प्रायः सभी पशुओं से कमजोर होने पर भी इन अशरीरी अवयवों (उपकरणों) द्वारा ही, वह अपने से अधिक विशालकाय तथा शक्तिशाली जीवों से अपनी प्रतिरक्षा करने में न केवल समर्थ रहा अपितु उन पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सका। उपकरण निर्माण के लिए निश्चित रूप से उसने पत्थरों के साथ ही अन्य वस्तुओं जैसे हड्डी, सींग तथा लकड़ी का भी उपयोग किया होगा, किन्तु पत्थर की तुलना में अन्य सभी अपेक्षाकृत अल्प–स्थायी एवं नाशवान होने के कारण प्रायः इन वस्तुओं के उपकरण कम ही मिलते हैं। इसलिए प्रस्तर उपकरणों का महत्व अधिक बढ़ गया है।[78]प्रस्तर

उपकरणों का महत्व लोहे जैसी धातुओं और बारूद के प्रयोग होने के साथ ही घटता गया। उल्लेखनीय है कि अधीतकाल में लोहे का अधिकाधिक प्रयोग हो रहा था और युद्ध संबंधी अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण में लोहे का महत्व सिद्ध हो चुका था। ऐसे में प्रस्तर उपकरणों का प्रयोग सीमित रह जाना अस्वाभाविक नहीं था। फिर भी ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि अब भी युद्धों में प्रस्तर उपकरणों का प्रयोग बन्द नहीं हुआ था। उवासगदसाओं तथा कथाकोश जैसे ग्रंन्थों से पता चलता है कि अजातशत्रु ने वैशाली के विरूद्ध युद्ध में महासिलाकण्टक और रथमूसल जैसे युद्ध–यन्त्रों का प्रयोग किया था। *महासिलाकण्टक सम्भवतः वह यन्त्र होता था जिसके द्वारा बड़े–बड़े पत्थरों को भीड़ पर फेंका जाता था। इसी प्रकार रथमूसलएक प्रकार का रथ होता था जिसमें गदा लगी होती थी रथ जिस ओर होकर गुजरता था गदा उसी ओर सैकड़ों का काम तमाम कर देती थी।*[79] *प्राचीन रथमूसल की तुलना आजकल के युद्धों में प्रयोग किये जाने वाले टैंकों से की जा सकती थी।*[80] *चूँकि उस समय बारूद तथा अन्य विस्फोटकों का प्रचलन नहीं था; अतः इस बात की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि रथमूसल और महासिलाकण्टक जैसे यंत्रों से पत्थर से प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा होगा।*

बौद्ध साहित्य में पत्थर तोड़ने और तराशने की कला में दक्ष लोगों का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें 'पाषाणकुट्टक' कहा जाता था। ये लोग कभी–कभी पत्थर को काट–तराशकर इतना नुकीला और तीक्ष्ण बनाते थे जिससे किसी भी जानवर को मारा जा सकता था।[81] इससे भी लगता है कि बुद्धकाल में भी पत्थर के हथियार बनाये जाते थे और उनका प्रयोग शिकार आदि में किया जाता था। पत्थर की अन्य वस्तुएं भी बनायी जाती थीं। जैसे सिल–बट्टे, चक्की के पाट आदि। सूत्र–साहित्य से ज्ञात होता है कि पत्थर के बर्तन भी बनाये जाते थे।[82]अन्न पीसने का सन्दर्भ ऋग्वेद में भी मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ऋषि कहता हैं, "मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने वाली है। साधन भिन्न है, परन्तु सभी धन की कामना करते हैं।"[83] इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्न पीसने

की चक्की रही होगी और उसके पाट पत्थर के थे, इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता। अन्न पीसने वाली चक्की के पाट के पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं जिसकी प्राचीनता प्रागैतिहासिक है और मुख्य बात यह है कि आज के वैज्ञानिक युग में भी मशीनों से चलने वाली आटा चक्कियों के पाट भी पत्थर के बनाये जाते हैं। अन्तर केवल तकनीकी कौशल का है। प्राचीनकाल की चक्कियों के पाट आधुनिक काल की चक्कियों के पाट से अपेक्षाकृत कम सुडौल होते थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि *प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक पत्थर के ऐसे दैनिक उपयोगी सामानों का निर्माण करने वाला एक स्वतंत्र शिल्पी वर्ग रहा है जो अपने कौशल से इन वस्तुओं का निर्माण करता रहा है बुद्धकाल में यदि इसे पाषाणकुट्टक कहा जाता था तो आज इन्हें उत्तर भारत के कुछ भागों के ग्रामीण क्षेत्रों में 'पथरकट्ट' कहा जाता हैं ये लोग पत्थर को तराशकर सिल बट्टे और चक्कियों (हस्तचालित) के पाट, जिसे कहीं–कहीं 'जाँत' और 'बंजारी' भी कहा जाता है, बनाकर लोगों की आवश्यकतों की पूर्ति करते हैं। इसके बदले में जिन्स अथवा नकद धनराशि लेते हैं।*

भवन निर्माण में प्रस्तर

प्रागैतिहासिक काल में मानव की निर्भरता पत्थरों पर अधिक थी। पत्थरों के विभिन्न उपकरण जहाँ उसके आखेटक जीवन के अभिन्न अंग थे वहीं वर्षा, शीत और ताप से सुरक्षा प्रदान करने में भी गुफाओं के रूप में सहायक थे। धीरे–धीरे सभ्यता के विकास के साथ मानव जब भवन निर्माण करने लगा तब भी पत्थरों का महत्व कम नहीं हुआ। उल्लेखनीय है कि भवन निर्माण में ईटों का प्रयोग अपेक्षाकृत बाद में हुआ। पहले बांस, बल्लियों, सरकंडो और फिर मिट्टी और पत्थरों के योग से ही आवास बनाये जाने के साक्ष्य मिलते हैं।

ऐतिहासिक काल में भवनों, पृजागृहों, विहार, चैत्य, स्तूप आदि के निर्माण में पत्थरों का व्यापक प्रयोग दिखलायी पड़ता है। साहित्य और पुरातत्व दोनों में इसके प्रमाण उपलब्ध है। चुल्लवग्ग से पता चलता है कि संगतराश पत्थर के खम्भे बनाते और पत्थर में खुदाई करके अलंकृत करते थे। वे तालाबों की दीवारों में भी पत्थर

लगाते थे।[84] कौशाम्बी के राजप्रासाद क्षेत्र में किए गए उत्खनन से राजमहल के तीन ओर पत्थर की ऊँची चहारदीवारी के प्रमाण मिले हैं।[85] प्रारम्भिक काल में दीवाल के निर्माण में अनगढ़ पत्थरों का उपयोग किया गया था। इस काल का समय आठवीं से छठवीं शताब्दी ई0पू0 के बीच में माना गया है। द्वितीय काल में भली–भाँति गढ़े हुए 66 X 53 X 20 सेमी आकार के पत्थरों का उपयोग चहारदीवारी की दीवाल के निर्माण में किया गया था जबकि भीतरी भाग में हर तरह के रोड़े भर दिये गये थे। तृतीय काल में चहारदीवारी के निर्माण में ईटों का प्रयोग किया गया था जबकि दीवाल के अन्दर के भाग में पत्थर के टुकड़े जोड़े गए थे। इसका समय द्वितीय शताब्दी ई0पू0 से प्रथम शताब्दी ई0 के बीच माना गया है।[86] मौर्य–शुंगकाल में तो पत्थरों का प्रयोग विभिन्न रूपों में भरपूर होने लगा था लेकिन उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल के काफी पहले से पत्थरों का प्रयोग भवन आदि के निर्माण में स्फुट रूप में हो रहा था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पत्थर काटने एवं तराशने का कार्य प्राग्मौर्यकाल से ही हो रहा था।

मौर्यकाल में भवन निर्माण, मूर्तियों के निर्माण और स्तम्भों आदि को गढ़ने में पत्थरों का प्रयोग सामान्य हो गया। मौर्यकाल में भी यह स्थिति अशोक के काल में दिखलायी पड़ती है।[87] उल्लेखनीय है कि मैगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के समय 'पालिबोथ्रा (पाटिलीपुत्र) में स्थित जैसे राजमहल की प्रशंसा की थी। वह लकड़ी का बना था। अशोक ने पत्थर और लकड़ी के संयुक्त प्रयोग से पुनः राजमहल बनवाया था जिसके साक्ष्य कुम्हार और बुलन्दीबाग के उत्खनन से तो मिलते ही हैं इसके साथ चतुर्थ शताब्दी ई0 में भारत की यात्रा पर आने वाले चीनी यात्री फाहियान के विवरण से भी होती है। उसके अनुसार,"नगर के मध्य में स्थित राजभवन एवं सभाभवन सब असुरों द्वारा बनाए हुए है। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गए हैं उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के मनुष्य उन्हें नहीं बना सकते। वे अब तक नए के समान है।"[88] इससे लगता है कि पत्थरों को अच्छे ढंग से काट तराशकार महल में लगाया गया था। जिससे वह भवन विदेशीयात्री को लगभग 700 वर्ष बाद भी नया दिखलायी पड़ा। इससे मौर्यकालीन प्रस्तर शिल्पी की

दक्षता, कला और तकनीक पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यदि मार्शल की बातों पर विश्वास करें तो हम यह कह सकते हैं कि मौर्यकालीन प्रस्तर–तराशने वालों के द्वारा पाषाणस्तम्भों आदि में प्रस्तुत तकनीक प्राचीन विश्व में अतुलनीय है।

पाषाण स्तम्भ मौर्यकालीन प्रस्तर शिल्प के सबसे भव्य एवं सुन्दर नमूने हैं जिनको अशोक ने अपने अभिलेखों में धम्म स्तम्भ कहा है। अशोक के अनेक स्तम्भ देश के कई स्थानों पर मिले हैं। इनमें से कुछ स्तम्भों की लम्बाई 12 मी0 से अधिक और वजन लगभग 50 टन है।[90] प्रत्येक स्तम्भ पत्थर के एक ही टुकड़े से बनाया गया है। इसके शीर्षभाग को दूसरे पत्थर से बनाकर ताँबे की लम्बी, नुकीली कील से स्तम्भ यष्टि के शीर्ष के साथ जोड़ा गया है। स्तम्भ यष्टि गोल है और ऊपर की ओर क्रमशः पतली होती गयी हैं। वह बलुए पत्थर से निर्मित है, बहुत ही चिकनी और सुन्दर है। शीर्ष भाग उतना ही अधिक चिकना है और परिधि मे एक या अधिक पशुओं की खड़ी या बैठी मूर्तियाँ हैं जो एक खंभे पर टिकी हुई है और उत्कीर्ण है। इसके बीच अवांगमुख कमल है जिसे शायद भूल से पर्सिपोलिस का घंटा कहा जाता है।[91] इन स्तम्भों में सारनाथ सिंह शीर्ष स्तम्भ और रमपुरवा वृषभ शीर्ष स्तम्भ का उल्लेख किया जा सकता है।

सारनाथ स्तम्भ में शीर्ष पर पीठ से पीठ सटाये चार सिंह पंजों के बल बैठे हैं। सिंहों के नीचे की वृत्ताकार चौकी में सरपट दौड़ता घोड़ा, मुदित गवेन्द्र, मदहस्त हाथी और विक्रान्त सिंह उत्कीर्ण है। दो पशुओं के बीच में 24 आरे वाला एक चक्र बना हुआ है। इस प्रकार चार पशु तथा चार चक्र चौकी की सजावट के लिए बनाए गए है। भारत सरकार ने अशोक के चार सिंह वाले सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष को राजचिह्न के रूप में ग्रहण किया है। यह स्तम्भ शीर्ष सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है।[92]

रमपुरवा का स्तम्भ भी वृषभ शीर्ष की कलात्मकता के कारण यहाँ उल्लेखनीय है। आजकल यह स्तम्भ शीर्ष राष्ट्रपति भवन में रखा हुआ है। इसके अंकन में पत्थर तराशने वाले शिल्पी ने आकार एवं छवि के अंकन में अपनी शिल्पगत दक्षता का परिचय दिया है। साँड को उसके पूरे भाग के साथ बड़े शान्त

और नसर्गिक शक्ति के साथ जमीन पर खड़ा करके दिखलाने की कल्पना के साथ बनाया गया है।

सारनाथ और रमपुरवा जैसे सभी स्तम्भों के निर्माण के लिए पत्थर के विशाल टुकड़ों के काटने, तराशने चमकाने से लेकर पत्थर निकालने की खानों से सैकड़ों मील दूर हटाने में और कभी–कभी पहाड़ की ऊँची चोटी तक ले जाने में जिस अभियांत्रिकी का प्रयोग किया गया है। उससे मौर्यकालीन प्रस्तर उद्योग से जुड़े शिल्पियों के असाधारण शिल्प–कला विज्ञान संबंधी कौशल का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि मौर्यकाल में कई स्मारक पत्थरों से बनाये गये थे लेकिन उनका सबका विवरण देना यहां उचित नहीं क्योंकि हमारे शोध का विषय मौर्यकला नहीं है।

मौर्योत्तर प्रस्तर शिल्प के सन्दर्भ में भरहुत और साँची के महास्तूप विशेष उल्लेखनीय है। भरहुत का स्तूप पूर्णतः नष्ट हो चुका है। इसके अवशेष राष्ट्रीय संग्रहालय कलकत्ता और इलाहाबाद म्यूजियम सोसाइटी के संग्रहालय में रखे हैं। अशोक के काल में इस स्तूप का मूलभाग पत्थर के टुकड़ों की नींव पर संभवतः ईटों का बना हुआ था जिसे शुंगकाल में पत्थरों से आच्छादित कर दिया गया। स्तूप के चारों ओर लाल पत्थर की वेदिका का निर्माण किया गया था। वेदिका चार भागों में विभक्त थी और प्रत्येक दिशा में प्रवेश के लिए एक तोरण द्वार था।[94] इन चारों तोरणों में से केवल पूर्व दिशा का तोरण ही प्राप्त हो सका है। तोरण के स्तम्भ 2.90 मीटर ऊँचे तथा 41.75 सेमी मोटे एवं अठपहलू है। प्रत्येक स्तम्भ के ऊपर एक पद्माकर शीर्ष है जिसके ऊपर दूसरा अपेक्षाकृत विशाल शीर्ष है। स्तम्भों के सहारे तीन बँड़ेरियाँ समानान्तर एक के ऊपर एक रखी हुई है। हर दो बँड़ेरियों के बीच में छोटे–छोटे स्तम्भ हैं।[95] बड़ेरियों और उसमें प्रयुक्त छोटे स्तम्भों पर हीनयान शाखा से संबंधित दृश्यों का अंकन मिलता है।

साँची का महास्तूप भी अपने मूल रूप में सम्भवतः अशोक द्वारा ईटों से बनवाया गया था जिसे शुंग सातवाहन काल में विवर्द्धित किया गया और प्रस्तरों से आच्छादित किया गया। विवर्द्धित स्तूप का व्यास लगभग 40 मीटर और ऊँचाई 16.

50 मीटर हो गयी। यह स्तूप तीन वेदिकाओं के द्वारा तीन भूमियों में विभक्त है। भूमितल, मध्यतल और हर्मिका के चारों ओर वेदिकाओं के निर्माण के कारण इसको त्रिमेधि स्तूप कहा गया है। भूमितल पर बनी हुई महास्तूप की वेदिका सादी है। इस वेदिका में चार तोरण द्वार हैं जिन्हें भिन्न–भिन्न व्यक्तियों ने आन्ध्र–सातवाहन काल में बनाया गया था। उत्तरी तोरण द्वार इनमें सर्वाधिक सुरक्षित है। प्रत्येक तोरण द्वार में 4.25 मीटर ऊँचे दो चौपहले भारी स्तम्भ है। उन स्तम्भों के ऊपर स्तम्भ शीर्ष है। शीर्ष पर चार हाथियों, सिंहों के अग्रभाग या चार बौनों के संघात बने हुए हैं जो ऊपर की बड़ेरियों का बोझ सँभाले हुए है।[97] इन तोरण–द्वारों का अलंकरण भरहुत की ही तरह हीनयान बौद्ध धर्म से संबंधित होते हुए भी तत्कालीन जीवन की एक मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है।[98]

इसके अतिरिक्त पर्वतों को काटकर गुफ़ाओं, चैत्य, विहार आदि का भी निर्माण किया गया। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तर काटने और तराशने वाले अधीतकाल में बड़ी संख्या में थे। बड़े पैमाने पर प्रस्तर काटने–तराशने का कार्य हो रहा था। यह कार्य प्रायः राजकीय नियंत्रण में होता था। कभी–कभी कुछ सम्पन्न लोगों के निर्देशन में होता था। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौर्यकाल से ही प्रस्तर काटने और तराशने का शिल्प अपने विस्तृत स्वरूप के कारण उद्योग का दर्जा प्राप्त कर चुका था।

प्रस्तर मूर्तियाँ

अधीतकाल में प्रस्तर की अनेक प्रकार की मूर्तियाँ बनायी जाती थी। मौर्यकाल में तो प्रस्तर मूर्तियों के उत्कृष्ट नमूनों के रूप में उन मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है जो अशोक के स्तम्भ शीर्षो पर है। इनमें सिंह, गज, वृषभ एवं अश्व आदि की मूर्तियाँ अकेले अथवा चार–चार के समूह में बनी हुई मिली है। साँची और सारनाथ के प्रस्तर–स्तम्भों के शीर्ष पर पीठ से पीठ सटाये हुए चार–चार सिंहों का निर्माण मूर्तिकला में विविधता उत्पन्न करने की दृष्टि से किया गया है। मौर्यकाल की प्रस्तर मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण महाकाय यक्ष–यक्षी की वे मूर्तियाँ हैं जो मथुरा से लेकर पाटलिपुत्र, विदिशा, कलिंग और पश्चिम में सूर्पारक तक

पायी गयी है। इस संबंध में परखम ग्राम से प्राप्त यक्षमूर्ति, पटना से प्राप्त यक्षमूर्ति, दीदारगंज (पटना) से प्राप्त चामर ग्राहिणी यक्षी और बेसनगर से प्राप्त यक्षी की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। लेकिन कुछ विद्वान यक्ष–यक्षी की इन प्रस्तर मूर्तियों को शुंगकालीन मानते हैं[99]

प्रस्तर–मूर्ति शिल्प का तीव्रगति से विकास कुषाण काल में हुआ। कुषाण काल में मूर्ति विशेषकर पत्थर की मूर्तियाँ बनाने वाले शिल्पियों का समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। ई0 सन् की प्रथम शताब्दी में भारतीय मूर्ति शिल्पी यूनानी– रोमन मूर्तिशिल्पियों के सम्पर्क में आये।[100] कनिष्क के काल में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का उदय हुआ जिसमें गौतम बुद्ध को मूर्ति के रूप में पूजने का विधान किया गया। अतः कनिष्क काल में पत्थर मूर्तियाँ (विशेषकर बौद्ध धर्म से सम्बद्ध) बनाने का केन्द्र के रूप में गांधार और मथुरा की प्रतिष्ठा बढ़ी।[101] गांधार की प्रस्तर मूर्तियाँ यूनानी शिल्पियों द्वारा अथवा उनसे प्रेरित और प्रभावित स्थानीय शिल्पियों द्वारा बनायी गयी थी जबकि मथुरा की मूर्तियाँ भारतीय शिल्पियों की प्रतिभा की उपज मानी जाती है। इन्हें केन्द्र के नाम के आधार पर क्रमशः गांधार शैली और मथुरा शैली की मूर्तियाँ कहा जाता है।

गांधार शैली की मूर्तियों के निर्माण में वैदेशिक पृष्ठभूमि दिखलाई पड़ती है। गांधार छठी शती ई0पू0 में एक महाजनपद था जिसका प्रसार आज के उत्तरी अफगानिस्तान और पाकिस्तान के कुछ क्षेत्रों तक था। [102] गांधार शैली की मूर्तियां काले रंग की सलेटी पत्थर की बनी हुई है। इसके साथ ही चूने की गचकरी का भी उपयोग बुद्ध की मूर्तियां बनाने में किया गया है। उल्लेखनीय है कि गांधार शैली में केवल बौद्ध धर्म से संबंधित मूर्तियों का निर्माण किया गया है अन्य धर्म से संबंधित देवी–देवताओं का नहीं। इस शैली में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण यूनानी–रोमन अथवा हेलेनिस्टिक कला के आदर्शों के आधार पर किया गया है। परिणामस्वरूप बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण में शारीरिक सुन्दरता पर अधिक ध्यान देने के कारण मुखमुद्रा प्रायः भावशून्य हो गयी। गांधार शैली के प्रस्तर मूर्तिकारों ने धर्मचक्र, मुद्रा, ध्यानमुद्रा, अभयमुद्रा और वरद मुद्रा आदि भाव परम्परा

से ग्रहण किया था, लेकिन घुंघराले बालों, मूछों, लम्बे कानों और चुन्नटदार संघाती आदि का अंकन विदेशी प्रभाव में ही किया था। बुद्ध के जीवन से संबंधित–बुद्ध का जन्म महाभिनिष्क्रमण, तपश्चर्या, मारविजय, सम्बोधि, धर्म चक्र प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण आदि घटनाओं का प्रस्तर मूर्ति शिल्पियों ने अंकन किया है। इसके अतिरिक्त बोधिसत्वों की मूर्तियाँ तथा जातक कथाओं के दृश्य भी प्रमुख है।[103] गांधार कला की कुछ बुद्ध मूर्तियों में संभवतः तिथियाँ अंकित है। जैसे मामानीदरी की बुद्धमूर्ति में 89, लोरियातंगई की बुद्धिमूर्ति में 318, हस्तनगर की बुद्धमूर्ति में 384 और स्कारावेरी से प्राप्त हारीत की मूर्ति में 399 की संख्या अंकित है। कुछ विद्वान इसे सेल्युकस द्वारा 312ई0 पू0 में चलाये गये संवतत्सर से जोड़ा हैं। इस आधार पर इन मूर्तियों को प्रथम शताब्दी ई0 का माना जा सकता है।[104]

मथुरा केन्द्र में बौद्ध धर्म के साथ–साथ जैन, वैष्णव एवं शैव धर्म से संबंधित देवी देवताओं की मूर्तियां भी बनायी गयी। यही नहीं कुछ कुषाण वंशी शासकों की भी प्रस्तर मूर्तियाँ बनायी गयी। मथुरा के प्रस्तर मूर्ति शिल्पियों ने धार्मिक कथाओं के साथ–साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन को भी अपनी छेनी से अंकित किया है। विशेष रूप से सौन्दर्य प्रसाधन एवं विभिन्न क्रीड़ाओं में संलग्न स्त्रियों की विभिन्न मुद्राओं का अंकन भी कुषाण कालीन मथुरा प्रस्तर में देखा जा सकता है।[105]मथुरा शैली की बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियाँ स्वतंत्र खड़ी हुई मुद्रा में अथवा बैठी हुई मिलती है। खड़ी हुई मूर्तियाँ में पैरों के बीच मे सिंह की आकृति बनी हुई मिलती है। इससे लगता है कि शिल्पकार ने गौतम बुद्ध की शाक्य सिंह के रूप में परिकल्पना की थी। बैठी हुई मूर्तियाँ सिंहासन पर आसीन बनायी गयी थी जिनकी चरण चौकी पर अगल–बगल को देखते हुए अगले पंजों के बल बैठे हुए दो सिंहों की आकृतियों भी बनी हैं। बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएं गांधार शैली के विपरीत मुंडित सिर है। जिन मूर्तियों पर उष्णीष का निर्माण किया गया है उनमें वह घुमावदार गुंजलक के रूप में मिलता हैं बांये कंधे को संघाटी से ढका हुआ तथा दाये कन्धे को खुला हुआ बनाया जाता था। बैठी हुई मूर्तियों मे दाहिना हाथ अभय मुद्रा में कन्धे से थोड़ा ऊपर उठा हुआ है और बांये हाथ की हथेली मूर्ति की जंघा

पर रख हुई है। खड़ी हुई मुद्रा की मूर्तियों में दाहिना हाथ अभय मुद्रा में कन्धे के ऊपर तक निकला हुआ और बांया हाथ कमर के पास संघाटी के छोर के नीचे से कटिबन्ध को छूता हुआ मिलता है।मूर्तियों के दाहिने हाथ की हथेली तथा दोनों पैरों में चक्र चिह्न बना हुआ मिलता है। सिर पर नुकीला उष्णीष और दोनों भौहों के बीच ऊर्णा बनाया गया है।[106]मथुरा प्रस्तर मूर्तिशिल्प का महत्वपूर्ण अंग था देवी–देवताओं को प्रभामण्डल से युक्त करना। मथुरा शैली के शिल्पियों ने प्रारम्भ में बुद्ध तथा बोधिसत्व की लगभग एक ही तरह की मूर्तियों का निर्माण किया था। कालान्तर में बुद्ध को एक सामान्य भिक्षु या योगी के रूप में और बोधिसत्व को आभूषण पहने हुए एक राजा के रूप में बनाया गया है। मथुरा शैली की ये मूर्तियाँ शेखानढेरी (पेशावर), साँची, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, पटना, राजगिर, बेस्चम्पा (बंगाल) और लुम्बिनी नामक स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[107] इतने व्यापक क्षेत्रों में मथुरा शैली की मूर्तियों की प्राप्ति से उनकी लोकप्रियता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। मथुरा के प्रस्तर मूर्ति शिल्प का प्रभाव अमरावती के मूर्ति शिल्प पर तो पड़ा ही गुप्तकालीन मूर्ति शिल्प पर भी पड़ा।[108]

मथुरा के प्रस्तर–मूर्ति शिल्पियों ने जैन तीर्थकारों की भी मूर्तियाँ बनाया, ये मूर्तियाँ तीन तरह की हैः–

1. पालथी मारकर ध्यान मुद्रा में बैठी प्रतिमाएं
2. कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी प्रतिमाएं
3. एक ही प्रस्तर खण्ड पर पीठ से पीठ जोड़कर खड़ी चार प्रतिमाएं।

इन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर उनकी निजी पहचान के लिए प्रतीकों का अंकन प्रायः नहीं मिलता। इसी कारण 24 तीर्थकरों में से केवल कुछ की ही पहचान संभव हो पायी है। कंधे तक लटकती जटाओं से आदिनाथ, शीश के ऊपर तने सर्प–फण से पार्श्वनाथ तथा पार्श्व में कृष्ण और बलराम के कारण नेमिनाथको ही पहचाना जा सका है । प्रायः बैठी प्रतिमाओं के आसन के अग्र भाग के बीच में धर्म चक्र और अगल–बगल सिंहों की आकृतियाँ हैं। इन सिंहों की आकृतियों अथवा सिंहासन से तीर्थंकर की पहचान महावीर से की जा सकती है।[109] सनातन धर्म से

संबंधित मूर्तियाँ भी मथुरा शैली में बनायी गयी है। विष्णु, शिव, कृष्ण, बलराम, गणेश, कार्तिकेय, इन्द्र, सूर्य, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा, महिषमर्दिनी आदि की मूर्तियाँ भी मथुरा शैली में बनायी गयी। विष्णु को चतुर्भुज बनाया गया है। किन्तु उनके चार आयुधों में शंख, चक्र और गदा तो है लेकिन पद्म का अभाव है। मथुरा और उसके आस–पास से लगभग 40 विष्णु प्रतिमाएं मिली है। विष्णु की अवतार प्रतिमाओं में अपवाद स्वरूप नृवराह की प्रतिमा मिली है।

कृष्ण आख्यान पर आधारित प्रतिमाएं भी बनायी गयी थी। एक फलक में वसुदेव एक टोकरी में कृष्ण को अपने शीश पर उठाकर यमुना पार करते हुए दिखाए गए हैं तो दूसरे में कृष्ण को केशि नामक राक्षस से युद्ध करते दिखाया गया है। बलराम की भी कई प्रतिमाएं मिली है। शैव मत से संबंधित प्रतिमाओं में शिव–पार्वती दम्पत्ति की प्रतिमा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा का अंकन भी पहली बार मथुरा में ही किया गया था। सूर्य प्रतिमाओं में सूर्य को रथारूढ़ अथवा आसनस्थ दिखाया गया है। सूर्य देवता को टोपी गोल और चपटी है, कन्धे पर लहराते केश हैं, होठों पर नोंकदार मूँछे हैं, लम्बा कोट कसा पायजामा तथा पैरों में जूते हैं। इससे लगता है कि सूर्य के अंकन में शिल्पकार विदेशी प्रभाव से ग्रस्त था।[110]

देवी–देवताओं के अतिरिक्त राजाओं की प्रतिमाएं भी बनायी गयी थीं। इनमें कनिष्क प्रथम और विकमडफिसेस की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय है। सम्भवतः कुषाणकाल में रोम की तरह शाही मूर्तियों की पूजा होती थी। ये मूर्तियाँ राज्यादेश से ही गढ़ी जाती रही होंगी।[111]

बौद्ध तथा जैन स्तूपों की वेदिका के अनेक प्रस्तर खण्ड मथुरा से मिले हैं। इन पर तथा भूतेश्वर मंदिर से प्राप्त वेदिका स्तम्भों पर नवयौवना नारियों को विभिन्न क्रीड़ा मुद्राओं में उत्कीर्ण किया गया है। कन्दुक क्रीड़ा, खड्ग–नृत्य शुक–सारिका, सद्यःस्नाता, शालभंजिका, रूपदर्शना आदि विभिन्न रूपों में अंकित नारी पुत्तलिकाओं के अंग–प्रत्यंग सुडौल, मांसल और समानुपातिक है। लाल बलुआ पत्थर पर बनी इन्हीं पुत्तलिकाओं की शैली में निर्मित एक पुत्तलिका (शालभंजिका)

कनिंघम को श्रावस्ती के निकट तण्डवा से मिली थी। उस समय यह एक मंदिर में सीतामाई के नाम से स्थापित थी। 13 फिट 4 इंच की यह पुत्तलिका अन्य पुत्तलिकाओं के समान कुषाण कालीन है।[112]

इन विविध प्रकार की मूर्तियों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस काल तक आते–आते प्रस्तर शिल्पी इतनी निपुणता प्राप्त कर चुका था कि पत्थर पर अलौकिक और लौकिक दोनों ही पक्षों से संबंधित चित्रों को अंकित करना उसके लिए कठिन नहीं था। इतने बड़े क्षेत्रों में मूर्तियों के प्रसार से जहाँ उनकी लोकप्रियता का पता चलता है वहीं प्रस्तर उद्योग की उन्नति का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग

इनके अन्तर्गत हम काष्ठ से सम्बद्ध उन प्रमुख निर्माण कार्यो का अध्ययन करेंगे जो अधीतकाल में मानव जीवन के लिए आवश्यक थे। इनमें लकड़ी के भवन और भवन में उपयोगी लकड़ी के सामानों, गाड़ी एवं रथों का निर्माण, नौका–निर्माण तथा कुछ अन्य महत्वपूर्ण लकड़ी की वस्तुओं के निर्माण पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'वेणुकार' नामक शिल्पी पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है क्योंकि बांस का काम करने के कारण उसे भी हमने काष्ठ शिल्प से संबंधित माना है।[113]

भवन निर्माण

वैदिक साहित्य में लकड़ी का काम करने वाले शिल्पी को 'तक्षा' कहा गया है। वैदिक सभ्यता से संबंधित पुरावशेषों के अभाव के कारण यह कह सकना कठिन है कि तत्कालीन लोगों के भवन किसके बने होते थे लेकिन पत्थरों और ईटों के प्रयोग से बनने वाले भवनों के साक्ष्य अपेक्षाकृत बाद के हैं, इस आधार पर यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा कि वैदिक सभ्यता के लोग बांस–बल्लियों से बने लकड़ी के मकानों अथवा मिट्टी के मकानों में रहते थे। उन्हें मकान बनाने के लिए आवश्यक लकड़ी को काट–तराशकर शायद तक्षा ही देते रहे होंगे। घरेलू वस्तुओं में 'तल्प' और 'प्रोष्ठ' का उल्लेख किया जा सकता है। 'तल्प' गद्देदार

लम्बी चौकी होती थी। ऋग्वेद के अनुसार यह लकड़ी का बना होता था और इसे तक्षा बनाता था। इसी प्रकार तक्षा 'प्रोष्ठ' का भी निर्माण लकड़ी से करता था जिस पर प्रायः स्त्रियाँ सोती थी।[114]

ऐतिहासिक काल में बौद्ध साहित्य से लकड़ी का कार्य करने वाले बढ़ई (बड्ढकि) के विषय में व्यापक जानकारी मिलती है। बुद्धकाल में अधिकांश भवन और आवास लकड़ी के बनाये जाते थे। राजाओं और अभिजात वर्ग के प्रासाद लकड़ी के ही बने होते थे। बर्द्धकि लकड़ी खिलौने, स्तम्भ, भवन में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी की साह–चौखट और किवाड़ बनाते थे। कभी–कभी ऐसे संकेत मिलते हैं कि मकान की दीवालें दरवाजें सभी कुछ लकड़ी के बने होते थे।[115]जातकों से पता चलता है कि बर्द्धकि अन्य वस्तुओं के अलावा मकानों के लिए लकड़ी काटने–तराशने का भी काम करता था।[116] महावग्ग जातक के अनुसार तीन सौ बर्द्धकि गंगा के ऊपरी इलाके के जंगलों में जो लकड़ी लाने गए थे उसका प्रयोग शहर बसाने के लिए भी किया गया था।[117] इसी प्रकार अलिनासित जातक से पता चलता है कि पाँच सौ बढ़इयों ने बड़े–बड़े बल्ले और पटरे तैयार करने के लिए नदी पार कर जंगल मे प्रविष्ट हुए थे।[118] इन बल्ले एवं पटरे का प्रयोग सम्भवतः भवनों के निर्माण में भी किया जाता रहा होगा। इससे यह कहा जा सकता है कि काष्ठ उद्योग का ऐतिहासिक काल में विकास बुद्ध के समय ही हो चुका था और मकानों के निर्माण में काष्ठ का प्रयोग हो रहा था।

पाणिनि ने भी काष्ठ शिल्पियों पर प्रकाश डाला है तथा 'कौटतक्षा' और 'ग्रामतक्षा' के रूप में वर्गीकृत किया गया है।[119] दोनों ही लोगों की काष्ठ कला संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। भवनों को सजाने के लिए लकड़ी के काम में नक्काशी भी तक्षा द्वारा की जाती थी।

मौर्यकाल में तो भवन निर्माण में लकड़ी का व्यापक प्रयोग दिखलायी पड़ता है। इसके साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों ही प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध है। मौर्यकाल में भवन के आधार प्रायः पत्थर और ईटों के बनते थे तथा ऊपर के भाग लकड़ी के। चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का राजप्रासाद लकड़ी का बना था,

मेगस्थनीज के इस कथन को स्ट्रैबो ने उद्धृत किया है। स्ट्रैबो ने भारतीय काष्ठ उद्योग की प्रशंसा करते हुए पाटिलपुत्र के काष्ठ निर्मित राजप्रासाद का उल्लेख किया है। उसके अनुसार इसमें चारो ओर लकड़ी की दीवाल थी जिसमें तीर चलाने के लिए मोखे बने थे।[120] कौटिल्य यद्यपि लकड़ी के भवन बनाने के विरोधी थे लेकिन उन्होंने एक ऐसे वृक्षों का उल्लेख किया है जो इस उद्योग की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे। और जिनका उपयोग प्रायः इमारतों के निर्माण में किया जाता था।[121] चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद का निर्माण लकड़ी से किया गया था इसके साक्ष्य पटना के निकट कुम्हरार नामक स्थान से सन् 1912–16 ई0 में डी0बी0 स्पूनर और एल0ए वैडेल द्वारा की गयी खुदाइयों से प्राप्त हुए हैं।[122] मेगस्थनीज के अनुसार इसकी रक्षा प्राचीर में 64 दरवाजे और 570 अट्टालक या बुर्ज थे।[123] स्ट्रैबो और एरियन ने लिखा है कि, राजमहल के पालिशदार स्तम्भों को सुनहरी लताओं और चाँदी के पक्षियों से सजाया गया था। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार सुन्दरता में यह महल ईरान के सूसा और एकबेटना से बढ़कर था।[124] इन विवरणों की सत्यता पुराविदों ने स्थापित कर दी। पाटिलपुत्र की रक्षा प्राचीर और राजमहल की लकड़ी की शहतीरों तथा स्तम्भों को 2000 वर्षो से अधिक समय बाद वैसा ही चिकना और सुन्दर पाकर पुरातत्त्वविद् आश्चर्य चकित रह गये। जहाँ पर राजमहल के काष्ठ अवशेष मिले थे उसके दक्षिण में लकड़ी के बने हुए सात मंच भी उत्खनन के फलस्वरूप प्रकाश में आये। इनमें से प्रत्येक मंच 9 मीटर लम्बा 1.50 मीटर चौड़ा और 1.35 मीटर ऊँचा था।[125] इसके पश्चात् 1926–27 ई0 में पटना के बुलन्दीबाग नामक स्थान पर लकड़ी की बनी हुई प्राचीर, दीवाल और खण्डित काष्ठ स्तम्भों के अवशेष मिले।[126]इनमें से जो लकड़ी के टुकड़े फर्श पर बिछे हुए मिले थे उनमें से प्रत्येक की लम्बाई 4.20मीटर थी। जो स्तम्भ सीधे खड़े किए गए थे वे 4. 50 मीटर लम्बे थे। लकड़ी के इन स्तम्भो को आपस में जोड़ा गया था। और इसके लिए उनमें चूल का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार की लकड़ी की प्राचीर लगभग 75 मीटर की लम्बाई तक मिली। बुलन्दीबाग के लगभग एक किमी की दूरी पर गोसाई खण्ड नामक स्थान से लकड़ी के कुछ प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ पर

फर्श पर लकड़ी के पटरे बिछे नहीं मिले। सन् 1951 से 1955 के बीच में ए0स0 अल्तेकर और वी0के0मिश्र ने कुम्हरार का पुनः उत्खनन कराया।[127] इस उत्खनन से यह ज्ञात हुआ कि द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के पश्चात् लकड़ी के स्तम्भों के जले हुए टुकड़ों को हटा दिया गया था और उनका स्थान पकी हुई ईंटों ने ले लिया था।[128] कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि अशोक के पाषाण–स्तम्भ लकड़ी के स्तम्भों के अनुकरण में बनायें गए थे। इस प्रकार भवन निर्माण में काष्ठ के व्यापक प्रयोग से उस काल में विकसित काष्ठ उद्योग की सूचना मिलती है। कहा जाता है कि कौटिल्य काष्ठ के भवन निर्माण का विरोधी था। इसके बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपना राजप्रासाद काष्ठ से ही निर्मित क्यों कराया? इसका उत्तर तलाशना दूसरा विषय है।

अर्थशास्त्र के अन्तः साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है कि उस समय भवन लकड़ी के बने होते थे। कौटिल्य के अनुसार भोजन गर्मी के दिनों में घरों के बाहर पकाया जाना चाहिए। इससे पता चलता है कि आग लगने के भय से यह नियम बनाया गया था। चूँकि गाँव के घरों का निर्माण लकड़ी एवं बांस बल्लियों से किया गया था जिसमें गर्मी के दिनों में आग पकड़ने की संभावना अधिक थी।[129]

ग्राम ही नहीं नगरों में भी दोपहर के समय आग जलाना और घरों के पास में भोजन पकाना वर्जित था। नगर की महत्वपूर्ण गलियों और चौराहों पर नागरिकों को अनेक पात्रों में जल भरकर रखने की सलाह दी गयी थी। नियम का उल्लंघन करने वालों के खिलाफ दण्डात्मक कार्यवाही की जाती थी। जानबूझ कर आग लगाने वाले को दण्ड स्वरूप आग में ही फेंक दिया जाता था।[130] इस प्रकार के विवरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि उस समय लकड़ी के मकानों का प्रचलन था और काष्ठ उद्योग अपनी विकसित अवस्था में थी।

मौर्योत्तर काल में भी भवन निर्माण में काष्ठ का प्रयोग बन्द नहीं हुआ था। यद्यपि अब दीवाल एवं छतों आदि के निर्माण में पत्थर एवं ईंटों का प्रयोग होता था लेकिन दरवाजों , वातायनों आदि के निर्माण में अब भी लकड़ी का प्रयोग होता था। मिलिन्दपन्हों में बढ़ई के कार्य पर भी प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ के अनुसार

लकड़ी काटने के लिए बर्द्धकि पहले उस पर निशान बनाते थे और बाद में उसी के अनुसार काटते थे। *काटते समय मुलायम हिस्से को निकाल दिया जाता था और कड़े हिस्से को रख लिया जाता था*[131] *यहाँ उल्लेखनीय है कि मिलिन्दपन्हों में 'मुलायम लकड़ी' उसे कहा गया है जिसे सामान्यत: आजकल कच्ची लकड़ी कहा जाता हैं। भवन तथा फर्नीचर आदि के निर्माण में यह उपयोगी नहीं मानी जाती क्योंकि यह मजबूत नहीं होती और इसमें कीड़े लग जाते है। इस तथ्य को ई0 पू0 दूसरी शताब्दी और उसके भी पूर्व बढ़ईयों ने समझ लिया था। इस कारण लकड़ी काटते समय वे इस भाग को अनुपयोगी समझकर छोड़ देते थे। 'कड़ी लकड़ी' से तात्पर्य पकी लकड़ी से है जो मौर्यकाल और उससे पहले से ही भवन निर्माण के लिए उपयोगी मानी गयी है।* इसी कारण मिलिन्दपन्हों का बढ़ई इस भाग को उपयोगी मानकर ले जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी भवनों आदि के निर्माण में काष्ठ उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कहा ज़ाता है कि कार्ले, कोण्डाने और अजन्ता आदि की गुफाओं के छतों को काष्ठ निर्मित छतों के अनुकरण में ही बनाया गया था।[132] इससे भी स्पष्ट होता है कि उस समय उन गुफाओं के निर्माता के समक्ष लकड़ी की छतों का आदर्श अवश्य रहा होगा।

गाड़ी एवं रथों का निर्माण

पहिए के अविष्कार के साथ मानव ने स्थल परिवहन के साधनों को भी ढूँढ लिया था। भारत की ताम्रपाषिक संस्कृतियों में भी परिवहन के साधन के रूप में सम्भवत: ऐसी गाड़ियों का उपयोगी आरम्भ हो गया था जिसे पशु खींचते थे। इस संबंध में दैमाबाद के उत्खनन से प्राप्त जोर्वे संस्कृति की वह तांबा गाड़ी उल्लेखनीय है जो पशुओं द्वारा खींची जा रही है और उस पर एक व्यक्ति चढ़ा हुआ है।[133]

साहित्यिक साक्ष्यों में ऋग्वेद से ही गाड़ी और रथों के निर्माण का उल्लेख मिलने लगता है। ऋग्वेद के अनुसार तक्षा लोगों के घूमने और सामान ढ़ोने के लिए गाड़ी का निर्माण लकड़ी से करता था । इसकी छत को 'छंदिस' कहा जाता था।[134] ऋग्वेद में रथ निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। रथ का निर्माण इस आशा से

किया जाता था कि यात्रा अधिक सुविधाजनक और सुरक्षित हो सके।[135] यही नहीं रथों का युद्ध में भी विशेष महत्व था। स्वस्थ घोड़ों के बल से बढ़नेवाला रथ युद्धभूमि में अत्यन्त सफलतापूर्वक अपना कौशल प्रदर्शित करता था।[136] उत्तर वैदिक काल में काष्ठ शिल्पी 'तक्षा' और 'रथकार' में विभक्त थे। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर 'तक्षा' को लकड़ी के आधार, पोत और आसन के अतिरिक्त गाड़ी भी निर्मित करने के लिए निर्देशित किया जाता था जबकि 'रथकार' केवल रथ बनाता था। इस प्रकार का विवरण सूत्रग्रंथों में भी मिलता है।[137] उस युग में रथकार इतना महत्वपूण हो गया कि उसे श्रौत यज्ञ सम्पन्न करने की अनुज्ञा प्रदान कर दी गयी। महाकाव्यों में रथों और रथ सेना के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

बौद्ध साहित्य से भी लकड़ी से बनायी जाने वाली गाड़ियों एवं रथों के बारे में जानकारी मिलती हैं बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि भवनों आदि के अतिरिक्त परिवहन कार्य में प्रयुक्त होने वाली गाड़ियाँ भी काष्ठ शिल्पी बनते थे।[138] रथों का निर्माण भी लकड़ी की सहायता से होता था। उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक काल में रथकार, तक्षा या बढ़ई से पृथक शिल्पी बन चुके थे जो केवल रथनिर्माण का कार्य करते थे। समकालीन अन्य ग्रंथों में भी रथों का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में दो प्रकार के रथों का उल्लेख मिलता है –

1. चलते समय शब्द करने वाले रथ
2. निः शब्द चलने वाले रथ।[139]

ऐसे रथों में चढ़ने वालों के आराम के लिए कपड़ा, सफेद कम्बल अथवा चमड़ा लकड़ी पर मढ़ दिया जाता था।[140] रथ बनाने वाले लकड़ी का स्वयं चुनाव करते थे और उसे स्वयं काटते थे। रथों के पहिये हल्के और मजबूत बनाये जाते थे। पहिये में अतिरिक्त लकड़ी काटकर निकाल दी जाती थी और उसमें अरें होती थी।[141] रथकार को बौद्ध ग्रंथों में हीन जाति का बताया गया है। रीजडेविड्स के अनुसार रथकार आदिम जाति के थे।[142] रथकार को बौद्धग्रंथों में अधम जाति का मानने का एक कारण संभवतः यह था कि बौद्धों को युद्ध से घृणा थी और रथकार युद्ध के लिए भी रथों का निर्माण करते थे।[143]

मौर्यकाल में अनेक प्रकार के परिवहन के साधन थे। इनमें गाड़ियों और रथों का स्थल परिवहन की दृष्टि से विशेष महत्व था। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के रथों का उल्लेख किया है जिनका प्रयोग युद्धों में किया जाता था। अर्थशास्त्र में देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिक, पारियाणिक, परपुराभिगामिक रथ और वैमानिक रथ का उल्लेख मिलता है।[144]

मौर्योत्तर काल में भी बैल, भैसे, खच्चर आदि से खींची जाने वाली गाड़ियों एवं घोड़े से खीचे जाने वाले रथों का उल्लेख मिलता है। निशीथ चूर्णि से पता चलता है कि व्यापारिक सामग्री ढोने के लिए गाड़ी का प्रयोग किया जाता था।[145] मनुस्मृति के अनुसार ऐसी गाड़ियाँ ढ़ोने के लिए गाड़ी का प्रयोग किया जाता था।[145] मनुस्मृति के अनुसार ऐसी गाड़ियाँ बनायी जाती थीं जिसे बैल, खच्चर अथवा भैंसे आदि खीचते थे।[146] पतंजलि ने रथकार के व्यवसाय को स्वतंत्र व्यवसाय बताया है। रथकार साधारण तक्षा से ऊँची कोटि का होता था। उसे कुल्हाड़ी हाथ में लेकर ऐसे बड़े वृक्ष की लकड़ी काटनी होती थी[147]जो रथ के योग्य थे क्यों कि रथ के पहिए बहुत मजबूत होते थे।[148]रथ के निर्माण के लिए शिंशपा का वृक्ष विशेष उपयुक्त माना जाता था।[149]महाभाष्य में कुशल रथनिर्माता को नागरक रथकार कहते थे।[150]संगमकाल में भी रथों और गाड़ियों का प्रचलन था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि व्यापारी बैलगाड़ी पर जिनमें संकटकाल के लिए आतिरिक्त पहिए रखें रहते थे, अपने परिवार को लादे हुए नमक का व्यापार करते घूमते रहते थे।[151] इस युग में रथ के घोड़े और बैलों दोनों के द्वारा खीचें जाने का उल्लेंख मिलता है।[152]

इस प्रकार काष्ठ उद्योग के अन्तर्गत भवन निर्माण संबंधी वस्तुओं का निर्माण ही नहीं किया जाता था अपितु परिवहन के लिए गाड़ियों तथा युद्ध के लिए विभिन्न प्रकार के रथ भी बनाये जाते थे।

नौका निर्माण

नौका निर्माण का उल्लेख किये बिना काष्ठ उद्योग प्रायः अधूरा लगता है। नौकाओं का निर्माण मानव ने बहुत पहले से ही जल परिवहन के साधन के रूप में कर लिया था। हड़प्पा सभ्यता में नाव का प्रचलन था जिसकी पुष्टि मोहनजोदड़ों

से प्राप्त नाव अंकित एक मुहर तथा लोथल से प्राप्त मिट्टी की बनी खिलौना – नाव से भी होती है।[153] ऋग्वेद में तक्षा के निर्माण कार्यों में नाव निर्माण भी बताया गया है। ऋग्वेद में सौ डांड़ों (चप्पुओं) वाली जहाजों का उल्लेख मिलता है।[154] शतपथ ब्राह्मण में अग्निहोत्र' यज्ञ की तुलना नौका से की गयी है।[155] जबकि उपनिषदों में यज्ञ को टूटी नौका से समीकृत किया गया है।

बौद्ध साहित्य में लकड़ी से नाव एवं जहाज बनाने का उल्लेख कई बार मिलता है। जातक ग्रंथों से पता चलता है कि वाराणसी काष्ठ उद्योग का प्रसिद्ध केन्द्र था। वाराणसी के पास एक ऐसी विशाल बस्ती का उल्लेख मिलता है जिसमें एक हजार बढ़ई रहते थे।[156] एक दूसरे जातक में परिवहन के साधन के रूप में नाव का उल्लेख मिलता है। अलिनासित जातक से पता चलता है कि पाँच सौ बढ़ई बल्ले और पटरे तैयार करने के उद्देश्य से नदी पार कर जंगल में प्रविष्ट हुए थे।[157] इससे नाव के प्रचलन के संकेत मिलते हैं। महाउमग्ग जातक से पता चलता है कि तीन सौ पोतों के निर्माण और शहर बसाने के लिए तीन सौ बढ़इयों ने गंगा के ऊपरी क्षेत्र के जंगलों में लकड़ी काटने के लिए प्रविष्ट किया था।[158] समुद्दवणिक जातक में भी जहाजों और नौकाओं के बनाने का उल्लेख मिलता है।

मौर्यकाल में जहाज निर्माण नौकाध्यक्ष नामक पदाधिकारी की निगरानी में किया जाता था। कौटिल्य ने व्यापारिक कार्यों में उपयोगी अनेक प्रकार की नावों का उल्लेख किया है। जैसे–संयाती नाव, प्रवहण, महानाव, शंखमुक्ता बाहिणनाव, आप्तनाविकाधिष्ठातानाव, हिस्त्रकानाव, क्षुद्रकानाव, राजकोष नौकाएं एवं स्वतरणानि।[159] कौटिल्य के अनुसार विदेशी व्यापार सुरक्षित हो इसकी जिम्मेदारी राज्य की थी। नवाध्यक्ष दिग्भ्रमित और तूफान से क्षतिग्रस्त नौकाओं की रक्षा पिता के समान करता था। नौका पर लदे हुए माल के पानी में भींग जाने पर वह उस पर लगने वाले कर से मुक्त कर देता था अथवा माल की स्थिति के अनुसार कर कम मात्रा में लेता था। बंदरगाह पर पहुँचते ही वह व्यापारियों का माल बाजार में भेंज देता था। चलती हुई नौका जब शुष्क क्षेत्र में पहुँचती थी तो वहीं पर कर ले लिया जाता था। [159]

मेगस्थनीज और स्ट्रैबो के अनुसार जहाज निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था। उन्होंने राज्य के अधीन काम करने वालों में जहाज निर्माण करने वालों के एक वर्ग का भी उल्लेख किया है। राज्य के नियंत्रण में बनने वाली ये जहाजें यात्रियों, नाविकों और व्यापारियों को भी किरायें पर दी जाती थी।[161] लेकिन कौटिल्य के अनुसार जहाजें राज्य और निजी क्षेत्रों दोनों में ही बनती थीं लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि राज्य के नियंत्रण में बनने वाली नौकाएं दूसरों को किराए पर दी जा सकती थीं।[162]

मनुस्मृति में भी ऐसी नावों का उल्लेख मिलता है। जो व्यापारिक वस्तुएं दूर–दूर तक ले जाती थीं।[163] मिलिन्दपन्हों में भी उल्लेख मिलता है कि पोतों का निर्माण करने के लिए बढ़ई जंगलों से मजबूत लकड़ी चुनकर लाते थें।[164] यहाँ उल्लेखनीय है कि नौकाओं का उल्लेख जितना ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है उससे बहुत अधिक बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में अनेक समुद्र यात्राओं का उल्लेख मिलता है। बावेरू जातक, पंडर जातक, बलाहस्स जातक, सुस्सोदि जातक, महाजनक जातक तथा सुप्पारक जातक जैसे अन्य कई जातकों में रोमांचक जहाजी यात्राओं का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में जहाज और समुद्री यात्राओं के अधिक उल्लेख का कारण शायद यही था कि ब्राह्मणग्रंथों में समुद्र यात्रा वर्जित थी जबकि बौद्धों द्वारा इसे मान्यता दी गयी थी।

ई0 सन् के प्रारम्भिक शताब्दी में हिप्पालस नामक यूनानी यात्री द्वारा मानसून का पता लगा लेने के बाद मिस्र और भारत के बीच आने जाने वालों को एक वर्ष के स्थान पर केवल तीन मास लगने लगा। फलतः भारत का मिस्र, रोम , यूनान आदि देशों से व्यापारिक सम्पर्क अधिक सुविधाजनक हो गया ।[165]

अन्त में हम 'वेणुकार' के शिल्प पर भी संक्षिप्त में प्रकाश डालना चाहेंगे। धर्मसूत्रों के अनुसार वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री से वेण नामक जाति की उत्पत्ति हुई।[166] बौद्ध ग्रंथों में इसे हीन जाति के रूप में स्वीकार किया गया है। बाँस अथवा लकड़ी का सामान बनाना इनका प्रमुख धंधा था।[168] वेण को वेणुकार भी कहा जाता था। एक परवर्ती जातक में वेणुकार या वेलुकार का वर्णन आया है जो

बाँस काटकर बोझा बनाने के लिए चाकू लेकर जंगल में जाता था ताकि उसका व्यापार कर सके।[169] विनयपिटक की टीका के अनुसार वेण के रूप में जन्म लेने का अर्थ हुआ तच्छक (बढ़ई) के रूप में जन्म लेना।[170] लेकिन वेणुकार को बौद्ध साहित्य में तच्छक की तुलना में हीन बताया गया है। सम्भवतः वेणुकार बाँस काटकर उसकी टोकरियाँ आदि बनाने के साथ शिकार भी किया करते थे जो बौद्धों की अहिंसक प्रवृत्ति के विरूद्ध था, शायद इसी कारण काष्ठ कर्म से समबद्ध होने के बावजूद उसे तच्छकों (बढ़इयों) की तरह सम्मान प्राप्त नहीं हो सका ।

इसके साथ ही काष्ठ उद्योग में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों का उल्लेख करना शायद अनुचित नहीं होगा। लकड़ी का काम करने वाले शिल्पियों की निर्भरता कुल्हाड़ी, बसूला, आरा, और आरी तथा छेनी जैसे उपकरणों पर रहती थीं। लौह काल की कुल्हाड़ियां अनेक स्थलों से मिली है।[171] आरे के प्रयोग के साहित्यिक साक्ष्य उत्तरवैदिक काल से सम्बद्ध है।[172] छेनी ताँबे और लोहे जैसी धातुओं की बनती थी। लोहे की छेनी अतरंजीखेड़ा[173], कौशाम्बी[174] , उज्जैन[175], नागदा[176], और प्रकाश[177] आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार के उपकरणों की सहायता से काष्ठ उद्योग में लगे शिल्पी आवश्यकतानुसार सरलतापूर्वक लकड़ी को काट–तराश सकते थे। इस प्रकार ऐतिहासिक काल में काष्ठ उद्योग के विकास में लौह तकनीक का भी महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

सन्दर्भ

1. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 277, इलाहाबाद 2000।
2. वही पृ0 287.
3. वही पृ0 287.
4. वही पृ0 295.
5. वही पृ0 300.
6. ऋग्वेद 1.117.7.
7. वही पृ0 1.117.6.
8. वही पृ0 1.117.12.
9. तैत्तरीय संहिता 4.5.4–2.

10. पुरातत्व नं0 5 के0 के0 सिन्हा पृ0 38, 1971–72 ई0.
11. सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया – ए0 घोष पृ0 59, शिमला 1973.
12. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 255,
13. बौधायन श्रौतसूत्र 15/14.
14. पॉटरीज इन एंशियन्ट इण्डिया – वी0 पी0 सिन्हा पृ0 160 पटना 1969.
15. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 554, इलाहाबाद 2000।
16. वही पृ0 556.
17. वही पृ0 557.
18. वही पृ0 558.
19. वही पृ0 560.
20. दि गंगेज सिविलाइजेशन–टी0 एन0 राय पृ0 201–210 दिल्ली 1983.
21. पुरातत्व नं0 5 के0 के0 सिन्हा पृ0 39, 1971–72 ई0.
22. इंडियन आर्कियोलाजी – ए रिव्यू पृ0 92 सन् 1965–55 ई0.
23. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स बर्लिगेम 28,1 प0 167, 259, 323.
24. अग्रेरियन सिस्टम इन एंशियन्ट इंडिया – यू0 एन0 घोषाल पृ0 172, कलकत्ता 1980.
25. पाणिनीय अष्टाध्यायी 24.3.118.
26. वही
27. भगवती सूत्र 16.1 आवश्यकचूर्णि 156,282.
28. आवश्यकचूर्णि 156.
29. स्ट्रेटीग्रैफिक इविडेंस आफ क्वायंस इन इंडियन एक्सकेवेशंस एंड सम एलाइड एश्यूज मोनोग्राफ नं0 8 वाराणसी 1959, पृ0 1 – 15.
30. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया – ए0 घोष पृ0 67–70, शिमला 1973.
31. वही पृ0 70–71.
32. दि गंगेज सिविलाइजेशन–टी0 एन0 राय पृ0 204–5 दिल्ली 1983.
33. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 206, दिल्ली 1992.
34. महावस्तु पृ0 463–78.
35. लूडर्स लिस्ट सं0 1137.
36. एक्सकेवेशन्स एट त्रिपुरी – एम0 जी0 दीक्षित पृ0 79, पूना 1952.
37. आर्कियोलाजी ऑफ सातवाहन – सी0 मार्गबन्धु पृ0 120–24, दिल्ली 1985.
38. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया – ए0 घोष पृ0 23, शिमला 1973.
39. इंडियन आर्कियोलाजी – ए रिपोर्ट पृ0 7, 1954–55.
40. एंशिन्ट इंडिया – न्यू देहली सं0 10–11, पृ0 16.

41. इंडियन आर्कियोलाजी – ए रिपोर्ट पृ0 16, 1954–55.

42. इंडियन आर्कियोलाजी – ए रिपोर्ट पृ0 19, 1954–55.

43. रिपोर्ट ऑन दि इक्सकैवेशन्स एट नासिक एण्ड जोर्वे–एच0डी0 संकालिया 1950–51.

44. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया – ए0 घोष पृ0 59–70, शिमला 1973.

45. वहीं पृ0 60.

46. अंगविज्जा संपादक वी0 एस0 अग्रवाल प्रस्तावना मुनि श्री पुण्य विजयजी, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी वाराणसी 1953 पृ0 70 भूमिका।

47. संस्कृत हिन्दी कोश–सं0 वामन शिवराम आप्टे पृ0 1139 भारतीय विद्या भवन भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी 1999 ई0.

48. दि एक्सकेवेशन्स एट माहेश्वर,–एच0 डी0 सांकलिया पृ0 213, पूना 1958.

49. एक्सकेवेशन्स एट देवनीमोरी–आर0 एन0 मेहता एण्ड एन0 एन0 चौधरी बड़ौदा 1966 चित्र 43.14 फलक सं0 xxvII

50. एक्सकेवेशन्स एट तक्षशिला –मार्शल पृ0 426 वाल्यूम कैम्ब्रिज 1951.

51. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 627, इलाहाबाद 2000.

52. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 628, इलाहाबाद 2000.

53. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 630, इलाहाबाद 2000.

54. वही पृ0 639.

55. वही पृ0 641.

56. पुरातत्व विमर्श–डॉ0 जे0 एन0 पाण्डे पृ0 655.

57. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया – ए0 घोष पृ0 69–70, शिमला 1973.

58. वही पृ0 70.

59. भारतीय कला – ए0 एल0 श्रीवास्तव पृ0 28, इलाहाबाद 1990.

60. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 392.

61. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 392–93.

62. वही पृ0 393–94.

63. वही पृ0 395–96.

64. वही पृ0 573.

65. वही पृ0 573.

66. भारतीय कला एवं पुरातत्व – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 39, इलाहाबाद 2000.

67. वही पृ0 38.

68. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 576.

69. दि बीड्स फाम टेक्सिला – एच0 ब्रेक पृ0 15–16, कलकत्ता 1941.

70. एक्सकेवेशन्स एट हस्तिनापुर एंड अदर एक्सप्लोरेंशंस इन दि अपर गंगा एण्ड सतलज बेसिन – बी0 बी0 लाल 1950–52.
71. एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी – जी0 आर0 शर्मा 1949–50 मेमोयर्स ऑव दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया नं0 74, दिल्ली 1969.
72. एक्सकेवेशन्स एट श्रावस्ती – के0 के0 सिन्हा 1959, वाराणसी 1967, पृ0 61.
73. एक्सकेवेशन्स एट राजघाट – ए0 के0 नारायण एण्ड पी0 सिंह वाराणसी 1977 पृ0 48–49.
74. वैशाली एक्सकेवेशंस – बी0 पी0 सिन्हा एण्ड सीताराम राय, पटना 969, पृ0 63.
75. आयरन एज इन इंडिया – एन0 आर0 बनर्जी दिल्ली 1965, पृ0 178–81.
76. वही पृ0 206–07.
77. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 576.
78. भारतीय प्रागैतिहास–राधाकान्त वर्मा–पृ0 34 परमज्योति प्रकाशन वाराणसी–इलाहाबाद 1970.
79. उवासगदसावों जिल्द – दो
80. भारत का राजनैतिक इतिहास – हेमचन्द्र राय चौधरी पृ0 159, किताब महल, इलाहाबाद।
81. बब्बु जातक – 1.478–79। बुद्धिस्ट इंडिया – रीजडेविड्स पृ0 90।
82. वैदिक एज, पृ0 53।
83. ऋग्वेद 9.112– कारूरहं ततोभिषगुपल प्रक्षिणीननां। नाना वसूवोअनुगाइव तस्थिमेन्द्रायेन्द्री परिस्रव।
84. चुल्लवग्ग 5.17.2.
85. एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी – जी0 आर0 शर्मा।
86. वही
87. लेबर इन एंशिन्ट इंडिया – पी0 सी0 जैन पृ0 108।
88. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया – वी0 ए0 स्मिथ पृ0 144।
89. एनुअल रिर्पोट, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया – 1904–5 पृ0 36।
90. भारतीय कला एवं पुरातत्व – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 30।
91. भारत का बृहत इतिहास – मजूमदार राय चौधरी दत्त पृ0 193–94, जिल्द एक हिन्दी अनु0 मैकमिलन इंडिया लि0 नई दिल्ली 1954।
92. भारतीय कला एवं पुरातत्व – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 37–38।
93. वही पृ0 36।
94. स्तूप ऑफ भरहुत – कनिंघम

95. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 60.

96. वही पृ0 58।

97. वही पृ0 97।

98. हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन – बी0 ए0 स्मिथ, 1930 ई0। पृ0 170.

99. मौर्य तथा मौर्योत्तर कला – नीहार रंजन राय पृ0 56, मैकमिलन प्रेस नई दिल्ली 1979.0

100. दि आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया, बेजामिन रोलैंड पृ0 78–79 तृतीय संस्करण पेंग्वइन 1956।

101. बुद्धिस्ट आर्ट आफ गान्धार, जान मार्शल पृ0 17.

102. मथुरा स्कल्पचर्स, एन0पी0 जोशी पृ0 10–20, मथुरा 1977।

103. ए सर्वे आफ इंडियन स्कल्पचर्स – एस0 के0 सरस्वती पृ0 85, 99–100 कलकत्ता 1957.

104. दि आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑव इंडिया, बेंजामिन रोलैण्ड पृ0 80।

105. मथुरा स्कल्पचर्स, एन0पी0 जोशी पृ0 10–20, मथुरा 1977।

106. दि एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी सं0 आर0 सी0 मजूमदार चतुर्थ सं0 बम्बई 1968 पृ0 522–23.

107. बुद्धिस्ट मानुमेन्ट्स – देवला मित्रा पृ0 107 कलकत्ता 1970.

108. इंडियन स्कल्पचर्स – क्रेमरिश पृ0 66–67 मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1981.

109. भारतीय कला – ए0 एल0 श्रीवास्तव पृ0 75।

110. वही पृ0 91 से 96 तक।

111. प्राचीन भारतीय संस्कृति–ईश्वरी प्रसाद पृ0 237।

112. आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया रिर्पोट सं0 11 1875 –78 पुन0 मु0 वाराणसी 1969 पृ0 74 फलक 23।

113. ऋग्वेद 7.55.8.

114. वही 7.55.8।

115. महावग्ग 3.8.

116. जातक 2.18, 4.207, 5.159 आदि।

117. महाउमग्ग जातक 6.5.46.

118. अलिनासित जातक 2.156।

119. अष्टाध्यायी 5.4.95।

120. मैक्रिंडल 2, फ्रैगमेंटस 23 पृ0 65।

121. अर्थशास्त्र 2.17।

122. एनुअल रिर्पोट ऑफ आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया 1912–13 पृ0 53।

123. एंशियन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज कलकत्ता। 1877 पृ0 205।

124. वही पृ0 207।

125. भारतीय कला एवं पुरातत्व – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 24–25.

126. आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, एन्युअल रिर्पोट 1926–27 कलकत्ता 1929, पृ0 135.

127. रिपोर्ट आन कुम्हरार एक्सकेवेशंन्स 1951 – 55 ए0 एस0 अल्तेकर एण्ड वी0 के0 मिश्र पृ0 19–20 पटना 1955.

128. पाटलिपुत्र एक्सकेवेशंस 1955–56 बी0 पी0 सिन्हा एण्ड आदित्य नारायण लाल पृ0 10–11, पटना 1970.

129. अर्थशास्त्र 4.3 गीष्में वहिरधिश्रयणं ग्रामाः कुर्यः।

130. अर्थशास्त्र 2.36, प्रादीपिकाअग्निना वध्यः।

131. मिलिन्पन्हों पृ0 413 तच्छको काल सुतं अनुलोमेत्वा रूक्खं तच्छाति।

132. दि अर्ली हिस्ट्री आफ दकन–सं0 जी0 याजदानी भाग 7–11 पृ0 720।

133. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय

134. ऋग्वेद 9.65.6., 10.85.10।

135. ऋग्वेद 7.3.57.

136. ऋग्वेद 6.75.5–8।

137. बौधायन श्रौतसूत 15.13–14।

138. जातक 2.18।

139. इंडिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज,–रामगोपाल पृ0 392 दिल्ली 1959 महाभाष्य 8.1.30।

140. इंडिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज,–रामगोपाल पृ0 395.

141. अंगुत्तर निकाय 1 पृ0 111–113।

142. डायलाग्स ऑफ दि बुद्ध – रीजडेविड्स 1 पृ0 100।

143. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 120।

144. अर्थशास्त्र 2.35.

145. निशीथ चूर्णि 4 पृ0 111।

146. मनुस्मृति 8.290।

147. महाभाष्य 4.1.3।

148. महाभाष्य 5.4.74।

149. महाभाष्य 5.1.2।

150. काशिका 4.2.128।

151. दक्षिण भारत का इतिहास – के0 ए0 नीलकंठ शास्त्री हि0 अनु0 – वीरेन्द्र वर्मा

152. वही पृ0 112, 120।

153. पुरातत्व विमर्श – जे0 एन0 पाण्डेय पृ0 406।

154. ऋग्वेद 1.116.5, शतं अंरित्रा नावं आतस्थिवासं।

155. जातक 4.159.

156. जातक 2.18।

157. अलिनासित जातक 2.156।

158. महाउमग्ग जातक 6.546।

159. अर्थशास्त्र 2.

160. अर्थशास्त्र 5.10.

161. लेबर इन एंशिन्ट इंडिया – पी० सी० जैन पृ० 107.

162. अर्थशास्त्र 2.28 । शंखमुक्ताग्राहिणो नौहाटकान् दद्युः । स्वनौभिर्वातरेयुः।

163. मनुस्मृति 8.406–08।

164. मिलिन्दपन्हों 413।

165. इण्टीकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड – एच० जी० रालिंसन पृ० 109–10 लंदन 1916।

166. बौधायन धर्मसूत्र 10.9.13।
गौतम धर्मसूत्र 1.4.15।

167. जातक 4.251।

168. मनुस्मृति 10.49।

169. जातक 4.पृ० 251।

170. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट टी० डब्ल्यू० रीजडेविड्स 11–173.

171. जी० आर० शर्मा स्मारक संग्रहालय प्रा० इ० वि० इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रदर्शित।

172. मेटीरियल कल्वर एण्ड सोशल फार्मेशन्स – आर० एस० शर्मा पृ० 25 दिल्ली 1983 ई०।

173. एक्सकेवेशन्स एट अतरंजीखेड़ा – आ० सी गौड़ पृ० 185 सन् 1983 ई०।

174. फ्राम हिस्ट्री टु प्री– हिस्ट्री इन दि विन्ध्याज एंड गंगा वैली – जी० आर० शर्मा पृ० 50 इलाहाबाद 1980।

175. आयरन एज इन इंडिया – एन० आर० बनर्जी पृ० 203 दिल्ली 1985.

176. वही पृ० 200.

177. एंशियन्ट इंडिया – बी० के० थापर पृ० 124–25 सन् 1967 ई०।

अध्याय - 6

वस्त्र, चर्म तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग

रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं रही है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा है। सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा भौतिक उन्नति के साथ रोटी, कपड़ा और मकान के मनदण्ड भी बदलते गये। जहाँ भौतिक उन्नति के साथ रोटी, कपड़ा और मकान के मानदण्ड भी बदलते गये। जहाँ आदि मानव अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए मांस एवं कन्दमूल पर निर्भर था तथा शैलाश्रयों एवं गर्तावासों में रहता था वहीं तन ढ़कना या तो आवश्यक नहीं समझता था और जब आवश्यक समझता भी था तो वृक्षों के पत्ते एवं छालें ही पर्याप्त होती थी। यही उनकी रोटी और मकान के बाद तीसरी आवश्यकता– कपड़ा का विकल्प था। जैसे–जैसे मानव सभ्य बनता गया कपड़ा यानि वस्त्र आवश्यकता ही नहीं विलासिता के परिचायक बन गये। इसी आवश्यकता और विलासिता के कारण सन, जूट कपास, क्षौम, रेशम और ऊन आदि के कपड़े बनाये जाने लगे। प्राचीन भारत में ऐसे कपड़े बनाये जाने सम्बन्धी साक्ष्य साहित्य और पुरातत्व दोनों में उपलब्ध है। इस अध्याय में हम सूती वस्त्र उद्योग, रेशमी वस्त्र उद्योग तथा ऊनी वस्त्र उद्योग के अलावा चर्म उद्योग एवं कुछ अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग का अध्ययन करेंगे।

सूती वस्त्र उद्योग :

कपास और सूत के वस्त्र–निर्माण की परम्परा भारत में काफी प्राचीन रही है। कुछ विशिष्ट पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि हड़प्पा सभ्यता के लोगों को भी सूती–कपड़ा बनाने की जानकारी थी।[1] ऋग्वैदिक काल में वस्त्र उद्योग के बारे में ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्यों से पर्याप्त जानकारी मिलती है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'तन्तुम' 'ओतुम' तथा 'वयन्ति'[2] शब्द क्रमशः ताना, बाना और जाल के अर्थ में, 'वाय'[3] बुनकर के अर्थ में तथा 'तसर'[4] ढरकी या भरनी के अर्थ में एवं 'वेमन'[5] करघे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक काल में कपड़े की बनाई की

जिम्मेदारी औरतों को सौपी गई थी। ऋग्वेद के एक मत्र में रात्रि और उषा (उषा काल) की तुलना बुनाई में व्यस्त दो युवतियों से की गयी है – उषसानक्त वय्या इव रण्वित् तंतु ततं संवयंती।[6] एक दूसरे मंत्र में एक औरत को बुनाई के इस कार्य में पुनः नियोजित होने का उल्लेख है जो पहले उस कार्य को अधूरा छोड़ आयी थी।[7] – पुनः सं वस्त्रा पुत्राय मातरः वयंति।[8] ऋग्वेद में सूत गूँथने का जैसा उल्लेख मिलता है उससे पता चलता है कि उस काल के लोग बारीक कपड़ा तैयार कर सकते थे।[9]

स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत तंतुं तन्वानंस्त्रिवृतं यथाविदे।

नयन्नृतस्य प्रशिषोनवीयसीः पतिर्जनीना मुपयात्ति निष्कृतम।

इसके अतिरिक्त एक अन्य मंत्र से स्पष्ट होता है कि उस समय बुनाई के ऐसे केन्द्र भी हुआ करते थे जहाँ वस्त्र निर्माण में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न तकनीकों की जानकारी दी जाती थी[10] –

यो यज्ञों विश्वतस्तन्तु भिस्तत एक शतं देवकर्मे भिरायतः।

इमें वयन्ति पितरोय आययुः प्रवयापवयेत्यासते तते।

सुईयों के प्रयोग से अनुमान लगाया जाता है कि सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग सामान्य रूप से हो रहा था।[11] कपड़ों में कसीदाकारी का काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं जिन्हें पेसस्कारी कहा जाता था।[12] ऋग्वैदिक काल में विभिन्न प्रकार के वस्त्र बुनने वाला वर्ग 'वासोवाय' कहलाता था सम्भवतः उस समय ऊन के वस्त्र अधिक बनते थे – ऊर्णभ्रदाः विप्रथस्व।[13] लेंकिन सूती वस्त्रों का भी प्रयोग होता रहा होगा इससे इंकार नहीं किया जा सकता। उत्तर वैदिक साहित्य में भी सूत कातने का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में सूत कातने का काम स्त्रियों द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है। कपड़ा रंगने वाली स्त्रियों को 'रजयित्री' कहा जाता था।

आरम्भिक ऐतिहासिक काल में सूती कपड़े के निर्माण के बारे में अपेक्षाकृत अधिक जानकारी प्राप्त होती है। त्रिपटकों में सूती वस्त्रों के विषय में उल्लेख मिलता है। विनयपिटक में सूत कातने वाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इसी ग्रंथ के अनुसार शिवि देश अपने सूती वस्त्रों के लिए विशेष प्रसिद्ध था। विनयपिटक

में अन्य शिल्पियों के साथ पेसकार (बुनकर) का भी उल्लेख मिलता है।[14] एक जातक में बुनकर (तंतुवाय) का उल्लेख तो मिला है किन्तु उसके काम को (बुनकरी) निम्न कोटि का बताया गयाहै।[15] बुद्धकाल में रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों के साथ ही सूती वस्त्रों का भी प्रचलन था। स्त्री–पुरुष और बालक–बालिकाओं के अनेक प्रकार के परिधान बनते थे। वस्त्र इतने प्रकार के थे कि स्थिति के अनुसार घटिया से बढ़िया किस्म के वस्त्र खदीदे जा सकते थे। अधिक धन खर्च करने पर उत्तम आकर्षक वस्त्र खरीदे जाने का उल्लेख मिलता है। एक रानी ने सौ सहस्र मुद्रा में लाल परिधान खरीदा था।[16]

इस काल में वस्त्र उद्योग अत्यन्त विकसित था। वस्त्र उद्योग से जुड़ें कुछ शिल्पी तो इतने प्रवीण थे कि बुने हुए मोटे वस्त्र को एक विशेष प्रक्रिया द्वारा बारीक वस्त्र में परिवर्तित कर सकते थे। यदि ऐसा था तो हम कह सकते हैं कि वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त होने वाली यह तकनीक आज के वैंज्ञानिक युग के लिए भी एक चुनौती है।[17] धम्मपद टीका के अनुसार एक कन्या ने एक मोटे कपड़े को, जो उसके सन्यासी भाई के लिए उपयुक्त नहीं था ओखल में कूट पीस कर उसे पुनः बुनकर तैयार कर दिया था।[18] कापासिक वस्त्रों (सूती वस्त्रों) का उल्लेख रेशमी और ऊनी वस्त्रों के साथ मिलने से स्पष्ट होता है कि सूती वस्त्रों का भी लोकप्रियता समान रूप से थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि वाराणसी के आसपास के क्षेत्रों में कपास पैदा होता था।[19]

विनयपिटक में भिक्षुओं की वेशभूषा के सन्दर्भ में एक पूरा अध्याय मिलता है जिसमें चार प्रकार के प्रमुख वस्त्रों का उल्लेख किया गया है जिनमें सूती वस्त्र भी सम्मिलित है।[20] वस्त्रों के रंगने के लिए दस प्रकार के रंगों का उल्लेख मिलता है।[21] भिक्षुओं के लिए फटे पुराने वस्त्रों को सिलकर प्रयोग करने का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के समय तक वस्त्र आवश्यकता की ही नहीं विलासिता के भी प्रतीक बन गये थे। जैन भिक्षुओं की तरह वस्त्रों के निषेध की बात बुद्ध नहीं कर रहे थे बल्कि उन्होंने प्रत्येक भिक्षु के लिए तीन वस्त्रों का ही विधन किया था जितना कि उस समय के एक साधारण व्यक्ति के द्वारा प्रयोग किया जाता था।

उल्लेखनीय है कि बुद्ध मध्यमार्ग में विश्वास करते थे। इस कारण वे वस्त्रहीनता तथा अधिक वस्त्र धारण करने के विरोधी थे। लेकिन विनयपिटक के एक सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्ततः बुद्ध को भी परिस्थितियों की वास्तविकता स्वीकार करना पड़ा और उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को भी सूती, ऊनी रेशमी समेत छः प्रकार के वस्त्रों के प्रयोग की अनुमति प्रदान कर दिया था। अन्य तीन वस्त्रों में सन के वस्त्र, क्षौम (अलसी) के वस्त्र तथा मोटे वस्त्र उल्लेखनीय है।[22] इससे स्पष्ट होता है कि छठी –पाँचवी शताब्दी ई0 पू0 में सूती वस्त्र उद्योग अत्यन्त विकसित अवस्था में था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में कपास के लिए 'तूल' शब्द का प्रयोग मिलता है।[23] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कपास से रूई प्राप्त की जाती थी और उससे सूत तैयार करके सूती वस्त्र बनाया जाता था। पाणिनि ने वस्त्र को 'आच्छादन' और वस्त्र बुनकरों को 'तन्तुवाय' कहा है।[24] धर्मसूत्रों तथा गृहसूत्रों में भी वस्त्रों –विशेषकर सूती वस्त्रों के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं।[25] विशेष रूप से विवाह संस्कार के अवसर पर कपास के बने हुए कपड़ों के उल्लेख मिलते हैं जिनके विषय में यह कहा गया है कि इन्हें ऋषियों की पत्नियों ने कात और बुनकर तैयार किया है।[26] वस्त्रों पर कढ़ाई का काम भी किया जाता था।[27] इस काल में सामान्य तौर पर बिना सिले हुए वस्त्र पहने जाते थे हालांकि सिले हुए वस्त्रों का चलन हो गया था। शरीर के ऊपरी भाग मे जो वस्त्र लपेट लिया जाता था उसको उत्तरीय कहते थे और जो दूसरा वस्त्र होता था वह अधोवस्त्र या अन्तरीय कहलाता था जिसे धोती की तरह कमर में लपेट कर पहना जाता था।[28] पाणिनि ने वस्त्रों के बुनाई में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों के विषय में भी उल्लेख किया है। करघे को 'तन्त्र' तथा ढरकी को 'प्रवाणी' कहा जाता था।[29] करघे से तुरन्त बुने हुए कपड़े के थान का भी उल्लेख मिलता है। 'आवाय' वह स्थान होता था जहाँ कपड़ा बुना जाता था। पाणिनि ने कमर में लपेटने वाले वस्त्र को 'नीवी' तथा पैरों के अग्रभाग तक नीचे लटकती हुई धोती को 'आप्रपदीन' कहा है।[30] 'उपसंव्यान' का प्रयोग 'अन्तरीय शाटक' या धोती के लिए किया गया है–[31] बहिर्योगपसंव्यानयोः । वस्त्र के

लिए आच्छादन के अतिरिक्त 'चीर', 'चेल', 'चीवर' आदि शब्दों का भी प्रयोग पाणिनि के समय हो रहा था।[32] रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त सूती वस्त्रों का भी प्रयोग एवं निर्माण होने का उल्लेख मिलता है।[33]

महाकाव्यों में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के उल्लेख से भी पता चलता है कि उस समय वस्त्र उद्योग विकसित अवस्था में था। रामायण और महाभारत में अधोवस्त्र को 'वास' अथवा 'शाटी' कहा गया है।[34] ऊर्ध्ववस्त्र के लिए 'उत्तरीय' या 'प्रावार' शब्द का प्रयोग किया जाता था।[35] सिर पर धारण करने के लिए समाज में 'उष्णीष' या पगड़ी का प्रचलन बहुत पहले से था। महाभारत से विदित होता है कि पुरुष प्रायः पगड़ी बाँधते थे।[36] समाज के सभी वर्ग के सदस्य चाहे वे धनी रहे हों या निर्धन पगड़ी धारण करते थे। स्त्री और पुरुष रंग–बिरंगे कपड़े पहनने में रुचि लेते थे । पीला, नीला, लाल, श्वेत आदि विभिन्न रंगों के वस्त्र समाज में प्रचलित थे। स्त्रियाँ तो रंगीन वस्त्र पहनती ही थीं, पुरुष भी इसके अपवाद नहीं थे। महाभारत के अनुसार विभिन्न सभाओं और समारोहों में श्रीकृष्ण पीत कौशेय वस्त्र धारण किये सम्मिलित होते थे।[37] 'पीताम्बर'[38](पीला वस्त्र) तो श्रीकृष्ण का प्रिय वस्त्र ही था। रामायण में वाल्मीकि ने रावण को 'पीताम्बर' धारण किये हुए वर्णित किया है।[39] बलभद्र (बलराम) का भी वस्त्र नीले रंग का था।[40] *लाल वस्त्र उस समय भी खतरे का प्रतीक था जैसा कि आज भी है। लाल रंग के वस्त्र से युद्ध और रौद्र का वातारण अधिक व्यक्त होता था। जिस समय मेघनाद युद्ध के लिए तैयार होकर चला था उस समय रक्त वर्ण का वस्त्र पहन रखा था।[41] सत्यवान का प्राण लेने के लिए आये यमराज का वस्त्र भी रक्त वर्ण का था।[42] इससे यह स्पष्ट होता है कि जब कभी किसी के प्राण लेने का उपक्रम होता था तब लाल रंग के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इसलिए रक्त–रंजित युद्ध भूमि में वस्त्रों का रंग लाल होना स्वाभाविक था। इसी तरह काला वस्त्र मृत्यु, शोक और दुःख का परिचायक माना जाता था। महाभारत के अनुसार परीक्षित ने समूचे सर्प वंश के विनाशार्थ जो यज्ञ आयोजित किया था, उसमें सभी पुरोहितों ने काले वस्त्र पहने थे।[43] श्वेत वस्त्र शुभ और कल्याण का प्रतीक था। आज भी श्वेत वस्त्र शान्ति का प्रतीक माना जाता*

है। रामायण के अनुसार त्रिजटा ने स्वप्न में जब राम और लक्ष्मण को श्वेत वस्त्र पहने हुए देखा तो उसने यह निश्चित रूप से समझ लिया कि युद्ध में विजय इन्हीं की होगी।[44] इससे स्पष्ट होता है कि महाकाव्य कालीन समाज में विभिन्न रंगों वाले वस्त्र प्रचलित थे जिनमें सूती, रेशमी, ऊनी सभी श्रेणी के वस्त्र होते थे। समाज का साधारण वर्ग प्रायः सूती वस्त्र ही धारण करता था। महाकाव्यों से कपड़े की बुनाई और सिलाई के बारे में भी जानकारी मिलती है। महाभारत के अनुसार वस्त्रों के बुनाई 'सवेम' (करघे) से हुआ करती थी[45] तथा सिलाई 'सूची' (सुई) से होती थी।[46]

मौर्यकाल में वस्त्र–बुनाई उद्योग 'सूत्राध्यक्ष' के पर्यवेक्षण में रखा गया था। अनेक सन्दर्भों के अनुसार बुनाई केवल व्यावासायिक बुनकरों के हाथों में नहीं केन्द्रित थी अपितु यह बड़े पैमाने पर की जाती थी जिसके लिए राज्य का नियंत्रण एवं संरक्षण उसे प्राप्त था। अर्थशास्त्र में कपड़ा बुनने की प्रक्रिया पर अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सूत्राध्यक्ष सूत्र, वर्म (धागा) तथा रज्जु (रस्सी), आदि कतवाता, बुनवाता था। सूत्र कातने का कार्य प्रायः स्त्रियाँ, करती थी। निर्धन, विधवा, लंगड़ी, लूली स्त्रियाँ, कन्याएं, सन्यासिनें, सजा प्राप्त स्त्रियाँ, वेश्याओं की माताएं (रूपाजीवामातृका), बूढ़ी दासियाँ तथा देवदासियाँ आदि मुख्यतः सूत कात कर अपनी आजीविका चलाती थी।[47]

"विधवान्यडगाकन्याप्रव्रजिता दण्डप्रतिकारिणभिः
रूपाजीवामातृकाभिः वृद्धराज दासीभिः व्युपरतोपस्थान
देवदासीभिश्च कर्तयेत् ।"

सूत की गुणवत्ता के आधार पर इस प्रकार के कारीगरों (कारुभिश्च) को निश्चित वेतन दिया जाता था[48] – श्लक्ष्णस्थूल मध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतन कारयेत्। सूती वस्त्र की बुनाई करने वाले शिल्पी को तन्तुवाय कहा जाता था। उसकों कपड़ा बुनने के लिए सूत 'पल' नामक बांट से तौल कर दिया जाता था। जुलाहे को चाहिए कि वह 10 पल कपड़ा बुनने के लिए 11 पल सूत ले (अर्थात् 10 पल कपड़ें के लिए 1 पल अधिक सूत लेवे)। तात्पर्य यह है कि 10 पल के ऊपर 1 पल सूत छीजन में खराब किया जा सकता है इससे अधिक नहीं।[49]

तन्तुवाया दशैकादशिकं सूत्रं वर्धयेयु:।

यदि जुलाहा इससे अधिक छीजन निकाले तो उस पर छीजन का दुगुना दण्ड किया जाय।[50] सूत के कपड़े की बुनाई (बुनने की मजदूरी) सूत की कीमत के बराबर देनी चाहिए और जूट तथा रेशमी कपड़े की बुनाई सूत से ड्योढ़ी[51] –

सूत्रमूल्यं वानवेतनं क्षौमकौशेयानाम्यर्धगुणम्।

कौटिल्य के अनुसार बुनकर से जितने नाप का कपड़ा बुनने को कहा गया हो, यदि उससे कम बुने तो उसी हिसाब से वेतन भी कम देना चाहिए और कम बुनाई का दुगुना जुर्माना उस पर किया जाय[52] –

मानहीने हीनापहीनं वेतन तद्द्विगुणश्च दण्ड:।

अर्थशास्त्र में यह भी उल्लेख मिलता है कि यदि सूत तौल कर दिया गया हो तो बुने हुए कपड़ों में तौल में जितनी कमी होती थी उसका चौगुना दण्ड बुनकर पर लगाया जाता था। यदि बुनकर सूत को बदल दे तो ऐसी स्थिति में मूल्य का दुगुना दण्ड देना पड़ता था।[53]

कौटिल्य ने कपड़ों की धुलाई और रंगाई के विषय में भी विस्तार से उल्लेख किया है। धोबी को अर्थशास्त्र में भी रजक कहा गया है। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि कपड़ा धुलने के लिए लकड़ी के पटरे अथवा चिकने पत्थर का प्रयोग करें[54] – रजका: काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेजिज्यु: । यदि दूसरी जगह कपड़े धोये गये और धोते समय कपड़े फट गये तो इस नुकसान की क्षतिपूर्ति धोबी को करनी पड़ती थी। साथ ही साथ दण्ड के रुप में छ: पण अर्थदण्ड भी अदा करना पड़ता था।[55] जो धोबी स्वयं धुलाई के कपड़े बेंच दिया करते थे या गिरवी रखते थे उन पर 12 पण अर्थदण्ड लगता था। कपड़े बदल जाने पर कपड़े के मूल्य का दुगुना दण्ड देना पड़ता था। कभी–कभी धोबी धुले हुए कपड़े को स्वयं पहन लेते थे। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी थी कि धोबियों के पहनने के कपड़ों पर 'मुद्गर' का निशान होना चाहिए। यदि किसी धोबी के कपड़े पर 'मुद्गर' का निशान न हो तो उस पर तीन पण अर्थदण्ड किया जाय।[55]

कपड़े की किस्म एवं रंग के आधार पर विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की धुलाई के लिए समय सेवा निर्धारित की। फूल की कली के समान श्वेत वस्त्र धोकर धोबी एक दिन में ग्राहक को दे देता था। अगर वह संगमरमर की तरह वस्त्र धोता था तो उसे एक दिन का समय और मिलता था। प्रायः तीन दिन में धुले हुए वस्त्र ग्राहक को मिलते थे। अत्यधिक उज्ज्वल वस्त्र चार दिन में धुलकर ग्राहक को प्राप्त होता था।

मुकुलावदातं शिलापट्टशुद्धं धौतसूत्रवर्ण

प्रमृष्टश्वेततरं चैकरात्रोत्तर दुद्युः।

हल्के रंग वाले कपड़ों के लिए पांच दिन, नीले गाढ़े रंग के, लाल तथा मंजीठ रंग के कपड़ों को छः दिन, रेशमी तथा बेलबूटेदार और उत्तम किस्म के कपड़ों को धुलकर लौटाने की अधिकतम समय सीमा सात दिन होती थी।[57] यदि रजक इसके बाद कपड़ा धुलकर दे तो उसे धुलाई न देने का विधान था। इसी सन्दर्भ में कपड़ों की धुलाई की दर भी अर्थशास्त्र में दी गयी है। उत्तम किस्म के रंगीन कपड़ों की धुलाई की दर एक पण प्रतिवस्त्र, मध्यम श्रेणी के रंगीन कपड़ों की धुलाई आधा पण प्रतिवस्त्र और साधारण श्रेणी के रंगीन तथा सादे वस्त्रों की धुलाई एक चौथाई पण प्रतिवस्त्र थी।[58] यद्यपि धुलाई और रंगाई सम्बन्धी उक्त विवरण से सूती कपड़े की धुलाई एवं रंगाई का प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता लेकिन परोक्ष रूप में जो जानकारी मिलती है उससे इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि सूती वस्त्रों की धुलाई एवं रंगाई के लिए न तो कोई पृथक् वर्ग रहा होगा और न ही कोई पृथक् विधि। सभी प्रकार के वस्त्रों की धुलाई करने वाले रंजक ही कहलाते थे जो सामान्यतः सूती, ऊनी, रेशमी आदि वस्त्रों को धुलते थे। इन विवरणों से प्रत्यक्ष रूप से वस्त्र उद्योग के विकसित स्वरुप के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

मौर्योत्तर काल में भी वस्त्र उद्योग के उन्नत स्वरूप के बारे में साहित्य एवं पुरातत्व दोनों से जानकारी मिलती है। पतंजलि कृत महाभाष्य में अन्य शिल्पियों के साथ बुनकरों का भी उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने कपड़े रंगने का स्पष्ट उल्लेख

किया है।[59] एक अन्य स्थान पर रजक, रजन और रज शब्दों की निष्पत्ति उन्होंने बतलायी है।[60] इससे यह तो साफ ही मालूम होता है कि भाष्यकार के समय में कपड़े रंगने वालों का एक स्वतंत्र शिल्प था, उसी के नाम से पुकारा जाता था।[61] जैसे – कषाय से रंगे वस्त्र को काषाय कहते थे। भाष्यकार ने लाख, रोचन[62], शकल, कर्दम[63], नीली[64], पीत[65], हरिद्रा और महारजन[66] से वस्त्रों के रँगे जाने का वर्णन किया है। इन रँगों से रँगे गये वस्त्र क्रमशः लाक्षिक, रौचनिक, शाकलिक, कार्दमिक, नीलम, पीतक, हारिद्र और महारजन कहे जाते थे। लाक्षा को जतु भी कहते थे। जतु से रंगे वस्त्र की संज्ञा थी जातुष[67]। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कर्दम मोटे कपड़े (सूत के बने ?) की पहली धुलाई के उपयोग में आती रही होगी।[68] लाल रंग का भी प्रचार काफी था। ऋत्विक् लोग लाल रंग की पगड़ी बाँधते थे।[69]

लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तिं । लाल रँग वस्त्र को लोहितक[70] और काले रंग के वस्त्र को कालक[71] कहा जाता था। कोई–कोई रंग सरलता से ही वस्त्र पर चटकीला उतरता है। ऐसे ही वस्त्र का लक्ष्य कर एक स्थान पर कहा गया है कि वस्त्र अपने–आप ही रंग गया।[72] कभी–कभी एक ही वस्त्र के भिन्न–भिन्न भागों को अलग–अलग रंगों से रंगते थे। ये वस्त्र चित्रवासस् कहलाते थे।[73]

महाभाष्य में रजक के साथ ही कपड़ा बुनने वाले वर्ग–तन्तुवाय (बुनकर) का उल्लेख मिलता है।[74] तन्तुवाय वस्त्र बनाते थे। घर–घर में सूत कातने की प्रथा थी। कता हुआ सूत तन्तुवाय को दे दिया जाता था। तन्तुवाय स्वयं भी सूत तैयार करते रहे होंगे, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। भाष्य में तन्तुवाय के घर जाकर उसे सूत देकर वस्त्र बनवाने की चर्चा है। कोई तन्तुवाय को सूत देकर कहता है कि इसकी धोती बुन दो। तन्तुवाय सोचता है कि यदि धोती है, तो बुनने की आवश्यकता क्या है और यदि बुनना है तो धोती नहीं हो सकती। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मुझे सूत्र को इस प्रकार बुनना है कि बुनने पर इसका नाम शाटक हो जाय। इसकी शाटक संज्ञा अभी होने वाली है, है नहीं।[75]

वस्त्र बुनाई के विभिन्न साधनों के बारे में भी महाभाष्य से जानकारी मिलती है। तन्तुवाय के तुरी–वेमा को जिस पर यह वस्त्र बुनता था, आवाय कहते थे।[76] उसका वेमा तंत्र कहलाता था।[77] जिससे वह बुने हुए सूत को सघन करता जाता था, उसकी संज्ञा प्रवाणि थी अर्थात् जिससे बुना जाये।[78] यह तन्तुवाय की शलाका थी, ऐसा काशिका में कहा गया है। तन्तुवाय पहले सूत को उतना लम्बा–चौड़ा फैला लेता था जितना लम्बा–चौड़ा वस्त्र उसे बुनना हो। इसे तन्त्र को आस्तीर्ण करना कहते थे।[79] बाद में वह चौड़ाई में सूत पिरोया जाता था। प्रवाणि से बुनकर तुरन्त हटाया गया वस्त्र निष्प्रवाणि कहलाता था जबकि तन्त्र से तुरन्त बुनकर उतारा हुआ वस्त्र तन्त्रक कहा जाता था[80]– तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः तन्त्रकः प्रवारः। प्रत्यग्रो नव उच्यते। तन्त्रक और निष्प्रवाणि दोनों वस्त्रों का अर्थ होता था, तुरन्त बुने हुए वस्त्र।

तन्तुवाय बुनने के बाद वस्त्रों को मसाले से धोते थे, जिससे मटमैले सूत के वस्त्र भी शुक्ल हो जाते थे।[81] शुक्लता में अन्तर करते हुए भाष्यकार ने वस्त्र के शुक्ल और शुक्लतर दो भेद किये हैं। शुक्लता और सूत के अन्दर से वस्त्रों के अर्घ्य में भी अन्तर रहता था।[82] बराबर लम्बाई और चौड़ाई होने पर भी काशी में बने वस्त्र का मूल्य मथुरा में बने वस्त्र से भिन्न रहता था। इसका कारण वस्त्रों का गुण–भेद था। बनाने वाले जुलाहे धौत को दूसरे मसाले से धोते थे, शैफालिक को दूसरे से माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार वे किसी वस्त्र को शुद्ध धौत बना देते थे, किसी को शैफालिक और किसी को माध्यमिक। वस्त्रों के मूल्य – भेद का कोई कारण नहीं था। उनकी सूक्ष्मता की तरतमवत्ता भी मूल्य के अपकर्षोत्कर्ष का कारण होती थी। सूक्ष्मता का दायित्व सूत्र या तन्तु कातने वाले पर निर्भर रहता था[83] –

इहास्यापि सूक्ष्माणि वस्त्राण्यस्यापि लक्ष्माणि।

वस्त्राणीति परत्वादातिशायिकः प्राप्नोति – सूक्ष्म वस्त्रंतराद्यर्थः।

विदेशी लेखकों के विवरणों में भी भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के बारे में छिटपुट जानकारी मिलती है। विदेशियों द्वारा भारतीय वस्त्रों पर प्रकाश डालने का कारण यह था कि अधीतकाल में भारतीय वस्त्रों (विशेषकर सूती वस्त्रों) की प्रसिद्धि

विदेशों तक थी। हेरोडोटस के अनुसार भारतीय सूती कपड़ों की बनावट और सुन्दरता ऊनी वस्त्रों से भी अच्छी थी।[84] सिकन्दर का नौ–सेनापति (एडमिरल) नियार्कस भारतीयों के पहने जाने वाले वस्त्रों का विवरण इस प्रकार देता है :

भारतीयों द्वारा पहने जाने वाले वस्त्र वृक्षों पर उत्पन्न होने वाले कपास से बनते है। परन्तु यह कपास या तो अन्यत्र कहीं भी प्राप्त होने वाले किसी कपास की अपेक्षा अधिक चमकीले सफेद रंग की होती है अथवा भारतीयों के काले रंग के वैषम्य में ये वस्त्र इतने ज्यादा सफेद प्रतीत होते हैं। वे एक सूती अधोवस्त्र पहनते हैं, जो घुटनों के नीचे टखनों की ओर आधी दूर तक पहुँचता है और एक 'उत्तरीय' प्रयोग में लाते हैं जिसका कुछ भाग तो वे अपने कंधों पर लपेटते हैं और कुछ भाग मोड़कर सिर के चारों ओर लपेट लेते हैं। भारतवासी हाथी दाँत के कर्ण फूल भी पहनते हैं परन्तु ऐसा अत्यधिक धनी व्यक्ति ही करते हैं। धूप से बचने के लिए वे छातों का इस्तेमाल करते है। वे सफेद कपड़े के बने जूते पहनते हैं जिन पर बारीक नक्काशी रहती है और जिनके तले रंग–बिरंगे और बहुत मोटे होते हैं जिससे उन्हें पहनने वाला काफी लंबा दिखाई दे सके।[85] प्लिनी ने भी भारतीय सूती कपड़े की तुलना अंगूरी लता से की है।[86] एरियन ने भी भारतीय सूती कपड़े की सफेदी एवं चमक की प्रशंसा की है।[87] सिकन्दर को मालवों ने जो उपहार दिया था उनमें सूती वस्त्रों की बहुलता थी।

पुरातत्व से भी वस्त्र उद्योग के विषय में प्रभूत जानकारी प्राप्त होती है। अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से मिट्टी के बर्तनों पर सूती कपड़े की छाप लगी हुई मिली है।[88] इससे यह अनुमान लगाया गया है कि सूती वस्त्रों का निर्माण इस काल में होने लगा था। उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के स्तरों से कौशम्बी से सूती वस्त्रों की छाप मिट्टी के बर्तनों पर मिली है।[89] इसके अतिरिक्त एन0 बी0 पी0 काल के सन्दर्भ में ही कौशाम्बी और वाराणसी के राजघाट के उत्खनन से लोहे की बनी हुई छेदयुक्त सुईयाँ मिली है जिनसे यह इंगित होता है कि वस्त्रों की सिलाई का काम भी प्रारम्भ हो गया था।[90] उज्जैन के उत्खनन से मिट्टी के बने हुए तर्कु चक्र मिले है।[91] ताँबे की सुई तक्षशिला से प्राप्त हुई है जिससे इंगित होता है कि

वस्त्रों की सिलाई भी होती थी।[92] इस काल की मृण्मूर्तियों में भी वस्त्रोभूषणों पर प्रकाश पड़ता है। मौर्य–शुंगकाल की मृण्मूर्तियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पुरुष तीन प्रकार के वस्त्र पहनते थे – अंतरवासक (अधोवस्त्र), उत्तरासंग (उत्तरीय), तथा उष्णीष (पगड़ी) कमर में वस्त्र कमरबन्द अथवा फेंटा से बाँधा जाता था। स्त्रियाँ साड़ी तथा ओढ़नी पहने हुए अंकित है।[93] नासिक का एक लयण–लेख, जिस पर सं0 42 (120 ई0) दिया हैं, शकराज नहपान के जामाता उषावदात द्वारा तीन हजार कार्षापण के दान का उल्लेख करता है। सम्पूर्ण धनराशि को गोवर्धन की जिन श्रेणियों में जमा किया गया था वे दोनों श्रेणी बुनकरों की थी। जुलाहों या बुनकरों की पहली श्रेणी में दो हजार कार्षापण एक प्रतिशत प्रति मास ब्याज की दर से जमा किया गया था जबकि दूसरी श्रेणी में एक हजार कार्षापण 3/4 प्रतिशत मासिक ब्याज दर पर जमा किया गया था।[94]

इस प्रकार के पुरातात्विक साक्ष्यों से वस्त्र उद्योग और उससे जुड़े शिल्पियों –बुनकरों की सुदृढ़ स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

ऊनी वस्त्र उद्योग :

साहित्यिक साक्ष्यों से ऊनी वस्त्र निर्माण की प्राचीनता ऋग्वैदिक काल तक जाती है। ऋग्वेद के अन्तः साक्ष्यों से पता चलता है कि उस समय ऊनी कपड़े अधिक पहने जाते थे।[95] उस समय गांधार की भेंडे[96] और परुष्णी प्रदेश तथा सिन्धु प्रदेश के ऊन[97] अधिक प्रसिद्ध थे। उल्लेखनीय है कि यह सामान्यतः वही क्षेत्र था जहाँ आर्यों ने अपने आरंभिक केन्द्र बनाये थे। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में भी ऊन का प्रचुर उल्लेख मिलता है। ऊनी वस्त्रों के लिए 'ऊर्णा' का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।[98]

बुद्धकाल में कपास, रेशम, सन, क्षौम, आदि के साथ ऊन के तन्तुओं से भी वस्त्र निर्माण करने का प्रमाण मिलता है।[99] महापरिनिब्बानसुत के अनुसार सुन्दर और लुभावने ऊनी वस्त्र– 'और्ण' वाराणसी में बनते थे।[100] वाराणसी की ही तरह कश्मीर और गंधार के ऊनी वस्त्र अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध थे। वहाँ के लाल कम्बल अधिक प्रसिद्ध थे।[101] समाज में शिवि राज्य के ऊनी दुशालों की अधिक माँग

थी।[102] बौद्ध साहित्य में ऐसे बुनकरों का भी उल्लेख मिलता है जो अभिजात वर्ग के लोगों के लिए कम्बल और गलीचे बनाकर अत्यधिक सम्पन्न हो गये थे। एक स्थान पर एक रानी द्वारा एक सौ हजार मुद्रा –मूल्य का एक किरमिजी कम्बल धारण करने का उल्लेख मिलता है।[103] इसी प्रकार के एक अन्य प्रसंग में एक गलीचे की कीमत एक सौ हजार मुद्रा बतायी गयी है।[104] इससे बुद्धकाल में ऊनी वस्त्र उद्योग की समृद्ध स्थिति का अनुमान लगया जा सकता है।

ऊनी वस्त्र बुनने वालों के लिए भी पाणिनि ने 'तन्तुवाय' शब्द का प्रयोग किया है। सूती वस्त्रों की तरह उत्तम श्रेणी के ऊनी वस्त्रों को जिसे 'और्ण" अथवा 'और्णक' कहा गया है, इस युग के बुनकर तैयार करते थे। पाणिनि ने तीन प्रकार के कम्बलों का उल्लेख किया है प्रावार[105], पाण्डु कम्बल[106] और पण्यकम्बल[107]। कोशिका के अनुसार पाण्डुकम्बलों की उत्कृष्ट गुणवता थी। इन कम्बलों के शाही प्रयोग को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन ऊनी वस्त्र उद्योग उच्चतर मानकों पर खरे उतर रहे थे।[108] विविध प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख अनेक सूत्र ग्रंथों में भी मिलता है जिनसे ऊनी वस्त्र उद्योग की उन्नत अवस्था का भी अनुमान लगाया जा सकता है। पारस्कर गृह्रसूत्र में देवियों द्वारा सूत कातने और वस्त्र बुनने का संदर्भ मिलता है।[109] बहिर्वासस, अन्तःवासस और उष्णीष के साथ कम्बल जैसे भारी–भरकम वस्त्रों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकाल में अन्य वस्त्रों के साथ–साथ ऊनी वस्त्रों का भी निर्माण हो रहा था।[110]

महाकाव्यों में भी सूती तथा रेशमी वस्त्रों के साथ वस्त्रों के निर्माण पर प्रकाश डाला गया है। रामायण में बुनाई में दक्ष सभी कर्मियों को, चाहे वे सूती, ऊनी अथवा रेशमी वस्त्रों में किसी की भी बुनाई करते हों, संयुक्त रूप से 'सूत्रकर्म विशारद' कहा गया है।[111] राजा जनक ने सीता को उपहार में जो वस्तुएं प्रदान किया था उनमें करोड़ों रेशमी वस्त्रों के साथ उच्च श्रेणी के कम्बल भी सम्मिलित थे।[112] हनुमान जब स्वयं प्रभा की गुफा में प्रविष्ट हुए तो वहाँ उन्होंने बहुमूल्य तथा अत्यन्त सुन्दर वस्त्रों के साथ ही रंग–बिरंगे ऊनी कम्बलों का अम्बार देखा।[113]

कम्बलानां च मुख्यानां क्षौभ कोटयम्बराणि च।

महाभारत में भी ऊनी कपड़े को 'और्ण' कहा गया है।[114] सर्दियों में ऊनी वस्त्रों का प्रयोग बहुत पहले से ही प्रचलित था। इस काल में भी ऊनी वस्त्रों का निर्माण प्रगति पर था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि चीन, हूण, शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिए जो उपहार सामग्री लाये थे उनमें अन्य वस्त्रों के साथ ऊनी वस्त्र भी थे।[115] कश्मीर का ऊनी वस्त्र उद्योग बहुत पहले से विकसित था। प्राचीन काल में भी, आज की तरह कश्मीर में तैयार किये जाने वाले सादे और कढ़ाईदार शाल प्रसिद्ध थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि कम्बोज – नरेश ने युधिष्ठिर को उच्च कोटि के अलंकृत ऊनी वस्त्र उपहार में दिये थे।[116]

और्णान वैलान् वार्षदन्तान् जातरूप परिष्कृतान्

प्रावराजिन मुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून।

'अकार्पासम'[117] शब्द के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सूत के साथ ऊन और रेशम के धागे मिलाकर वस्त्र बनाने की कला में भी इस काल के शिल्पी दक्ष थे।[118] महाकाव्य काल में सूती रेशमी वस्त्रों के साथ ऊनी वस्त्रों का भी भारत से दूसरे देशों को निर्यात किया जाता था।[119]

मौर्यकाल में ऊनी वस्त्र उद्योग भी अत्यन्त विकसित था। गांधार क्षेत्र ऊनी वस्त्र के लिए मौर्यकाल में भी प्रसिद्ध था। यहाँ के बने हुए ऊनी वस्त्र और शाल–दुशाले देश के विभिन्न भागों में बिकने के लिए आते थे।[120] मौर्यकाल में ऊनी वस्त्र उद्योग की उन्नति के कई कारण थे। जैसे कच्चेमाल की पर्याप्त उपलब्धता, शिल्पकारी में गुणात्मक सुधार तथा पश्चिम एशियाई क्षेत्रों में नवीन बाजार, जहाँ शिल्पियों को विदेशी व्यापारियों के साथ व्यापारिक होड़ का सामना करना पड़ा जिससे उन्हें अपने उत्पाद की गुणवत्ता बढ़ाने की प्रेरणा मिली। कौटिल्य ने नेपाल के ऊनी भिंगसी का भी उल्लेख किया है।[121] उनके अनुसार ये आठ टुकड़ों को जोड़कर बनते थे और इन पर वर्षा का कोई असर नहीं होता था। कौटिल्य ने भेड़ों के रंग के आधार पर ऊनी वस्त्रों के तीन प्रकारों, निर्माण विधि के आधार पर चार प्रकारों, प्रयोग के आधार पर पाँच प्रकारों और गुणों के आधार पर छः प्रकारों का उल्लेख किया है। ऊनी कम्बलों का भी उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। कम्बल

तीन प्रकार के होते थे – शुद्ध (ऊनी के असली रंग के), शुद्ध रक्त (हल्के लाल रंग के), पट्टारक्त (लाल कमल के रंग के)। इन्हें चार प्रकार से बनाया जाता था– खचितं, वानचित्रं, खण्डसंघात्य और तन्तुविच्छन्न।

शुद्धं शुद्धरक्तं पद्मरक्तं च आविकम् ।

खचितं वानचित्रं खण्डसंघात्यंतन्तु विच्छिन्नं च।।[122]

अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के ऊनी वस्त्रों का उल्लेख किया है। जैसे –कौचपक (ग्वालों द्वारा ओढ़ा जाने वाला शाल), सौमित्तिका (बैलों के ऊपर ओढ़ाया जाने वाला कम्बल), तुरंगास्तरण (घोड़ों को पीठ पर रखा जाने वाला वस्त्र), वर्णक, तलिच्छक (विस्तर पर बिछाया जाने वाला आवरण), कुलभित्तिका (सिर पर ओढ़ा जाने वाला शाल), और समन्तभद्रक (हाथी पर डाली जाने वाली झूल)[123]। अर्थशास्त्र के अनुसार उत्तम श्रेणी के ऊनी वस्त्र बनाने वाले बुनकरों को भी राज्य द्वारा प्रोत्साहन स्वरूप फूलों की माला, इत्र तथा अन्य पुरस्कार दिया जाता था।[124] ऊनी वस्त्र बुनने वाले भी सूत्राध्यक्ष नामक अधिकारी के पर्यवेक्षण में कार्य करते थे।[125]

सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्र रज्जु व्यवहारं तज्जातपुरुषै कारयेत्।

ऊर्णावल्क कार्पासतूलशण क्षौमाणि च।

अर्थशास्त्र में ऊनी कपड़े की बुनाई (मजदूरी) पर भी प्रकाश डाला गया है। ऊनी कपड़े की बुनाई रेशमी कपड़े की तरह ही सूत की बुनाई की दुगुनी होती थी।[126] लेकिन जितने नाप का कपड़ा बुनने को कहा गया हो यदि उससे कम बुने तो उसी हिसाब से उसे पारिश्रमिक तो कम दिया ही जाय साथ ही कम बुनाई का दुगुना जुर्माना भी किया जाय।[127] इस प्रकार के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मौर्यकाल में सूती तथा रेशमी वस्त्र उद्योग की तरह ऊनी वस्त्र उद्योग भी अत्यन्त विकसित था तथा राज्य इस उद्योग को भी संरक्षण प्रदान करता था।

मौर्योत्तर काल में भी अन्य वस्त्रों के साथ विविध प्रकार के ऊनी वस्त्रों का भी निर्माण होता था। कम्बल या ऊर्णा में वस्त्र बनाने वालों को भी तन्तुवाय ही कहा जाता था यद्यपि कम्बल या ऊनी वस्त्र बनाने वालों का एक स्वतंत्र वर्ग होता था। कते हुए ऊन के धागे के लिए तन्तु का व्यवहार होता था।[128] इस प्रकार शुद्ध

अभिधार्थ की दृष्टि से तन्तुवाय इन्ही को कहना चाहिए। पतंजलि के अनुसार, "एक तन्तु त्वचा की रक्षा नहीं कर सकता किन्तु उनका समुदाय रूप कम्बल कर सकता है।"[129] कम्बल काले या पाटल भी बनते रहे होंगे किन्तु भाष्यकार ने शुक्ल कम्बल का उल्लेख अनेक बार किया है। वैसे तो कम्बल भिन्न–भिन्न आयाम और विस्तार के बनते थे तथा उनकी मोटाई और वजन में अन्तर रहता था, किन्तु एक विशेष प्रकार के कम्बलों का प्रचलन अधिक था, जिनकी लम्बाई – चौड़ाई और वजन निश्चित था। ये निश्चित परिमाण वाले कम्बल बाजार में अधिक मिलते थे। सामान्य कम्बल कहने से इन्ही का बोध होता था। यद्यपि सामान्य परिमाण के दूसरे विक्रय–योग्य कम्बलों को पण्यकम्बल ही कहते थे, फिर भी दोनों अर्थों में प्रयुक्त इस शब्द के उच्चारण में अन्तर था, सामान्य कम्बल जिसका औसत वजन 100 पल या 5 सेर रहता था, उच्चारण में पूर्वपद प्रकृति –स्वर रहता था, किन्तु पण्यकम्बलों के उच्चारण में समासान्तोदात्त बोला जाता था –

पण्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यं यो हि पाणितव्यः

कम्बलः पण्यकम्बलः एवासौ भवति।

पूर्व–पद प्रकृति–स्वरवाला 'पण्यकम्बल' शब्द संज्ञा बन गया था। इसे कम्बल्य ऊर्ण कहते थे। कम्बल शब्द 100 पल ऊन का पर्यायवाची बन गया था। उससे भिन्न परिमाण के कम्बल में काम आने वाली ऊर्णा को कम्बलीय कहा जाता था।[130] कम्बल्य शब्द परिमाण की संज्ञा बन गया था। कम्बल्य से क्रय–विक्रय का काम चलता था। यथा, दो कम्बलों से खरीदी वस्तु द्विकम्बल्य कही जाती थी।[131] कभी–कभी स्थान विशेष में बनने एवं प्रसिद्धि पा जाने के कारण वहाँ के कम्बलों का नाम उस प्रदेश के नाम पर चल पड़ता था। जैसे रंकु–प्रदेश में बने कम्बल 'रांकव' कहलाते थे।[132] इसी प्रकार पाण्डुकम्बल[133] भी विशिष्ट कम्बलों का नाम पड़ गया था, जो पाण्डु रंग के तो होते ही थे, किन्तु पाण्डु रंग के साधारण कम्बल न थे। डॉ0 वी0 एस0 अग्रवाल के अनुसार, ये उड्डीयान या स्वात घाटी में बनाये जाते थे और वहाँ से देश भर में भेजे जाते थे। ये बहुमूल्य थे और काशिका के अनुसार राजास्तरण के काम आते थे। रथों के आसनास्तरणों के रूप में इनका

प्रयोग होता था। रथों का अन्तर्भाग – सामान्यतया तीन वस्तुओं से मढ़ा जाता था– वस्त्र, चर्म और कम्बल।[134] सामान्य कम्बल से मढ़ा हुआ रथ 'कम्बलरथ' कहलाता था किन्तु पाण्डुकम्बल से मढ़े हुए रथ की विशिष्टता सूचित करने के लिए उसे 'पाण्डुकम्बली' कहते थे।[135] सामान्य कम्बल के ऊपर इसका महत्व प्रतिपादित करने के लिए ही इसे राजास्तरण कहा जाता था।[136] कम्बल के अतिरिक्त कई अन्य वस्त्र भी ऊन के बनते थे। ऊन के बने सभी वस्त्रों को साधारणतया और्ण या और्णक कहा जाता था।[137]

मनुस्मृति में 'कुतप'[138] शब्द का उल्लेख मिलता है। टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने 'कुतप' का अर्थ नेपाल का मुलायम कम्बल किया है। मनु के अनुसार वैश्य को ऊन का जनेऊ धारण करना चाहिए। ऊन और ऊनी उत्पादों के निर्यात के भी साक्ष्य इस काल में मिलते हैं। पेरीप्लस में सिन्धु तट पर स्थित बारबैरिकम बन्दरगाह से लोमचर्म के निर्यात का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान इसे दक्षिण भारत से आया हुआ मानते हैं।[139] लेकिन ई0 सन् की प्रारम्भिक शताब्दी में उत्तर–पश्चिम भारत से मिस्र और सीरिया को ऊन भेजने का संकेत मिलता है। पश्चिम भारतीय बंदरगाह से भूमध्य सागरीय क्षेत्रों को कराकोरम क्षेत्र की बकरियों के ऊन का निर्यात किया जाता था।[140] भारत में उन्नत कोटि का ऊन तिब्बती बकरियों से प्राप्त किया जाता है। कश्मीरी व्यापारी इसे तिब्बत से प्राचीन काल से ही मँगाते रहे हैं।[141] इसके अतिरिक्त अफगास्तिान और ईरान से भी ऊन लाने का उल्लेख मिलता है।[142]

रेशमी वस्त्र उद्योग :

रेशमी वस्त्र के लिए संस्कृत साहित्य में 'कौशेय'[143], 'क्षौम'[144] तथा 'चीनांशुक'[145] जैसे शब्दों का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य में रेशमी वस्त्रों के बारे में उस तरह का विवरण नहीं मिलता जैसा सूती और ऊनी वस्त्रों के बारे में मिलता है। 'क्षौम'[146] का उल्लेख मिलता है लेकिन अनेक विद्वानों के अनुसार यह क्षुमा, उमा या अतसी अथवा अलसी से तैयार किया जाने वाला वस्त्र था।[147] इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का यह सुझाव रहा है कि क्षौम 'क्षुमा' नामक उस घास से

तैयार किया जाने वाला वस्त्र था जिसे हन और तंग काल में चीन वासी वस्त्र तैयार करने में प्रयुक्त करते थे। इस तरह की घास अब भी उत्तरी बंगाल और असम के क्षेत्रों में पायी जाती है।[148] सम्भवतः रेशमी कपड़ों के सन्दर्भ में 'कौशेय'[149] का उल्लेख सबसे पहले पाणिनि ने किया है।

बुद्धकाल में कपास, ऊन तथा सन के साथ क्षौभ और रेशम का भी उल्लेख मिलता है। जिनसे वस्त्र बनाये जाते थे।[150] दीघनिकाय और महावग्ग जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इस काल में जहाँ एक ओर विविधि प्रकार की दरियाँ और वस्त्रों जैसे बकरी के बालों के कम्बल, रंग–बिरंगे कपड़ें, सफेद कम्बल दोनों ओर लोम वाले कम्बल, एक ओर लोम वाले कम्बल, ऐसे पलंगपोश, जिन पर शेरों और चीतों की आकृतियाँ बनी होती थी, बनाये जाते थे वहीं दूसरी और सुन्दर रेशमी पलंगपोश आदि भी बनाये जाते थे।[151] महावग्ग में एक भिक्षु को रेशमी वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गयी है।[152] इसमे संदेह नहीं है कि रेशमी वस्त्रों का प्रयोग सामान्य नहीं था। इस युग में रेशम एवं मलमल के वस्त्र विलासिता की वस्तु माने जाते थे। कहा जाता है कि इस युग के लोगों द्वारा वाराणसी के रेशम एवं मलमल के वस्त्रों को विशेष महत्त्व दिया जाता था।[153] महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार वाराणसी में ऊनी वस्त्रों के साथ–साथ 'क्षौम' और 'कौशेय' जैसे सुन्दर एवं लुभावने वस्त्र बनते थे। ये वस्त्र नीले, लाल, सफेद तथा अन्य विभिन्न मनोहारी रंगों से युक्त होते थे।[154] महावग्ग में ऐसे वस्त्रों का उल्लेख मिलता है जिन्हें लोग धारण करने में आनन्द का अनुभव करते थे।[155] ऐसे वस्त्र रेशम के बने हों, इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। बुद्ध का जब अवसान हुआ था तब उन्हें काशी के ही बने कपड़े में लपेटा गया था। यह वस्त्र इतना बारीक और गठा हुआ था कि उसमें तेल भी आर–पार नहीं हो सकता था।[156] *शोधकर्ता का विचार है कि बुद्ध की लोकप्रियता और उनके समृद्ध अनुयायियों की बड़ी संख्य को देखते हुए यह अनुमान लगाना शायद असंगत नहीं होगा कि बुद्ध के पार्थिव शरीर को जिस वस्त्र में लपेटा गया था वह रेशम का बना रहा होगा।*

सूत्रकालीन ग्रंथों में भी रेशमी कपड़े का उल्लेख मिलता हैं। आपस्तम्ब गृह सूत्र में सूती, ऊनी वस्त्रों के साथ रेशमी वस्त्रों के पहने जाने का उल्लेख मिलता है।[157] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'क्षौम' और 'कौशेय' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है[158] जिनसे स्पष्ट होता है कि उस युग में सूती और ऊनी वस्त्रों के साथ–साथ रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण हो रहा था। समाज के सम्पन्न वर्ग में इस प्रकार के वस्त्रों की अच्छी माँग थी और जन सामान्य के लिए ये वस्त्र महँगे होने के कारण दुर्लभ थे।

महाकाव्यों में प्राप्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि राजपरिवारों और सम्पन्न लोगों द्वारा रेशमी वस्त्र धारण किये जाते थे। इस तरह इस काल में भी रेशमी वस्त्र विलासिता की वस्तुओं में सम्मिलित थे। राजा जनक ने सीता को उपहार स्वरूप जो वस्तुएं प्रदान किया था उनमें अनेकों रेशमी वस्त्र भी थे।[159] रामायण में रावण की अनेक सुन्दर रानियों को ऐसे बारीक रेशमी वस्त्रों से मुख को आच्छादित करके सोती हुई बताया गया है जो उनकी सुगंधित स्वांसों से दोलयमान हो रहे थे।[160]

अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुख मारुत्कंपिताः।

उपर्युपरिवस्त्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः।

इससे केवल इतनी ही जानकारी नहीं मिलती कि उस समय रेशमी वस्त्र प्रचलित थे बल्कि यह भी जानकारी मिलती है कि जो रेशमी वस्त्र पहने जाते थे वे उत्तम श्रेणी के होते थे। इसी प्रकार के एक अन्य विवरण के अनुसार हनुमान ने जब स्वयं प्रभा की गुफा में प्रवेश किया था तो वहाँ बहुमूल्य और अत्यंत सुन्दर वस्त्रों का अम्बार देखा था।[161] *शोधकर्ता का अनुमान है कि इसमें रेशमी वस्त्र भी रहे होगें क्योंकि ये वस्त्र बहुमूल्य तो होते ही थे अत्यन्त सुन्दर भी होते थे। ये रेशमी वस्त्र विभिन्न रंगों के बनाये जाते थे।* रावण जब सीता को बल पूर्वक उठाकर ले जा रहा था उस समय वह पीले रंग का रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थी।[163] स्त्रियाँ तो प्रायः विभिन्न रंगों के वस्त्र धारण करती थीं, यद्यपि पुरुष भी इसके अपवाद नहीं थे। विभिन्न सभाओं और समारोहों में श्रीकृष्ण पीत कौशेय वस्त्र धारण किये हुए सम्मिलित होते थे।[163] 'पीताम्बर' तो श्रीकृष्ण का प्रिय वस्त्र ही था।

वाल्मीकि ने रावण को भी पीताम्बर धारण किये हुए वर्णित किया है।[164] महाभारत में उल्लेख मिलता है कि चीन, हूण, शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिए जो उपहार सामग्री लाते थे, उसमें अन्य वस्त्रों के अलावा 'कीटज' (रेशमी वस्त्र) और 'पट्टज' (चीनी घास के बने हुए 'क्षौम' वस्त्र) भी शामिल थे।[165]

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाल्ही चीन समुद्भवम।

और्णं च रांकवं चैव कीटजं पट्टजं तथा।

उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महाकाव्य काल में रेशमी वस्त्र उद्योग विकसित था और राजपरिवारों तथा समृद्धशाली लोगों के बीच इस वस्त्र की प्रसिद्धि थी।

मौर्यकाल में कपास और ऊन के अतिरिक्त रेशम के भी वस्त्र बनते थे जिन्हें 'क्षौम' कहा जाता था।[166] रेशमी वस्त्रों की एक दूसरी कोटि 'कौशेय' कहलाती थी। अर्थशास्त्र तथा दूसरे समकालीन ग्रंथों में रेशम के अर्थ में क्षौम और कौशेय के साथ–साथ पत्रोर्ण, चीनपट्ट, चीनांशुक, कीटज, पट्ट, पट्टांशुक, चीनकौशेय आदि शब्द मिलते हैं।[167] इस प्रकार के विवरण से रेशमी वस्त्र के उत्पादन में प्रयुक्त सामग्री की विविधता का संकेत मिलता है। जिसका उत्पादन शहतूत की पत्तियों पर पाले जाने वाले कीड़ों से होता है। यह असली रेशम होता है। दूसरा वह रेशम है जिसका उत्पादन जंगली, कीड़े–मकोड़े से किया जाता है और इसका भारत के लिए केवल वाणिज्यिक महत्त्व है जैसे –मूगा, टसर और इरी।[168]

शहतूत भारतीय पौधा है अथवा उत्तरी–पश्चिमी भारत के रास्ते मध्य एशिया और चीन से आयातित पौधा है, इस विषय में निश्चय के साथ कहना कठिन है[169] अर्थशास्त्र तथा परवर्ती अन्य ग्रंथों में रेशम के लिए प्रयुक्त शब्दों–चीनांशकु, चीनपट्ट आदि के आधार पर अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि भारत में रेशम के कीड़े पालने का चलन किसी समय चीन के सम्पर्क के फलस्वरूप ही हुआ होगा। चीन में चाऊकाल से ही रेशमी वस्त्रों के लिए रेशम के कीड़े पाले जाते थे। भारत में रेशम के कीड़े पालने का चलन कब से हुआ, इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है। अधिकांश विद्वान इसका समय प्रथम शताब्दी ई0 मानते है जब

कनिष्क प्रथम के शासन काल में भारत और चीन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र के उस अंश को, जहाँ 'चीनांशकु' और 'चीनपट्ट' शब्दों का प्रयोग मिलता है, विद्वान इसे प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा गया अंश) मानते हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है की छठवीं से चौथी शताब्दी ई0 पू0 के बीच किसी समय भारत चीन सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप भारत में रेशम के कीड़े पालने का चलन हुआ होगा। जो भी हो कम से कम प्रथम शताब्दी ई0 के पहले का कोई ऐसा प्रत्यक्ष संदर्भ नहीं मिलता जिसके आधार पर कहा जा सके कि भारत में रेशम चीन से आ रहा था।[170] शहतूत के कीड़े बहुत पहले से उत्तरी और पूर्वी भारत में पाले जाते रहे हैं और जंगली किस्म के कीड़े–मकोड़े (जिनसे रेशम निकाला जाता था) सामान्यतः उत्तरी बंगाल और असम के क्षेत्रों में मिलते है।[171] यह वही क्षेत्र है जहाँ अर्थशास्त्र के अनुसार रेशमी कपड़ों की 'पत्रोर्ण' किस्म का निर्माण किया जाता है।[172] संस्कृतकोश में भी 'पत्रोर्ण' को रेशमी कपड़े की एक किस्म बताया गया है।[173]

अर्थशास्त्र में सूती और ऊनी कपड़ों की बुनाई प्रक्रिया के साथ रेशमी वस्त्रों की निर्माण प्रक्रिया का भी उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अनुसार सूती कपड़े की बुनाई (मजदूरी) जहाँ सूत के बराबर देनी चाहिए वहीं रेशमी कपड़े की बुनाई सूती कपड़े की बुनाई से ड्योढ़ी देनी चाहिए।[174] यही नहीं धुले हुए रेशम के कपड़े–पत्रोर्ण की बुनाई सूती कपड़े की दुगुनी देनी चाहिए।[175]

अर्थशास्त्र में दुकूल (रेशमी वस्त्र) तीन प्रकार का बताया गया है – व्यंगक, पौण्ड्रक और सौवर्णकुड्य। बंगदेश में निर्मित किया गया रेशमी वस्त्र अत्यधिक श्वेत और स्निग्ध होता था जो 'व्यंगक' के नाम से प्रसिद्ध था, पुण्ड्र देश (बंगाल के उत्तर का भाग और असम का क्षेत्र) में बनाया गया दुकूल श्याम रंग का और मणि की तरह चमकीला होता था, पौंड्रक कहलाता था। ब्रह्मदेश और सुमात्रा द्वीप के सुवर्णकुड्य स्थान में उत्पन्न दुकूल सूर्य की किरणों के रंग का होता था जो 'सौवर्णकुड्य' के नाम से जाना जाता था।[176]

मार्योत्तर काल में भी तन्तुवाय सूती, ऊनी वस्त्र के अलावा रेशमी वस्त्र भी बनाते थे। पतंजलि ने रेशमी वस्त्र को क्षौम वस्त्र कहा है।[177] ये क्षुमा से बनते थे।

रेशमी वस्त्रों को कौशेय भी कहा जाता था। भाष्यकार के अनुसार कोश से उत्पन्न होने के कारण इन्हें कौशेय कहते हैं। चूँकि रेशम के कीड़े कोश में रहते हैं और रेशम इन कीड़ों से तैयार किया जाता है। इस तरह रेशम प्रत्यक्ष रूप से कोश में तैयार तो नहीं होता बल्कि कोश का विकार होता है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक ने भी क्षौम का उल्लेख किया है और कहा कि क्षौम अतसी (अलसी) के रेशे से तैयार किया जाने वाला वस्त्र था।[178] अलसी भारत के लगभग सभी भागों में बहुत पहले से ही पैदा की जाती रही है और उसके रेशे का प्रयोग वस्त्र निर्माण में होता था चाहे उसे क्षौम कहा जाता था अथवा कुछ और।[179] 'पेरीप्लस ऑफ इरीथ्रियन सी' के अज्ञातनामा लेखक के अनुसार इसे (अलसी) भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों के रास्ते सम्भवतः मिस्र से आयात किया गया था। कनिष्क काल में भारत का सम्पर्क चीन और मध्य एशिया के कई अन्य देशों से काफी अधिक हो गया था। इस अवधि में यदि चीन के सम्पर्क से भारतीय रेशमी वस्त्र उद्योग को भी कुछ लाभ मिला हो तो इसमें आश्चर्य नहीं इस समय मध्य एशिया से होकर रोम और चीन को जोड़ने वाला मार्ग रेशम के व्यापार के कारण 'महान सिल्क मार्ग' के नाम से जाना जाता था। संयोग से कनिष्क काल (प्रथम शताब्दी ई0) में इस मार्ग पर कुषाणों का नियंत्रण था।[180] जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस मार्ग से रेशम का व्यापार होता था। भारत रोम और चीन के मध्य बिचौलिए की भूमिका निभाता था। भारत चीन से रेशम आयात करके रोम को निर्यात करता था।[181] आरेल स्टाइन ने भी उल्लेख किया है कि प्रथम शताब्दी ई0 पू0 में भारतीय वणिक मध्य एशिया में व्यापार करते थे और वहाँ से वे चीन–रेशमी वस्त्र का भी व्यापार करते थे।[182]

वस्त्र-उद्योग के प्रमुख केन्द्र :

अधीतकाल में वस्त्र उद्योग के अनेक केन्द्रों का उल्लेख मिलता है। अंगुत्तरनिकाय में 'वाराणसेय्यय' नामक वस्त्र का उल्लेख हुआ है जो वाराणसी में बनता था।[183] महावग्ग में काशी को वस्त्र उद्योग का केन्द्र बताया गया है।[184] महापरिनिब्बानसुत्त में भी काशी के वस्त्रों की प्रशंसा की गयी है।[185] इस ग्रंथ के अनुसार वाराणसी सूती, ऊनी, रेशमी सभी प्रकार के वस्त्रों का केन्द्र था।[186] कश्मीर

और गंधार भी काशी की तरह वस्त्र उद्योग विशेषकर ऊनी वस्त्र के लिए प्रसिद्ध थे।[187] कौटिल्य ने रेशमी वस्त्र के लिए बंगदेश, पुण्ड्रदेश और सुवर्णकुड्य जैसे स्थानों का उल्लेख किया है।[188] अर्थशास्त्र में आये विवरण के आधार पर उस समय सूती वस्त्र उद्योग के निम्नलिखित केन्द्र थे – बंगाल, अपरान्त, मदुरा, कलिंग, माहिष्मती, वत्स, काशी आदि।[189] मथुरा भी वस्त्र निर्माण के लिए प्रसिद्ध था। यहां के बने हुए एक विशेष प्रकार के चमड़े को 'सटका' कहा जाता था।[190]

चमड़े पर आधारित शिल्प एवं उद्योग :

वैदिक काल से ही चर्म पर आधारित शिल्पकारी के विषय में जानकारी मिलने लगती है। ऋग्वेद के अन्तःसाक्ष्यों से ज्ञात होता है कि चर्म शिल्प से जुड़े लोग–चर्मन् (चर्मकार) चमड़ा कमाने की कला अच्छी तरह जानते थे।[191] कुछ विद्वानों का मानना है कि पूर्व वैदिक समाज मुख्य रूप से पशु चारण अर्थव्यवस्था पर निर्भर था जिसमें पशुओं की बहुलता के कारण चर्म शिल्प के लिए कच्चे माल के रूप में चमड़े का प्राचुर्य था। इस कारण चर्म शिल्प का विकास होना स्वाभाविक था। चमड़ा कमाने (तैयार करने) की पूरी प्रक्रिया के बारे में ऋग्वेद से जानकारी नहीं मिलती लेकिन चमड़ा भिगोने का उल्लेख अवश्य मिलता है।[192] शतपथ ब्राह्मण में खूँटें के माध्यम से चमड़ा खींचने का उल्लेख मिलता है।[193] ऋग्वैदिक काल में चमड़े का प्रयोग परवर्ती काल की तरह आम हो गया था। चमड़े से सम्बद्ध कार्य 'चर्मण्य' कहलाता था।[194] 'गो' शब्द भी कभी–कभी 'चर्मन्' का पर्याय माना जाता था।[195] ऋग्वेद में चमड़े की अनेक वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। जैसे प्रत्यंचा[196], गुलेल[197], रथों को कसने वाले पट्टे[198], घोड़ों की लगाम[199], कोड़ा या चाबुक[200] आदि। यही नहीं चमड़े के बर्तन भी बनाये जाते थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि चमड़े के पात्रों में सोमरस[201], मधु या शहद[202], दही[203] और कुछ अन्य द्रव पदार्थ रखे जाते थे। इसके अतिरिक्त कवच[204] और योद्धाओं[205] की प्रबाहुओं को प्रत्यंचा के घर्षण से बचाने वाला कवच भी चमड़े से बनाया जाता था।[206] रथों को कसने वाले पट्टे तो चमड़े के होते ही थे, घोड़ों को पानी पिलाने का द्रोण भी चमड़े का बनाया जाता था। चाबुक, लगाम के साथ–साथ काठी भी चमड़े की बनती थी।[207] युद्ध के

अवसर पर बजाये जाने वाले वाद्ययंत्रों का भी निर्माण करने में चमड़े का प्रयोग होता था।[208] यजुर्वेद से चप्पल[209] के प्रयोग की भी सूचना मिलती है। इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि चप्पलों का निर्माण चमड़े से भी किया जाता रहा होगा। वैदिक साहित्य में चमड़े की वस्तुओं की विविधता के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि उस समय चमड़ा उद्योग पर्याप्त विकसित था। चमड़े की ये सब वस्तुएं हमें परवर्ती काल में भी यथावत दिखालई पड़ती है। बुद्धकाल मे चर्मकारों के वर्ग भी अधिक संख्या में निवास करते थे, जो चमड़े की रस्यिाँ, जूते, छाते आदि बनाते थे।[210] सामान रखने के लिए चमड़े के बड़े–बड़े थैले भी बनाये जाते थे।[211] बुद्धकाल में कुछ शिल्पी जूते बनाने में इतने कुशल थे कि कढ़ाई युक्त जूते एवं चप्पलें बनाते थे।[212] चमड़े के बने बड़े थैले में सोने–चाँदी के सिक्के रखे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[212] यद्यपि बुद्धकाल में चर्म उद्योग में विशिष्टीकरण के संकेत उपलब्ध है लेकिन फिर भी चर्मकारों को स्वयं श्रेणीबद्ध करना इस बात का प्रमाण है कि चर्म उद्योग अच्छी तरह संगठित था।[214]

सूत्रकाल में भी चर्मकार एक महत्वपूर्ण शिल्पी था जो सामान की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। घरेलू उद्देश्यों के लिए अनेक चमड़े की वस्तुएं चर्मकार ही बनाता था। सभी के लिए जूते वही बनाता था। ये जूते विभिन्न प्रकार के चमड़े से बनाये जाते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर यजमान द्वारा सुअर के चमड़े से बने हुए जूते पहने जाते थे – अथ वाराही उपानाहा उपमुंचते।[215] जूते के अतिरिक्त चमड़े के वस्त्र भी बनाये जाते थे। पारस्कर के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थियों का उत्तरीय काले हिरण का, क्षत्रिय विद्यार्थियों का चीतल का और वैश्य विद्याार्थियों का बकरी अथवा गाय के चमड़े का होना चाहिए[216] –

ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य रौरवठ राजन्यस्य
आजंगव्य वा वैश्यस्य।

बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार चमड़े के ऐसे पात्र भी बनाये जाते थे जिनमें घी, शहद, तेल, अनाज आदि रखे जाते थे।[217]

शतंघृत चर्माणि शतं मधुचर्माणि शतं तण्डुल चर्माणि

शतं पृथुक चर्माणि शतं लाजा चर्माणि, शतं करम्भ चर्माणि शतं धानाचर्माणि।

इस प्रकार के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकाल में चर्मकार लोगों को चर्म वस्तुओं की आपूर्ति करने वाले महत्वपूर्ण शिल्पी थे। अतः यह कहा जा सकता है कि चर्म उद्योग सूत्रकाल में भी पर्याप्त उन्नत था। पाणिनि ने भी चमड़े की विभिन्न वस्तुएं बनाने वाले को 'चर्मकार' कहा है। दुवाली (रस्सी), शकट, जूता या उपानह आदि चर्मकार ही बनाता था।[218] इससे स्पष्ट होता है कि कभी–कभी मोटी बरत या कुँआ से पानी निकालने की रस्सी या शकट गाड़ी से बाँधने की रस्सी भी चमड़े की बनायी जाती थी। *आजकल की तरह पाणिनिकाल में नलकूप का प्रचलन नहीं था। नहरों की व्यवस्था भी आजकल की तरह नहीं थी। ऐसी स्थिति में कुए सिंचाई के महत्वपूर्ण स्रोत हुआ करते थे। कुएं से पानी निकालने के लिए उस समय चरस, मोट या पुर का उपयोग किया जाता था। यह बड़ा थैला जैसा होता था जिसे बैलों से खींचा जाता था। इसके निर्माण में गाय–भैंस का पूरा चमड़ा लग जाता था। ऐसी वस्तुओं के अर्थ में ही शायद पाणिनि ने 'सर्व चर्मीण' या 'सार्वचर्मीण' शब्द का प्रयोग किया है।[219] यहाँ उल्लेखनीय है कि कुए से पुर या चरस द्वारा पानी निकालने का कार्य आधुनिक काल तक चलता रहा। आधुनिक काल में नहरों की बहुलता तथा नलकूपों के अधिकाधिक प्रचलन के कारण ढेकुल, चरस जैसे परम्परागत साधन लुप्त होते जा रहे हैं।*

पाणिनि ने पनही (जूते) के लिए 'अनुपदीना' शब्द का उल्लेख किया है। 'अनुपदीना' ऐसे जूते के लिए प्रयुक्त हुआ है जो मोची को बुलाकर पैर की नाप लेकर बनवाये जाते थे।[220] लगता है ये आजकल की तरह 'आर्डर देकर बनवाये जाने वाले जूते रहे होंगे। उल्लेखनीय है कि जूते प्रायः बाजार में या मोची के घर जाकर अपनी पसन्द एवं नाप के ही खरीदे जाते रहे हैं लेकिन कभी–कभी जब जूते अपनी पसन्द एवं नाप के नहीं मिलते तो उन्हें अग्रिम भुगतान एवं आदेश पर भी बनवाये जाते हैं। चमड़े के जूते बनाने का उल्लेख महावग्ग जैसे बौद्धग्रंथों में पहले ही हो चुका है। जिसमें व्याघ्र, सिंह, चीते, गिलहरी आदि जानवरों के चमड़े से जूते

बनाने का उल्लेख है।[221] इससे स्पष्ट होता हैं कि पाणिनि के समय में भी चर्म उद्योग विकसित था। जूते जहाँ विभिन्न प्रकार के जानवरों के चमड़े के बनाये जाते थे वहीं उनकी बनावट भी भिन्न–भिन्न प्रकार की होती थी। इन जूतों के भिन्न–भिन्न नाम थे जैसे पुटबद्धक (घुटने तक का), पालिगंठिय (पैर ढकने वाला), खलबद्धक (चप्पल जैसा), मेण्डाविषाण बद्धिक (मेढ़ के सींग के आकार का), वृश्चिकालिपालिंगठिय (बिच्छू की पूंछ जैसे नुकीले आकार का), अजविषाणबद्धिक (बकरे की सींग जैसे आकार का), मोरपिंछपरिसिब्बित (तलवे में मोरपंख से सिला हुआ), तुलपुण्यिक (रुई से भरा हुआ जूता), तित्तिरपट्टिक (तीतर के पंख के आकार का जूता) आदि।[222] इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार के जूतों के निर्माण चर्मकार करते थे और लोग अपनी पसंद के अनुसार इन्हें खरीदते थे। मौर्यकाल में भी विभिन्न प्रकार की खाल का उल्लेख मिलता है जो चमड़ा उद्योग में प्रयुक्त होती थी। अर्थशास्त्र में उल्लिखित प्रमुख खालें इस प्रकार है – कान्तावर्क (मोर की गर्दन के रंग वाला), प्रेयकर (नीले–पीले और श्वेत रंग के बिन्दु इसके ऊपर हुआ करते थे), उत्तरपर्वतक (पर्वतों से प्राप्त होने वाली विभिन्न प्रकार की खालें), विसी (इस खाल के ऊपर बड़े–बड़े बाल होते थे), महाविसी (श्वेत रंग की सख्त खाल), श्यामिका (कपिल रंग क़ी खाल), कालिका (कपिल और कपोत रंग की खाल), कदली, चन्द्रोत्तरा (चाँद की तरह चमकने वाली खाल), सामूली (गेहुए रंग की खाल), सातिना (काले रंग की खाल), नलतूला और वृत्तपृच्छा (भूरे रंग की खाल) आदि।[223] कौटिल्य ने चर्म उद्योग के लिए ऐसे चमड़ों को उपयुक्त और श्रेष्ठ बताया है जो नरम, चिकने और प्रभूत बालों से युक्त होते थे। विदेशी लेखकों ने भी तत्कालीन चर्म उद्योग की प्रशंसा की है। निर्याकस के अनुसार भारतीय श्वेत रंग के जूते पहनते हैं। ये जूते बढ़िया होते हैं जिनकी एड़िया कुछ ऊँची होती हैं या ऊँची बनायी जाती हैं और इन्हें पहनने वाला कुछ ऊँचा प्रतीत होने लगता था।[224]

मौर्यत्तर काल में पतंजलि के महाभाष्य से भी चर्म उद्योग के विषय में जानकारी मिलती है। पतंजलि ने 'औपानह्य दारू' और 'औपनह्य चर्म' दोनों का उल्लेख किया है।[225] पाँव की माप के अनुसार उपानह बनाये जाते थे जो 'उपानत्

अनुपदीन' कहे जाते थे। प्रायः मजबूत, टिकाऊ, सुन्दर और आकर्षक जूते बनाये जाते थे। चमड़े के जूते को अत्याधिक कोमल करने के लिए कच्चे चमड़े को तिल के कल्क से संयुक्त करते थे।[226] कुछ चर्मकार जूते की तली में गत्ता, लकड़ी या अन्य ऐसी वस्तु भर देते थे जिससे जूता पहनने वाला और ऊँचा दिखाई पड़ने लगता था। कुछ जूते केवल चर्म के बनते थे जो सर्वचर्मीण कहलाते थे।[227] यहाँ सर्व चर्म का अर्थ पूरा या समूचा चमड़ा नहीं है। इसलिए सर्वचर्मीण का अर्थ बिना काटे हुए चमड़े से बनी हुई वस्तु नहीं है। यह काशिकाकार ने स्पष्ट किया है। सर्वचर्मीण के स्थान पर 'सार्वचर्मीण' पद का भी व्यवहार हो सकता था।

चर्मकार मरे पशुओं का चर्म उधेड़ता, उसे कमाकार मुलायम बनाता और उससे आवश्यक वस्तुएं तैयार करता था। आर्द्रचर्म तथा रक्तमिश्रित चर्म को वह व्यवहार में लाता था।[228] शिकार में मारे हुए पशुओं का ताजा चमड़ा प्रचुरता से प्राप्त हो जाता था, क्योंकि शिकार की प्रथा पतंजलि काल तक खूब थी। चर्मकार जूते के अलावा वार्ध्रा (बद्धी), नध्री (नद्धी), वस्त्रा (वरत), कोश (तलवार आदि की म्यान), सनंगु (चर्मवस्तु) और छदि (आवरण) भी बनता था।[229] तलवार की म्यान (जो चमड़े की बनी होती थी) को चार्मकोश[230] कहा जाता था। रथ में बैठने वाले भाग को चमड़े से मढ़ा जाता था। ऐसे रथ को चार्मण कहते थे।[231] मनुस्मृति में भी चर्म शिल्प के बारे में प्रसंगवश चर्चा हुई है। मनु के अनुसार धिग्वण और कारावर जैसी जातियाँ चमड़े के शिल्प से जुड़ी थी।[232] इससे पता चलता है कि तीन कोटियों के लोगों यथा चर्मकार, धिग्वण और कारावर के लिए चमड़े का काम महत्वपूर्ण शिल्प बन गया था।

पुरातत्व से भी चमड़े के शिल्प के बारे में जानकारी मिलती है। मथुरा के माट नामक क्षेत्र से प्राप्त तीन शीशविहीन अभिलिखित प्रतिमाओं में से दो क्रमशः विमकडफिसेस और कनिष्क की है। दोनों प्रतिमाओं में इन शासकों ने मोटे भारी-भरकम फीतेदार जूते (बूट) पहन रखा है।[233] इसके अतिरिक्त अन्य शिल्पियों के साथ चर्म व्यावसायियों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को उपहारस्वरूप अनेक गुफाएं स्तम्भ-पट्ट, ताबूत आदि दिये जाने का उल्लेख मिलता है।[224] इससे स्पष्ट होता है

कि मौर्यत्तर काल में न केवल चर्म उद्योग से जुड़े लोगों की संख्या में वृद्धि हुई अपितु उनकी स्थिति भी मजबूत हुई।

दन्तकारी :

पशुओं पर आधारित दूसरा महत्वपूर्ण शिल्प दन्तकारी था। इससे सम्बद्ध शिल्पियों को 'दन्तकार' कहा जाता था। बुद्धकाल में दन्तकारी एक महत्वपूर्ण शिल्प के रुप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। जैसा कि 'दन्तकारी' शब्द से ही स्पष्ट है कि यह शिल्प दाँत पर आधारित था। ये दाँत मानव अथवा छोटे–मोटे जानवरों के नहीं बल्कि स्थल के सबसे विशाल पशु हाथी के होते थे जो मजबूत, सुन्दर एवं बहुमूल्य होते थे। हाथी दाँत का काम करने वाले शिल्पियों का अपना अलग और स्वतंत्र वर्ग था। हाथी दाँत का काम करने वाले शिल्पी नगर के जिस भाग में निवास करते थे, उसका नाम उनके नाम पर रखा जाता था। सिलावन्नग जातक के अनुसार बनारस की उस समय दन्तकारी के केन्द्र के रूप में प्रसिद्धि थी। वहाँ जिस भाग में दन्तकारी का काम होता था उस गली को 'दन्तकार वीथी' के नाम से जाना जाता था।[235] ऐसा उल्लेख मिलता है कि हाथी दाँत के कुछ परम्परागत व्यवसायी, जो बनारस के थे जंगल जाकर हाथी का शिकार करते थे और उससे हाथी दाँत निकालकर इस शिल्प से जुड़े लोगों को आपूर्ति करते थे।[236] कहा जाता है कि जीवित हाथी का दाँत मरे हुए हाथी के दाँत से अधिक मूल्यावन होता था।[237] दन्तकार सामान्य लोगों के लिए हाथी दाँत के आभूषण एवं चूड़ियाँ बनाते थे जबकि सम्पन्न लोगों के कीमती आभूषण और बहुमूल्य नक्काशीदार मूर्तियाँ बनाते थे।[238] वैसे हाथी दाँत की बनी हुई प्रायः सभी वस्तुएं विलासिता की वस्तु समझी जाती थी। हाथी दाँत से जुड़े लोगों की व्यस्तता और उनके कौशल के बारे में भी जानकारी मिलती है।[239] कलिंग बोध जातक में कलिंग राज्य के दन्तपुर शहर का उल्लेख मिलता है जो इसी उद्योग के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था। इसके आलावा कलिंग, अंग, करूष आदि स्थान भी एक विकसित दन्तकारी उद्योग के केन्द्र के रूप में प्रसिद्धि पा चुके थे।[240] बौद्ध ग्रंथों की तरह जैन साहित्य में हाथी दाँत से सम्बन्धित व्यवसाय को 'दन्तवाणिज्य' कहा गया हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि

कुछ शिकारी को हाथी मारकर दन्त–उद्योग के लिए हाथी दाँत की आपूर्ति करने के लिए अग्रिम धनराशि दी जाती थी। दन्तकार हाथी दाँत से मूर्तियाँ बनाते थे और पशुओं की हड्डियों और सींगों से विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाते थे। बच्चों के लिए बन्दरों की हड्डियों से छोटी–छोटी वस्तुएं तैयार किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[241]

महाकाव्यों से भी ज्ञात होता है कि उस युग में हाथी दाँत से जुड़े शिल्पी किसी भी माने में पीछे नहीं थे। वे 'दन्तकार' कहे जाते थे। वे कुर्सियाँ, राजसिंहासन, पर्यंक, खम्भे और आसन (सीट) आदि का निर्माण करते थें राजपरिवारों में उस समय हाथी दाँत की बनी वस्तुओं की विशेष माँग थी। रामायण में उल्लेख मिलता है कि कैकेयी के राजमहल हाथी दाँत की बनी हुई चौकियों और आसनों से भरे पड़े थे[242]–

दान्तराजत सौवर्णवेदिकाभिः समायुतम्।

दान्तराजत सौवर्णैः संवृतं परमासने।।

कुम्भकरण के राजमहल के मेहराब को हाथी दाँत के प्रयोगों से सजाया गया था।[243] यही नहीं उसके पलंग के पैर भी हाथी दाँत से जड़े थे।[244]

हाथी दाँत के खिलौने भी बनाये जाते थे। इसके अतिरिक्त वस्त्र टाँगने के लिए मकानों में लगायी जाने वाली खूँटी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[245] कभी–कभी कलम के कुछ भाग भी हाथी दाँत से जुड़े हुए बनते थे। लोहे और अन्य धातुओं के बने हुए अस्त्र–शस्त्रों के मूँठ भी हाथी दाँत के बनाये जाते थे।[246]

कौटिल्य ने भी दन्तकारी के बारे में उल्लेख किया है। उन्होंने यह बताया है कि हाथी दाँत कहाँ के हाथियों के अच्छे होते हैं। इस दृष्टि से कौटिल्य ने हाथी दाँत का उत्तम, मध्यम एवं निम्न श्रेणियों में वर्गीकरण किया है। कौटिल्य के अनुसार कलिंग, अंग, करुष आदि स्थानों के हाथियों के दाँत उत्तम श्रेणी के होने के कारण दन्तकारी के लिए सबसे अच्छे होते थे। दशार्ण और पश्चिमी भागों के हाथियों को मध्य कोटि का मानते हुए उनके दाँत को मध्यश्रेणी में रखा है जबकि सौराष्ट्र पांचजन्य प्रदेश के हाथियों के दाँत निम्नश्रेणी के होते थे।[147] मौर्यकाल में हाथी दाँत

से बनी वस्तुओं की माँग सम्पन्न लोगों में अधिक थी। बौद्ध ग्रंथों की तरह अर्थशास्त्र में भी हाथी दाँत से सुन्दर वस्तुएं जैसे कि चूड़िया आदि बनाये जाने का उल्लेख मिलता है।[248] हाथी दाँत के शिल्पियों की प्रंशसा करते हुए अट्ठशालिनी में कहा गया है कि राजा भी उनके शिल्प को देखकर बहुत प्रसन्न होते थे।[249]

मिलिन्दपन्हों तथा मूगपक्ख जातक में उल्लिखित शिल्पियों का जो विवरण मिलता है उनमें आर0 सी0 मजूमदार दन्तकारों की भी एक श्रेणी मानते हैं।[250] एन0 बी0 पी0 पात्र परम्परा से सम्बद्ध पुरास्थलों से हाथी दाँत के मानके भी मिले है।[251] उल्लेखनीय है कि मनके बनाने का शिल्प अत्यंत प्राचीन है। हाथी दाँत की वस्तुएं जैसे कंघे, वक्राकार बेलन, छोटी छड़िया, पिन और मनके अत्यल्प मात्रा में ही सही, हड़प्पा सभ्यता के अनेक पुरास्थलों से मिले है।[252] ऐतिहासिक काल में बेग्राम से भी हाथी दाँत की अनेक सुन्दर वस्तुएं मिली है। प्रथम शताब्दी ई0 का अज्ञातनामा लेखक ने अपने ग्रंथ में भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की जो सूची दी है उसमें अन्य वस्तुओं के आलावा हाथी दाँत के बने सामान भी सम्मिलित है।[253]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हाथी दाँत से संबंधित शिल्प प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में अत्यंत विकसित था। राजमहलों तथा सम्पन्न लोगों के महलों की सजावट में हाथी दाँत के बने सामानों की विशिष्ट भूमिका थी। इन्हे सम्पन्न लोग विशेष महत्व देते थे। इनके बने आभूषण भी विशेष रूप से पसन्द किये जाते थे। उस समय आज की अपेक्षा भारत में बड़े जंगल थे जहां बड़ी संख्या में हाथी रहते थे। अतः कच्चे माल की सुलभता के साथ नवीन तकनीकी जानकारी ने भी इस उद्योग को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। भारत ही नहीं विदेशों में भी इन वस्तुओं की विशेष मांगे थी। यही कारण है कि ई0 सन की आरम्भिक शताब्दियों में भारत से विदेशों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में हाथी दाँत की वस्तुएं अनिवार्य रूप से सम्मिलित दिखालाई पड़ती है।

शराब उद्योग :

शराब को सुरा, मदिरा, हाला, मद्य, मधु आदि अनेक नामों से जाना जाता है। नामों में विविधता के बावजूद इन सबका काम पीने वाले को कुछ समय के लिए

एक विशेष प्रकार का नशा प्रदान करना है। लगता है मनुष्य में बहुत पहले से इस प्रकार का नशा करने का शौक था। वैदिक कालीन आर्यों द्वारा भी सुरा पान करने का उल्लेख मिलता है। इसके बावजूद उस समय सुरा निन्दित समझी जाती थी।[254]

पीतासो युध्यन्ते दर्मदासों स सुरायाम।

सुरा पीकर लोग दुर्भद हो जाते थे तथा सभा–समितियों में आपस में लड़कर उपद्रव करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि आर्य सुरापान के दोषों से परिचित थे। परन्तु यह परिचय सुरापान का निषेधरूप नहीं था। ऋग्वेद में सुरा के साथ–साथ एक अन्य विशेष प्रकार का पेय भी उल्लिखित है जिसे 'सोमरस' कहा गया है। ऋग्वेद के नवें मण्डल तथा कुछ अन्य सूक्तों में सोम की प्रशंसा की गयी है। सामवल्ली मूजवन्त पर्वत पर अथवा कीकटों के देश में उत्पन्न होती थी।[255] सोम की मादकता तथा आनन्ददायिनी विशेषताओं का वर्णन भी मिलता है। आर्य देवता भी सोमपायी थे। सोम को आर्य सर्वोत्तम पेय मानते थे। अतः इसे उन्होंने देवत्व दे डाला। सोमरस अपने उत्तेजक और आह्लादकारी प्रभाव के कारण आर्यों की निस्सीम श्रद्धा का पात्र बन गया । सोमपायी ऋग्वेद में एक स्थान पर कहता है कि हमने सोम पान किया है, हम अमर हो गए हैं, हम ज्योर्तिमान हो गए हैं, हमने देवताओं को पहचान लिया है।[256] उत्तर वैदिक काल में भी पेय पदार्थों में सोमरस उत्कृष्ट समझा जाता था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल में सोम का पौधा दुष्प्राप्य हो रहा था। अतः लोग अन्य पेयों का प्रयोग करने लगे थे। इनमें 'पूतिका' और 'अर्जुनानि' विशेष महत्वपूर्ण समझे जाते थे।[257] इसके अतिरिक्त सुरा (शराब) का भी प्रयोग होता था। लेकिन अनेक स्थलों पर सुरापान की निन्दा की गयी है।[258] सोमरस और सुरा का निर्माण कैसे किया जाता था और दोनों में क्या अन्तर था, यह तो स्पष्ट नहीं है लेकिन इन दोनों का वैदिक ग्रंथों में जिस प्रकार उल्लेख मिलता है उससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि सुरा या शराब का निर्माण बहुत पहले से हो रहा था और समाज में उसकी निन्दा होने के बावजूद माँग बढ़ती जा रही थी।

ब्राह्मण ग्रंथों में जहाँ द्विज वर्णों को सुरापान की छूट दी गयी है वहीं ब्राह्मण के लिए सुरा–पान का निषेध किया गया है। ब्राह्मणी के लिए भी सुरापान वर्जित था।[265] महाकाव्यों से भी समाज में मद्यपान किये जाने की सूचना मिलती है।[266] राजाओं और धनिक वर्गों के प्रीति भोजों में भी इसका स्थान रहता था। उत्तरा के विवाहोत्सव और भारद्वाज द्वारा आयोजित भरत–सत्कार में हम सुरा का भरपूर प्रयोग देखते हैं परन्तु ब्राह्मणों के लिए मद्यपान बुरा समझा जाता था। महाभारत में शुक्र के बचन इसी सत्य को प्रदर्शित करते हैं।[267]

मौर्यकाल में अन्य उद्योगों की तरह शराब उद्योग भी राज्य के नियंत्रण में था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शराब उद्योग का उल्लेख किया है। राजकीय नियंत्रण से मुक्त कुछ लोगों द्वारा भी कभी–कभी शराब निर्माण करने की सूचना मिलती है। कौटिल्य ने लिखा है कि विशेष कृत्यों कें अवसर पर कुटुम्बी लोग श्वेत सुरा का निर्माण स्वयं कर सकते हैं और औषधि के प्रयोजन से अरिष्टा का निर्माण स्वयं कर सकते हैं। इसी प्रकार उत्सव–यात्राओं के अवसर पर चार दिन के लिए सभी को सुरा–निर्माण की स्वतंत्रता थी।[268] अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि सुरा निर्माण में दक्ष व्यक्तियों को राजकीय सेवाओं में रखा जाय। मौर्य शासकों ने इस उद्योग के ऊपर राजकीय नियंत्रण रखते हुए सुराध्यक्ष नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की थी जिसके पर्यवेक्षण में यह उद्योग संचालित होता था। शराब की बिक्री का प्रबन्ध नगरों, देहातों और कस्बों, छावनियों में सर्वत्र किया जाता था।[269] कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार की सुरा का उल्लेख किया है जिससे इस उद्योग को विकसित स्थिति का पता चलता है। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु नामक सुरा का उल्लेख किया गया है। लेकिन इसके साथ कौटिल्य ने सुरा सेवन पर नियंत्रण का भी प्रावधान किया था। उसने लिखा है कि कर्मचारी और कर्मकार निर्दिष्ट कार्य में प्रमाद न करें, आर्यजन कहीं मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाय और तीक्ष्ण प्रकृति के व्यक्तियों की उत्साह शक्तियाँ क्षीण न हों, अतः उन्हें केवल निर्धारित मात्रा में ही शराब दी जाय।[270] मदिरा मदिरालयों में ही सामान्यतः पी जा सकती थी। मदिरालयों के बाहर ले जाने के लिए मदिरा केवल उन्हीं

व्यक्तियों को मिलती थी जो विश्वसनीय और सच्चरित्र हों। मौर्यकालीन मदिरालय पर्याप्त संगठित थे। उनमें बैठने और सोने के लिए अलग–अलग कमरे बने थे। कुछ मदिरालयों में वैश्यायें भी रहती थीं। इसके बावजूद मदिरापन राज्य की दृष्टि में एक दुर्व्यसन था। विभिन्न प्रकार की मदिरा के निर्माण पर राज्य कर आरोपित करता था और इस प्रकार शराब उद्योग राज्य की आय का एक साधन भी था। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय लोग यज्ञों के अलावा और कभी मदिरा नहीं पीते, उनका पेय जौ के स्थान पर चावल द्वारा निर्मित एक रस है।[271] कौटिल्य ने सुरा के निर्माण में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं एवं उनकी मात्रा का भी उल्लेख किया है। मेदक नामक सुरा का निर्माण एक द्रोण जल, आधा आढ़क चावल और तीन प्रस्थ किण्व मिलाकर किया जाता था। मेदक के निर्माण में जल और चावल का अनुपात आठ और एक का होता था। खमीर उठाने के लिए उसमें किण्व डाला जाता था। 'प्रसन्न' सुरा को बनाने के लिए अन्न की पीठी के अतिरिक्त दालचीनी आदि मसाले भी पानी में मिलाए जाते थे।[272] *देश के अन्दर बनने वाली इन विभिन्न प्रकार की शराबों के बावजूद लगता है राजपरिवारों में विदेशी मदिरा की भी माँग रहती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार बिन्दुसार ने एण्टिओकस को पत्र लिखकर अपने लिए सूखे अंजीर और एक दार्शनिक के साथ मीठी शराब की भी माँग की थी जिसमें दार्शनिक को छोड़कर अन्य चीजें भेजने पर एण्टिओकस सहमत हो गया था।*[273]

मौर्योत्तर काल में पतंजलि ने भी शराब बनाने का उल्लेख किया है। इससे भी लगता है कि शुंगकाल में शराब निर्माण हो रहा था। संगम कालीन ग्रंथों में भी पेय पदार्थों में हरी बोतलों में बन्द विदेशी शराब के भी प्रयोग की सूचना मिलती है।[274] प्रथम शताब्दी ई0 के अज्ञातनामा लेखक ने भी बेरीगाजा के बंदरगाह से आवश्यकतानुसार विदेशी शराब के आयात करने का उल्लेख किया है।[275] इससे स्पष्ट होता है कि शराब पीने का समाज में प्रचलन था। बड़ी मात्रा में देश के अन्दर अनेक प्रकार की शराब बन रही थी और सामान्यतः इनका प्रयोग ही पीने

वाले करते थे लेकिन राज परिवार तथा सम्पन्न लोग देशी के साथ–साथ विदेशी शराबें भी पसंद करते थे।

इसके अतिरिक्त कई अन्य छोटे–छोटे शिल्प भी प्रचलित थे। जैसे चित्रकारी[276], मालाकारी[277], तेल निकालना, चटाई बुनना आदि। चित्रकारी करने वाले को चित्रकार कहा जाता था। इसका कार्य अनेक प्रकार के चित्र बनाना था। भवनों की भित्तियों और छतों को विभिन्न प्रकार से सजाये जाने की सूचना भी मिलती हैं। चित्रकारी में शिखण्डी पारंगत था।[278] अजंता की गुफाओं में विभिन्न कालों के चित्रकारी किये जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं। मालाकार (माली) का कार्य माला गूँथना था। मालाओं को देवताओं को अर्पित किया जाता था राजाओं के स्वागत में भी इन्हें प्रयुक्त किया जाता था। तिलहन सामग्री से तेल निकालने का भी काम भी काफी प्रचलित था। इससे जुड़े शिल्पी को तिल–पिषक[279] कहा जाता था। चटाई बुनने का धन्धा भी प्रचलित था। चटाई बुनने वाले को कटकार और चटाई को 'कट' कहा जाता था।[280] महाभाष्य में काश, तृण या पुलाल आदि से विभिन्न प्रकार की चटाईयाँ बनाये जाने का उल्लेख हुआ है।[281] रज्जु (रस्सी) बनाने का शिल्प भी प्रचलित था। मूँठ को मोटा–पतला बटना, सन आदि को मोटा या बारीक कातना, ऐंठना, दोहरा, तिहरा अथवा चौलड़ में ऐंठकर मिलाना शिल्पगत कुशलता की अपेक्षा करता था। महाभाष्य में इसके संकेत मिलते हैं।[282]

अन्त में हम उस शिल्पकार के शिल्प पर भी प्रकाश डालना चाहते हैं कि जो अन्य सभी शिल्पियों को भी निरोग करके उन्हें पुनः शिल्पकारी करने के योग्य बनाता था। वह शिल्पी है वैद्य। ऋग्वेद में वैद्य का कई बार उल्लेख मिलता है। देवताओं के वैद्य अश्विन अंधे को नेत्र और पंगु को गति दे सकते थे।[283] हड्डी को जोड़ने और तपेदिक (यक्ष्मा) रोग का इलाज करने का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।[284] अनेक औषधियों के वर्णन[285] से स्पष्ट होता है कि भिषक एक महत्वपूर्ण शिल्पी वैदिक काल में ही बन चुका था। ऐतिहासिक काल में जीवक, चरक, सुश्रुत आदि अत्यंत महत्वपूर्ण वैद्य हुए । इनमें चरक संहिता तो भारतीय आयुर्विज्ञान की अमूल्यनिधि है। सुश्रुत संहिता में हड्डी निकालने के लिए सिंहमुख,

व्याघ्रमुख, वृकमुख आदि 24 उपकरणों, चर्म, मांस, शिरा तथा स्नायु निकालने के लिए सनिग्रह और अनिग्रह तथा अन्य 28 प्रकार के शलाका उपकरणों का उल्लेख हुआ है।[286] यह बात सही है कि ऐसे वैद्यों की संख्या कम थी, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चिकित्सा शिल्प की इस काल में काफी प्रगति हो चुकी थी और भिषक् (वैद्य) को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

सन्दर्भ

1. फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदड़ों – अर्नेस्ट मैके पृ0 441 – 43
2. ऋग्वेद 6.9.2 न अहं तंतुं न विजानामि ओतुं न वयन्ति।
3. ऋग्वेद 10.26.6 वायः अवीनां आवासांसि ममृजत।
4. ऋग्वेद 10.130.2 सामानि चक्रुः तसराणि ओतवे।
5. तैत्तरीय ब्राह्मण 2.1.4.2
6. ऋग्वेद 3.3.6
7. ऋग्वेद 2.38.4
8. ऋग्वेद 5.47.6
9. ऋग्वेद 9.86.32
10. ऋग्वेद 10.130.1
11. ऋग्वेद 7.18.17
12. वाजसनेयी संहिता 30.9
13. ऋग्वेद 4.22.2, 5.5.4
14. विनय पिटक 4.6
15. लामक कम्म जातक 1.356
16. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स – बर्लिंगेम 29, 2 पृ0 65.66
17. लेवर इन एंशियंट इंडिया पृ0 95.
18. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स बर्लिगेंम जिल्द, 30 3 पृ0 120.
19. तुण्दिल जातक (iii) – 286.
20. विनय पटिक 273.
21. महावग्ग (viii) 10.1
22. महावग्ग (viii) 3.1
23. पाणिनिकालीन भारत – वी0 एस0 अग्रवाल पृ0 128, वाराणसी, 1969.

24. अष्टाध्यायी 5.2.9.
25. इंडिया ऑव दि एज ऑव दि ब्राह्मणाज – जोगिराज बसु पृ0 115–16, कलकत्ता, 1969.
26. एशियंट इंडियन सोशल हिस्ट्री – रोमिला थापर पृ0 236–37, दिल्ली 1978.
27. एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव हिस्ट्री पृ0 165, बम्बई, 1965.
28. पाणिनिकालीन भारत – वी0 एस0 अग्रवाल पृ0 128, वाराणसी, 1969.
29. अष्टाध्यायी 3.3.112
30. वही, 5.3.8.
31. वही, 1.1.36.
32. वही, 6.2.127, 3.4.33, 3.1.20.
33. वही, 4.3.143.
34. रामायण 2.32.37, महाभारत 12.20.1.
35. महाभारत 3.46.15, 1.49.9
36. वही, 5.1.53, 18–20.
37. महाभारत 6.106.61.
38. महाभारत 6.106.61.
39. रामायण 7.11.79
40. वही, 0.37.19.
41. रामायण 6.73.20.
42. महाभारत 3.297.8.
43. वही, 1.52.1–2.
44. रामायण 5.27.9–11.
45. महाभारत 1.358.
46. वही, 12.217.36.
47. अर्थशास्त्र 2.23.4.0.2 कौटिल्य अर्थशास्त्र (अनु0) उदयवीर शास्त्री मेहरचन्द्र लछमनदास दरियागंज, दिल्ली, 1960 ई0
48. वही, 2.23.40.3.
49. वही, 4.1.73.9.
50. वही, 4.1.73.10.
51. वही, 4.1.73.10.

52. वही, 4.1.73.13.
53. अर्थशास्त्र, 4.1.73.13.
54. वही, 4.1.73.18.
55. वही, 4.1.73.19.
56. वही, 4.1.73.20.
57. वही, 4.1.73.24—26.
58. वही, 4.1.73.28—31.
59. पतंजलि — महाभाष्य 6.4.24.
60. वही, " " 6.4.24.
61. वही, 4.2.1.
62. वही, 4.2.2.
63. वही,
64. वही,
65. वही,
66. वही,
67. वही, 3.1.1.
68. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि — वासुदेव शरण आग्रवाल पृ0 231.
69. पतंजलि महाभाष्य — 1.1.27.
70. वही, 5.4.32.
71. वही, 5.4.33.
72. वही, 3.1.90.
73. वही, 1.1.27.
74. वही, 2.4.10.
75. पतंजलि कालीन भारत — पी0 डी0 अग्निहोत्री पृ0 318, पटना 1963 ई0।
76. पतंजलि — महाभाष्य 3.3.122.
77. वही, 5.2.70.
78. वही, 5.4.160.
79. वही, 1.4.54 — आस्तीर्ण तन्त्रम्, प्रीतितन्त्रम्।
80. काशिका — 5.2.70.
81. पतंजलि — महाभाष्य 1.1.11

82. वही, 5.3.55.
83. वही, 5.3.55.
84. हेरोडोटस 3.10.6.
85. एंशियंट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड एरियन – जे0 डब्ल्यू0 मैक्रिन्डल, लन्दन, 1877।
86. प्लिनी, हिस्ट्री ऑफ प्लांट्स, 48.8–10.
87. एरियन 13.38–40.
88. एक्सकेवेशन्स एट अतरंजीखेड़ा, आर0 सी0 गौड़ पृ0 131 दिल्ली, 1983।
89. एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, जी0 आर0 शर्मा पृ0 45, इलाहाबाद, 1960।
90. वही, पृ0 48.
91. इडियन आर्कियालाजी – ए रिव्यू 1957 –58 पृ0 34.
92. तक्षशिला – जान मार्शल कैम्ब्रिज 1928, प्लेट संख्या 173.111.
93. ए सर्वे ऑफ इडियन स्कल्पचर्स, एस0 के सरस्वती।
94. लूडर्स, संख्या 1133.
95. ऋग्वेद, 4.22.21.
96. वही, 1.126.61
97. वही, 10.75.81
98. वाजसनेयी संहिता 19, काठक संहिता 38.31
99. महावग्ग 8.3.1 दीघनिकाय, 2 पृ0 356–57.
100. महापरिनिब्बानसुत्त 5.26.
101. जातक, 6. पृ0 500.
102. महावग्ग 8.1.290
103. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स, बर्लिंगेम जिल्द 29, 2 पृ0 81
104. वही, जिल्द 28, 1 पृ0 249.
105. पाणिनि – अष्टाध्यायी – 3.3.54.
106. वही, 4.2.11.
107. वही, 4.2.42.
108. इडिया एज नोन टु पाणिनि – वी0 एस0 अग्रवाल, पृ0 232.
109. पारस्कर गृह्य सूत्र 1.4.13.
110. कात्यायन श्रौत सूत्र, 15.5.11–12

111. रामायण 2.80.1.

112. रामायण 1.5.

113. रामायण 4.50.36.–37 दिव्यानामम्बराणां च महार्हाणा च संचायन्। कम्बलानां च चित्राणाम।

114. महाभारत – 81.26–27.

115. महाभारत – सभापर्व 47.22–23.

116. महाभारत – शान्तिपर्व 5.2.

117. महाभारत – सभापर्व 51.27–श्लंक्ष्णं वस्त्रम।

118. लेबर इन एंशियन्ट इंडिया – पी० सी० जैन, पृ० 109 मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1971.

119. इपिका इंडिया – सी० वी० वैद्य पृ० 236.

120. अर्थशास्त्र, 4.1.7.

121. वही, 2.11.

122. वही, 2.11.

123. वही, 2.11.

124. वही, 2.23, गन्धमाल्य दानैरन्यैश्च औपग्राहिकैराधयेत्।

125. वही, 2.23.

126. अर्थशास्त्र, 4.1.73.12.

127. वही, 4.1.73.13.

128. पतंजलि कालीन भारत – पी० डी० अग्निहोत्री पृ० 310.

129. महाभाष्य 1.2.45.

130. महाभाष्य 5.1.3.

131. पतंजलि कालीन भारत – पी० डी० अग्निहोत्री पृ० 320.

132. काशिका 4.2.100.

133. महाभाष्य 4.2.11.

134. वही, 4.2.10.

135. वही, 4.2.11.

136. काशिका, 4.2.11.

137. महाभाष्य 4.3.158.

138. मनुस्मृति, 5.120.

139. द कामर्स बिटवीन इंडिया एण्ड रोमन एम्पायर – ई0 एच0 वर्मिंग्टन पृ0 157, कैम्ब्रिज, 1928.
140. वही, पृ0 160
141. अर्ली इंडियन इकोनामिक्स–जी0 एल0 आढ्या,पृ0 71.
142. द कामर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया–वाट–पृ0 1122–23.
143. संस्कृत–हिन्दी–कोश–वामन शिवराम आप्ते–पृ0 308 भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 199 ई0।
144. वही, पृ0 321.
145. वही, पृ0 384.
146. अर्ली इंडियन इकोनामिक्स – जी0 एल0 आढ्या,पृ0 73.
147. वैदिक इंडेक्स–एक–पृ0 212.
148. हर्ष चरित एक संस्कृतिक अध्ययन – बी0 एस0 अग्रवाल पृ0 76–77.
149. अष्टाध्यायी, 6.3.42.
150. महावग्ग, 1.30.4
151. दीघनिकाय–ब्रह्मगाले,सुत्त 15 सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट जिल्द दो पृ0 11–12, महावग्ग 5.10.13.
152. महावग्ग 8.1.3.6.
153. इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोगेस इन एंशियन्ट इंडिया – एन0 सी0 बन्दोपाध्याय, पृ0 242. कलकत्ता, 1945.
154. महापरिनिब्बानसुत्त 5.26.
155. महावग्ग 8.2.
156. महापरिनिब्बानसुत्त 5.26.
157. आपस्तम्ब गृहसूत्र, 4.10.10.
158. अष्टाध्यायी – 6.3.42.
159. रामायण, 1.5.
160. रामायण, 5.9, 53–54.
161. रामायण, 4.50.36–37.
162. रामायण, 3.52.16 तप्ताभरणवर्णांगी पीतकौशेयवासिनी।
163. महाभारत, 6.106.61.
164. रामायण, 7.111.79.

165. महाभारत सभापर्व, 47.22.
166. अर्थशास्त्र, 4.1.5.
167. अर्थशास्त्र, 2.11, महाभारत, 250, मनुस्मृति , 5.120.
168. दि कामर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया – वाट, पृ0 992.
169. दि कामर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया – वाट, पृ0 993.
170. पेरीप्लस, 39, 64. द कामर्स बिटवीन रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया – ई0 एच0 वर्मिग्टन।
171. दि कामर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया – वाट, पृ0 993, 1002.
172. अर्थशास्त्र, 2.11.
173. संस्कृत–हिन्दी कोश–वामन शिवराम आप्टे – पृ0 569.
174. अर्थशास्त्र, 4.1.73.11.
175. वही, 4.1.73.12.
176. अर्थशास्त्र, 2.11.
177. महाभाष्य, 8.3.22.
178. अर्ली इंडियन इकोनामिक्स – जी0 एल0 आद्या,पृ0 73.
179. दि कामर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ इंडिया – वाट, पृ0 720.
180. प्राचीन भारत का इतिहास (सं0) डी0 एन0 झा और के0 एम0 श्रीमाली, दिल्ली, 1984 ई0।
181. वही, पृ0 238.
182. एशिया मेजदा हर्थ एनिवर्सरी, वाल्यूम 1923, पृ0 368–72.
183. अगुत्तर निकाय, 3, पृ0 50.
184. महावग्ग, 8.2.
185. महापरिनिब्बानसुत्त 5.26.
186. वही, 5.26.
187. जातक, 6, पृ0 500.
188. अर्थशास्त्र, 2.11.
189. वही, 2.11.
190. प्राचीन भारतीय संस्कृति – ईश्वरी प्रसाद पंचम संस्करण, इलाहाबाद, 1990 पृ0 619.
191. ऋग्वेद, 8.5.38. चर्मना अभितो जनाः।

192. वही, 1.85.5, चर्मेवोदभिर्व्यदन्ति भूम, वैदिक इंडेक्स जिल्द एक पृ0 257.

193. शतपथ ब्राह्मण 2.1.1.10 शंकुभिःश्चर्म विहन्यात्।

194. ऐतरेय ब्राह्मण, 5.32.

195. ऋग्वेद, 10.94.9.

196. वही, 6.75.11.

197. वही, 1.121.9.

198. वही, 6.47.26.

199. वही, 6.46.14.

200. वही, 6.53.9.

201. वही, 9.66.28—29.

202. वही, 8.5.19.

203. वही, 6.48.18.

204. लेवर इन एंशियंट इण्डिया — पी0 सी0 जैन — पृ0 86.

205. वही, पृ0 86.

206. ऋग्वेद, 10.101.7.

207. वही, 5.61.2—3.

208. वही, 6.47.29.

209. यजर्वेद, 238.5.

210. छदन्त जातक, 5.450

211. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स जिल्द, 28 भाग —1, पृ0 274.

212. बुद्धिस्ट इंडिया — रीज डेविड्स, पृ0 90

213. बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स जिल्द, 28 भाग —1, पृ0 274.

214. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया — ई0 जे0 रैप्सन जिल्द — 1, पृ0 206, कैम्ब्रिज 1992.

215. बौधायन श्रौत सूत्र, 12.12.

216. पारस्कर गृहसूत्र, 2.5.17—19.

217. बौधायन श्रौतसूत, 15.16.

218. अष्टाध्यायी, 5.1.15.

219. अष्टाध्यायी, 5.1.25.

220. वही, 5.2.9.

221. महावग्ग, 5.2.4.

222. महावग्ग, 5.2.23., 5.7.1.

223. अर्थशास्त्र, 2.11.

224. इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ एंशियन्ट इण्डिया – एस0 के0 दास0, पृ0 155.

225. महाभाष्य, 5.1.2.

226. वही, 5.2.9.

227. काशिका, 5.2.5.

228. महाभाष्य, 5.1.5.

229. वही, 5.1.15, 5.1.2

230. वही, 6.4.154.

231. काशिका, 4.2.10.

232. मनुस्मृति, 10.36.49.

233. भारतीय कला – ए0 एल0 श्रीवास्तव, पृ0 84, इलाहाबाद 1990.

234. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – आर0 एस0 शर्मा, पृ0 178.

235. सिलावन्नग जातक, 1.320.

236. सिलावन्नग जातक, 1.320.

237. वही,

238. कांसव जातक, 2.197, बुद्धिस्ट इंडिया – रीज डेविड्स, पृ0 91.

239. लेबर इन एंशियन्ट इंडिया – पी0 सी0 जैन, पृ0 97.

240. रूरल–अर्बन इकोनामी एण्ड सोशल चेन्जेज इन एंशियन्ट इंडिया–जयमल राय – पृ0 196.

241. लाइफ इन एंशियन्ट इंडियाज एज डिपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स – जे0 सी0 जैन, पृ0 100.

242. रामायण, 2.10., 14–15.

243. रामायण, 5.10.2.

244. वही,

245. जातक, 5.302, 6.233.

246. दीघनिकाय, 1.78.

247. अर्थशास्त्र, 2.12.

248. अर्थशास्त्र, 2.2, दीघनिकाय, 2.88.

249. अट्ठसालिनी, 135.
250. प्राचीन भारत में संघटित जीवन – आर0 सी0 मजूमदार, पृ0 19.
251. पुरातत्व विमर्श–जे0 एन0 पाण्डेय, पृ0 576.
252. दि बर्थ ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन– ब्रिजेट एण्ड रेमंड आलचिन पृ0 294.
253. दक्षिण भारत का इतिहास – के0 ए0 नीलकंठ शास्त्री (हिन्दी अनु0) वीरेन्द्र वर्मा विहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ0 118.
254. ऋग्वेद, 8.2.12.
255. ऋग्वेद, 1.93.6., 3.53.4.
256. वही, 8.48.3.
257. पंचविश ब्राह्मण, 9.5.3.
258. अथर्ववेद, 6.70.1.
259. चुल्लवग्ग, 12.13, अंगुत्तर निकाय, 2 पृ0 53–54.
260. वारूणि जातक, 47.
261. इल्लीस जातक, 78.
262. कुम्भ जातक, 512.
263. जातक, 1 पृ0 489.
264. जातक, 4 पृ0 116.
265. बौधायन धर्मसूत्र, 21.1115.
266. रामायण, 2.114.30.
267. महाभारत, 1.76.67.
268. अर्थशास्त्र, 2.25.
269. अर्थशास्त्र, 2.25.
270. अर्थशास्त्र, 2.25.
271. मेगस्थनीज, पृ0 33.
272. अर्थशास्त्र, 2.25.
273. इनवैजन ऑफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर – मैक्रिंडल, पृ0 409.
274. दक्षिण भारत का इतिहास – के0 ए0 नीलकंठ शास्त्री (हिन्दी अनु0) पृ0114.
275. वही, पृ0 118.
276. जातक, 6, पृ0 427.
277. जातक, 3, पृ0 405.

278. महाभारत, 5.189.1–2.

279. नासिक अभिलेख, लूडर्स, 1137.

280. महाभाष्य, 3.1.92.

281. महाभाष्य, 1.4.80, 2.3.1.

282. महाभाष्य, 1.1.44,

283. ऋग्वेद 1.116.16, 8.18.8, 10.39.3.

284. ऋग्वेद 9.112.9, 1.122.9, 10.85.31.

285. ऋग्वेद 19.9.7.

286. सुश्रुत संहिता, 8.3.9.

अध्याय – 7

शिल्पी संगठन तथा उनकी सामाजिक स्थिति

ऐतिहासिक काल में पहली बार छठी शती ई0 पू0 में शिल्प एवं उद्योग तथा वाणिज्य–व्यापार के विकास के फलस्वरूप अनेक नगरों का उदय हुआ जो राजनीतिक सत्ता के केन्द्र तो थे ही साथ ही शिल्प एवं उद्योग के केन्द्र के रूप में भी विकसित हुए।[1] यह बात दूसरी है कि छठी शताब्दी ई0 पू0 में ग्राम एवं नगर के बीच आज जैसा अन्तर नहीं था। पाणिनि ने ग्राम तथा नगर शब्दों का प्रयोग करते हुए बतलाया है कि उत्तर पश्चिम भारत में इनके बीच कोई अन्तर नहीं था लेकिन पूर्वी भाग में नगर ग्राम से भिन्न हुआ करते थे।[2] जो भी हो ई0 पू0 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।[3] पालि ग्रंथों में उस समय मध्य गंगा घाटी में विकसित अनेक नगरों का उल्लेख मिलता है जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, पाटलिपुत्र, कुशीनगर, वाराणसी, श्रावस्ती और कौशाम्बी विशेष महत्वपूर्ण थे।[4] इन नगरों में स्वाभाविक रूप से शिल्प और उद्योगों का केन्द्रीकरण होता गया। जैसे – जैसे शिल्प एवं उद्योग विकसित होते गये, इनसे जुड़े लोगों में संघटक प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। बड़े–बड़े व्यापारी तथा चोर लुटरों के उत्पीड़न से बचने के लिए शिल्पियों ने वर्गीय संगठन की आवश्यकता समझी। शिल्पियों के संगठन को 'श्रेणी' और व्यापारियों के संगठन को 'निगम' कहा जाता था।[5] भिन्न–भिन्न श्रेणियां शिल्पों एवं व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थी। प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन को समुन्नत करने में श्रेणियों का महत्वपूर्ण योगदान तो था ही, साथ ही इन संगठनों की भारत की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में भी बढ़–चढ़कर भागीदारी दिखलायी पड़ती है। शिल्पी संगठनों के अपने अलग नियम थे जो राज्य द्वारा मान्य थे। राजा इन संगठनों के नियमों का आदर और सम्मान करता था तथा उनके प्रतिनिधियों को राज़्य की प्रशासनिक समिति में सदस्य मनोनीत करता था।

शिल्पी संगठनों का विकास तीव्रगति से तो ऐतिहासिक काल में हुआ लेकिन इसके पूर्व से ही हमें श्रेणियों के बारे में जानकारी मिलती है। ऋग्वेद में पणि जैसे व्यापारियों का उल्लेख मिलता है जो सुरक्षा को ध्यान में रखकर समूह में व्यापार के लिए जाते थे। ऋग्वेद के अनुसार 'श्रेणी' हंसों की तरह समूहों में कार्य करती थी।[6] उत्तरवैदिक काल में आर्थिक जीवन में निश्चित रूप से संघटक प्रवृत्ति अस्तित्व में थी।

अधीत काल में शिल्पियों तथा व्यपारिक संगठनों के बारे में साहित्य और पुरातत्व दोनों से जानकारी प्राप्त होती है। छठी शताब्दी ई0 पू0 के नगरों के सन्दर्भ में प्रायः अठारह श्रेणियों का उल्लेख मिलता है जिनमें से केवल बढ़ई, कर्मार, चर्मकार तथा चित्रकार आदि का नामपूर्वक उल्लेख है शेष अन्य के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मूगपक्ख जातक के अनुसार एक राजा ने अपने सम्पूर्ण राजकीय वैभव के साथ यात्रा करते हुए चार वर्णों, अठारह श्रेणियों और अपनी सम्पूर्ण सेना को एकत्रित किया। इससे स्पष्ट होता है कि राज्य में विभिन्न श्रेणियों की परम्परागत संख्या अठारह निर्धारित की गयी थी। साहित्य और अभिलेखों में उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर आर0सी0 मजूमदार ने 27 श्रेणियों को सूचीबद्ध किया है जिनमें लकड़ी का काम करने वाले, पत्थर का काम करने वाले, सोना, चांदी आदि धातुओं का काम करने वाले, चर्मकार, दन्तकार, बंसकार (बांस का काम करने वाले), बुनकर, कुम्भकार, चित्रकार और मालाकार जैसे शिल्पियों से सम्बन्धित संगठन हमारे शोध से विशेषरूप से सम्बंधित है। इस कारण प्रस्तुत अध्याय में इन पर विशेष बल दिया गया है लेकिन इसके साथ ही शिल्पी संगठनों से सम्बंधित आवश्यक तथ्यों को किसी भी तरह उपेक्षित नहीं किया गया है।

किसी शिल्पी संगठन में कम से कम कितने सदस्य होते थे, इसका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता लेकिन, बौद्ध साहित्य में प्राप्त संकेत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बड़ी श्रेणियों में एक हजार तक शिल्पी होते थे। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख चुना जाता था जिसे 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहा जाता था।[10] बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि नगर की सड़को तथा वीथियों में और समूचे गाँव में

एक ही वर्ग के शिल्पियों को बसाया जाता था। जैसे महाबड्ढकि ग्राम में लकड़ी का काम करने वाले शिल्पी – बढ़इयों के 1000 परिवार[11] तथा कम्मार ग्राम में इतने ही लुहार बसते थे।[12] समुद्दवणिक जातक के अनुसार वाराणसी के समीप एक हजार परिवारों वाला बढ़इयों का एक बड़ा नगर था। इन परिवारों में से दो प्रधान कारीगर थे जिनमें से प्रत्येक पॉच सौ के ऊपर था। एक साथ उन्होंने अपना नगर छोड़ा और अपने परिवारों सहित वे एक द्वीप में बस गए।[13] इससे दो तथ्य सामने आते है – पहले से यह सिद्ध होता है कि श्रेणियों में भ्रमणशीलता भी थी और दूसरे ये सह संकेत मिलता है कि कभी–कभी एक स्थान के शिल्पियों के एक ही वर्ग में एक से अधिक संगठन होते थे। बौद्ध ग्रन्थों से ऐसे संकेत मिलते हैं जिनमें श्रेणी प्रमुख के पद से अधिक संगठन होते थें बौद्ध ग्रन्थोंा से ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे श्रेणी प्रमुख के पद परम्परागत होने की पुष्टि होती है। एक जातक में कहा गया है कि जब प्रधान नाविक मर गया तब उसका पुत्र नाविकों का नेता बना।[14] श्रेणी संगठनों के प्रधान कभी–कभी राज्य के उच्च पदों पर आसीन होते थे और राजाओं तथा धनिकों के प्रिय पात्र तथा बड़ी हस्ती वाले होते थे।[15] यही नहीं दो जातक कथाओं में अठारह श्रेणियों के राजकीय जुलूस में भाग लेने का वृतान्त मिलता है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारत की राजनीति में श्रेणियों का एक महत्वपूर्ण स्थान था। बौद्ध ग्रन्थों में श्रेणी प्रमुखों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष का भी उल्लेख मिलता है । श्रीमती रीज डेविड्स का मत है कि कि काशी राज्य के प्रसंग में बनारस की राज्य सभा में सभी श्रेणियों के ऊपर सर्वोच्च अधिकारी की जिसे कोषाध्यक्ष के भी अधिकार प्राप्त थें, प्रथम नियुक्ति की चर्चा हुई है। संभव है दो बार उल्लिखित कोशल में सावत्थी (श्रावस्ती) की श्रेणियों के बीच होने वाले झगड़े बनारस में भी उत्पन्न हो गए हों जिसके परिणाम स्वरूप यह नियुक्ति हुई हो।[16] एक जातक कथा एक राजकीय अधिकारी भाण्डागारिक का उल्लेख करती है, जिसके पद के साथ सभी व्यापारिक श्रेणियों के न्यायाधीश का पद भी संलग्न था। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि पहले ऐसा कोई पद नहीं था परन्तु बाद में वह बराबर बना रहा। इससे लगता है कि

श्रेणियों के आपसी संघर्ष होते रहते थे जिसका निपटारा करने के लिए भाण्डागारिक को अपनी भूमिका निभानी पड़ती थी।

शिल्पी संगठनों के विकास की अगली अवस्था का परिचय सूत्र ग्रन्थों में मिलता है। इस काल में व्यापारियों तथा शिल्पियों के निगम संविधान द्वारा राज्य के एक आवश्यक अंग मान लिए गये और उन्हें अपने कानून बनाने का अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया। उनका नेता जो सम्भवतः जातकों के जेट्ठक के समकक्ष था, एक मुख्य व्यक्ति माना गया जो राज्य दरबार में अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकता था। गौतम धर्मसूत्र व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों के साथ शिल्पियों को भी अपने–अपने समूहों के लिए नियम निर्धारित करने का अधिकार देता है। यह भी कहा गया है कि राजा उन लोगों से वस्तुस्थिति, की जानकारी प्राप्त करने पर जो प्रत्येक समूह में बोलने का अधिकार रखते हैं, कानूनी निर्णय देगा।[17]

महाकाव्य काल में श्रेणियों का विशेष महत्व था। महाभारत में एक स्थान पर श्रेणियों को राजकीय शक्ति के प्रमुख आधार के रूप में वर्णित किया गया है।[18]

आददीत बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणिबलं प्रभो।।
तत्र मित्रबलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते।
श्रेणिबलं भृतं चैव तुल्य एवेति मे मतिः।।

महाभारत में एक दूसरे प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि गंधर्वो से पराजित होने के बाद दुर्योधन अपनी राजधानी में लौटने से इनकार करता है, क्योंकि हार के कारण असम्मानित, वह श्रेणिमुख्यों को अपना मुँह नही दिखा सकता था–[19]

ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम्।।

श्रेणियों के महत्व को स्पष्ट करते हुए एक दूसरे स्थान पर उल्लेख मिलता है कि जो लोग अपनी श्रेणियों के प्रति कर्तव्य–पालन नहीं करते उन्हें कोई भी प्रायश्चित पापमुक्त नहीं कर सकता[20]

जातिश्रेण्याधिवासानां कुल धर्म्मांश्च सर्व्वतः।

वर्ज्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्म्मो न विद्यते।।

मौर्यकाल में आर्थिक जीवन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण विकास हुआ। आर्थिक दृष्टि से विशेषकर शिल्पियों के सन्दर्भ में मौर्यकाल राज्य द्वारा उन पर नियंत्रण के लिए प्रसिद्ध रहा है।[21] अर्थशास्त्र के कण्टकशोधन नामक अधिकरण के प्रथम प्रकरण में इस दृष्टि से महत्वपूर्ण नियम प्राप्त होते है।[22] इस प्रकरण का शीर्षक ही है 'शिल्पियों से प्रजा की रक्षा' (कारुक रक्षणम)। शिल्पियों सम्बन्धी विवादों को देखने के लिए तीन 'प्रदेष्टा' और तीन 'अमात्य' नामक अधिकारी नियुक्त किये जाने का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।[23] इसमें जिन शिल्पियों और उनसे सम्बंधित जिन मामलों के निपटारे का सन्दर्भ प्राप्त होता है उनसे ऐसा लगता है कि राज्य द्वारा अथवा किसी व्यक्ति द्वारा शिल्पियों को अपनी कार्यशालाओं मे नियुक्त करने और उनकी देख–रेख से सम्बन्धित समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया । इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रुप से अपनी कार्यशालाओं में कार्य करने वाले शिल्पियों द्वारा किसी प्रकार के समझौते के अनुरुप कार्य न करने तथा कार्य में किसी प्रकार की त्रुटि होने आदि के सन्दर्भ में नियमों का उल्लेख इस प्रकरण में प्राप्त होता है। शिल्पियों से सम्बन्धित सामान्य नियमों के अतिरिक्त जिन शिल्पियों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है उनमें बुनकर (तन्तुवाय), धोबी (रजक), दर्जी (तुन्नवाय), तथा नट–नर्तक (कुशीलव) आदि महत्वपूर्ण है। शिल्पियों द्वारा सामान्य जनता का शोषण और ठगने से राज्य उनकी रक्षा भी करता था। इसके लिए कौटिल्य द्वारा विभिन्न प्रकार के शिल्पियों के पारिश्रमिक निर्धारित किये गए थे। इस प्रकार के नियमों का उल्लंघन करने पर शिल्पियों को अपराध की गम्भीरता के अनुसार दण्ड भी निर्धारित था। एक ओर जहाँ शिल्पियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपना काम उचित ढंग से और यथा समय करेंगे वही शासन शिल्पियों और व्यापारियों की सुरक्षा के लिए भी विशेष ध्यान देता था। शिल्पी और छोटे व्यापारियों की साधारण वस्तु की चोरी होने पर चोरी करने वाले को सौ पण दण्ड दिये जाने का विधान था।[24] यदि चोरी किसी बड़ी वस्तु की हो जाये तो 200 पण दण्ड का विधान किया

गया था।[25] यूनानी लेखकों ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि मौर्य शासन शिल्पियों की सुरक्षा के लिए विशेष रूप से चिन्तित था। स्ट्रैबों नामक लेखक के अनुसार जो व्यक्ति किसी शिल्पी के लिए एक हाथ को तोड़ देता था या एक आँख को फोड़ देता था तो उस व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[25]

मौर्यकाल में श्रेणियों का महत्व इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि एक आदर्श नगर – योजना में श्रेणियों और श्रमिकों के लिए स्थान सुरक्षित होते थे और उनके द्वारा दिये गये करों की गणना आय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधनों में की जाती थी।[27] कौटिल्य ने श्रेणियों के रूप में संगठित शिल्पियों के वेतन के सन्दर्भ में लिखा है कि यदि वे केवल अपने कार्य पर उपस्थित हो जायें, लेकिन कोई कार्य न करें तो उपस्थिति मात्र ही उनका कार्य नही कहा जा सकता । इसके लिए उन्हें किसी प्रकार वेतन देय नहीं होगा। वेतन काम करने कि लिए दिया जाता था खाली बैठने के लिए नहीं। ठीक तरह से काम न करने वाले शिल्पियों का एक महीने में सात दिन का वेतन दबाकर भुगतान करना चाहिए।[28] श्रेणी और संघ के रूप में काम करने वाले शिल्पियों को ठेके पर यदि कोई कार्य मिला हो और वे सब मिलकर अगर उस कार्य को पूरा करें तो पहले से तय की हुई धनराशि के मिलने पर सभी शिल्पी उसकों आपस में बराबर – बराबर बाँट लें। यदि किसी शिल्पी ने किसी काम का समझौता किया हो या ठेका लिया हो और यह स्वस्थ रहते हुए काम को छोड़कर चला जाये तो उसे उचित दण्ड देने का कौटिल्य ने विधान किया है क्योंकि इस प्रकार काम छोड़कर चले जाना उचित नहीं है। यदि कोई शिल्पी मालिक को सूचित किये बिना कोई वस्तु ले ले अथवा उसको नष्ट कर दें तो भी उसे दण्डित करने का कौटिल्य ने विधान किया है। मालिक की आज्ञा के अनुसार ठीक स्थान पर उचित समय पर काम न करने से अथवा काम को शिल्पियों द्वारा उल्टा कर देने पर यह माना जायेगा कि उसने काम नहीं किया और उसे किसी प्रकार का पारिश्रमिक देय नहीं होगा।[29] लेकिन इसके साथ ही अर्थशास्त्र में शिल्पियों के हितों की रक्षा के लिए भी अनेक प्रावधान थे। जैसे यदि कोई मालिक अपनी इच्छा से थोड़ा काम कराये फिर न करायें, ऐसी स्थिति में यही माना जायेगा

कि शिल्पी ने अपना काम पूरा किया और उसकों पूरे वेतन का भुगतान मिलना चाहिए। इसके साथ यह भी यह उल्लेख मिलता है कि यदि मालिक ने जितना काम बताया है शिल्पी ने उससे अधिक काम कर डाला है तो वह अतिरिक्त वेतन पाने का हकदार हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसके श्रम को व्यर्थ नहीं समझना चाहिए।

मौर्यकाल में दो प्रकार के शिल्पी थे – छोटे या घरेलू, उद्योग –धन्धों को करने वाले शिल्पी तथा अपेक्षाकृत बड़े तथा शासकीय उद्योग–धन्धों में कार्यरत शिल्पी । छोटे–छोटे उद्योग शिल्पियों की श्रेणियां स्वयं चलाती थी। बड़े–बड़े शिल्प मौर्यकाल में राज्य के हाथ में थे। उनका संचालन सम्बद्ध अध्यक्ष की देखरेख तथा नियंत्रण में होता था। शासकीय शिल्प से राज्य की आय में वृद्धि होती थी। राज्य की आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में शिल्पियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी और इसे राज्य ने स्वयं स्वीकार किया था । इस सन्दर्भ में मेगस्थनीज द्वारा वर्णित पाटलिपुत्र नगर की तीस सदस्यीय समिति का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें पाँचवीं समिति शिल्पियों से सम्बन्धित थी। इस समिति का कार्य शिल्पियों द्वारा तैयार वस्तुओं पर मुहर लगाना और उनकी उत्पादित वस्तुओं के क्रय–विक्रय का प्रबंध करना था।[30]

मौर्योत्तर काल में नगरों के आर्थिक जीवन में शिल्पियों की श्रेणियों का महत्वपूर्ण योगदान था। मुनस्मृति में कानून की शक्ति के रूप में श्रेणिधर्म का भी उल्लेख मिलता है। मनु के अनुसार यदि कोई मनुष्य जो ग्राम या देश संघ से सम्बन्घित है, शर्त स्वीकार करके लोभवश उसे तोड़ देता है तो राजा उसे अपने राज्य से निकाल दें।[31] मेधातिथि करके और कुल्लूक भट्ट दोनों ने देश – संघ के अन्तर्गत व्यापारिक श्रेणियों को भी माना है। मौर्योत्तर कालीन शिल्पी संगठनों के बारे में शुंग –सातवाहन काल के कतिपय अभिलेखों से भी जानकारी मिलती है, साँची स्तूप के दक्षिणी तोरण पर सातवाहन काल का 72 ई0 पू0 का एक अभिलेख अंकित है, जिसमें यह उल्लेख है कि राजा श्री सातकर्णि के शिल्पियों की श्रेणी के अध्यक्ष आनन्द की देख–रेख में विदिशा की एक दन्तकार श्रेणी ने इस तोरण का

निर्माण कराया था।[32] इससे यह संकेत मिलता है। कि विवेच्य काल में श्रेणियाँ ऐसी साधन सम्पन्न एवं शक्तिशाली संस्थाएं थी जो तोरण जैसे व्ययसाध्य कार्य को पूरा करने का दायित्व अपने ऊपर ले सकती थीं।

महाराष्ट्र के शक–क्षत्रप नहपान के 42वें शासनवर्ष का एक अभिलेख नासिक से प्राप्त हुआ है। इस गुफालेख को नहपान के दामाद उषावदात ने लिखवाया था।[33] श्रेणी संगठन के बारे में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण पुरातात्त्विक साक्ष्य माना जाता है। इस अभिलेख के अनुसार गोवर्धन में रहने वाली श्रेणी के पास 3000 कार्षापण 'अक्षयनीवी' के रूप में जमा किये गए थे, जिस धन के ब्याज से नासिक गुफा मंदिर में एक भिक्षु संघ के भिक्षुओं के वस्त्रों का खर्च, भोजन सम्बन्धी व्यय आदि पर उस धन को खर्च किया जाता था।[34] अभिलेख से ऐसा संकेत मिलता है कि इस समय नासिक का नाम गोवर्धन था और वहाँ पर जुलाहों की कई श्रेणियाँ थी जिनकों 'कौलिक निकाय' कहा गया है।[35] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रेणियाँ आर्थिक कार्यों के अन्तर्गत धन आदि जमा करने का भी कार्य करती थीं। श्रेणियाँ बैंक का भी काम करती थी। उनके पास एक निश्चित धनराशि जमाकर दी जाती थी जिसे 'अक्षयनीवी' कहा जाता था। इसका मूलधन खर्च नहीं किया जाता था, बल्कि इससे ब्याज मिलता था, वही खर्च किया जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रेणियाँ जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप से संचालन करती थी वहीं दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उस पर ब्याज देती थीं। श्रेणियों की स्थिति समाज में इतनी सम्मानजनक तथा विश्वसनीय थी कि उनके पास रूपया जमा करने में किसी को संकोच नहीं होता था। मुख्य बात यह थी कि धन मूल रुप में लौटाया नहीं जाता था। केवल उसका ब्याज किसी धर्म कार्य में लगाया जाता था। इस प्रकार के जमा धन से शिल्पियों के आर्थिक कार्यों के लिए पूँजी इकट्ठा हो जाती थी और वे उनके सांस्कृतिक गतिविधियों में बढ़–चढ़ कर भाग लेती थी। जहाँ इस अवधि में शिल्पी संगठनों में लोगों का अधिक विश्वास दिखलायी पड़ता है वहीं इसके पूर्व मौर्यकाल में श्रेणियों द्वारा धोखाधड़ी किये जाने का उल्लेख मिलता है। मौर्यकाल में इसलिए कौटिल्य ने लोगों को शिल्पियों के पास धन न जमा करने

का सुझाव दिया था।[36] *जबकि इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विंचार है कि नासिक अभिलेख में केवल इस बात का ही उल्लेख नहीं है कि वहाँ की कुछ श्रेणियों के पास कुछ धार्मिक कार्यों के खर्च के लिए धन जमा किया गया था बल्कि इस जमा धन के सम्बन्ध में निगम सभा के कार्यालय में नियम के अनुसार इस की लिखी–पढ़ी भी करायी गयी थी जिसे आज की भाषा में पंजीकरण माना जा सकता है।[37] अतः यह यह कहा जा सकता है कि श्रेणियों और 'अक्षयनीवी; के रूप में धन जमा करने वाले व्यक्तियों के बीच में लिखित अनुबन्ध भी किया जाता था।*

शक –कुषाण काल शिल्पियों की श्रेणी व्यवस्था के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शक–कुषाण काल की मजबूत अर्थव्यवस्था के संकेत पुरातात्विक साक्ष्यों से मिलते हैं। उल्लेखनीय है गुप्तकाल में नगरों में रिहायशी भवनों के निर्माण में प्रायः टूटी–फूटी ईंटों के उपयोग के पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं जो तत्कालीन सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के द्योतक नहीं माने जा सकते।[38] लेकिन इसके विपरीत शक–कुषाण काल में नगरीय जीवन में समृद्धि के संकेत नगरों के रिहायशी भवनों के निर्माण में प्रयुक्त पकी हुई पूर्णतः सुरक्षित ईंटों के प्रमाण से मिलता है।[39] इस प्रकार की मजबूत अर्थव्यवस्था में व्यवसायियों एवं शिल्पों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इन व्यवसायियों और शिल्पियों को मौर्यकालीन राजकीय नियंत्रण से इस काल में मुक्ति तो मिल ही गयी थी, राज्य द्वारा शिल्पी संगठनों को सभी प्रकार की सहायता एवं प्रोत्साहन भी दिए गये। इससे दो प्रकार के लाभ हुए – एक तो ये संस्थाएं अधिक विकसित हुई और दूसरा जनता में उनका विश्वास बढ़ा। कुषाण काल में शिल्पी संगठनों की स्थिति के बारे में मथुरा से प्राप्त हुविष्क के एक अभिलेख से भी जानकारी मिलती है। वर्ष 28 (106 ई0) के इस अभिलेख में एक 'अक्षयनीवी' का उल्लेख है। इस अभिलेख के अनुसार शिल्पियों की दो श्रेणियों में प्रत्येक को 550 'पुराण' (एक प्रकार का सिक्का) दिए गए थे। इनमें से एक श्रेणी आटा बनाने वालों की थी।[40]

साहित्य और पुरातत्व दोनों से अनेक शिल्पी संगठनों द्वारा विविध प्रकार के कार्य करने का भी उल्लेख मिलता है। उनके अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि

शिल्पियों ने व्यक्तिगत स्तर पर और एक संगठन के रूप में भी दान आदि धार्मिक कार्य किये। इस सन्दर्भ में साँची स्तूप के तारेण द्वार पर अंकित अभिलेख उल्लेखनीय है जिससे पता चलता है कि शिल्पकारों की श्रेणियों ने द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 से प्रथम शताब्दी ई0 के बीच वहाँ पर अनेक प्रकार के दान दिये थे।[41] यही नहीं अपने लाभ का एक अंश शिल्पी संगठनों द्वारा सभागृह तथा विश्रामगृह का निर्माण, और उद्यान लगवाने के अतिरिक्त दीन–दुखियों की मदद में दान देने जैसे परोपकारी कार्यों के किये जाने के साक्ष्य उपलब्ध है।[42]

श्रेणियों के बैंकिंग कार्यों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त कुछ श्रेणियों द्वारा अपने सिक्के जारी करने का भी संकेत मिलते हैं तक्षशिला के उत्खनन से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 के कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि में 'नैगम' शब्द अंकित मिला है।[43] निगम व्यापारियों की श्रेणी को कहते थे। इससे यह परिलक्षित होता है कि प्राचीन काल में सिक्के चलाने या बनाने पर राजा का एकाधिकार नहीं माना जाता था। कतिपय श्रेणियाँ भी अपने सिक्के जारी करती थी। आर्थिक क्रय–विक्रय के लिए शिल्पकारों की श्रेणियों की अपनी मुहरें होती थीं, जिनका वे प्रयोग करती थी। इलाहाबाद नगर के दक्षिण–पश्चिम में लगभग 15 किलोमीटर की दूरी पर यमुना नदी के दक्षिणी तट पर भीटा नामक पुरास्थल है। इसका उत्खनन सर जान मार्शल की देख–रेख में हुआ था। यहाँ के उत्खनन से मिट्टी की एक मुहर मिली है जिस पर द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 की ब्राह्मी लिपि में 'सहजाति निगमस' लेख अंकित है।[44] इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में इस स्थान को सहजाति नाम से जाना जाता था और यहाँ पर इस नाम का निगम था। भीटा से ही कुषाणकाल की चार मुहरें, जो मिट्टी की बनी है, मिली है, जिन पर निगम शब्द अंकित है।[45] यह परम्परा भीटा में कम से कम गुप्तकाल तक चलती रही । इसकी पुष्टि यहाँ से प्राप्त उस गुप्तकालीन मिट्टी की एक मुहर से होती हैं जिस पर 'निगम' अंकित है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैसे – जैसे शिल्प–उद्योग का विकास हुआ वैसे ही शिल्पियों और व्यवसायियों के पृथक् –पृथक् स्वतन्त्र संगठन भी बनते गये

जो उनके सामूहिक हित के साथ–साथ व्यक्तिगत हित की भी देख–रेख करते थे। नागरिक जीवन के विकास के साथ व्यवसायी और शिल्पी भी ग्राम से नगर की ओर आकर्षित होते गये तथा अपनी सुविधा को दृष्टि में रखकर उन्होंने अपने–अपने व्यवसायों का गठन किया । इस प्रकार समाज में विभिन्न व्यवसाय और शिल्प से सम्बन्धित विभिन्न संगठित समूह बन गये, जिनका सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के निर्माण में अभूतपूर्व योग था। बौद्ध साहित्य में शिल्पों और व्यवसायों से सम्बंधित ऐसे अनेक संगठनों को ही 'निगम' , 'संघ', 'पूग', 'श्रेणी' और 'गण' कहा गया है। जैसे जैसे ये संगठन सुदृढ़ होते गये , इन्होंने अपने कानून भी बनाये और अधिकारों का प्रयोग भी करना आरम्भ किया । सदस्यों के पारस्परिक वाद–विवाद आपस में सुलझाने में इन संगठनों ने अहम भूमिका निभायी। इस प्रकार के संगठन पूर्णरूपेण अधिकार सम्पन्न थे। शिल्पी व्यक्तियों द्वारा दुष्कार्य किये जाने पर उन्हें अपदस्थ करने का भी अधिकार इन संगठनों के पास था। यही नहीं धीरे–धीरे इन संगठनों को सेना रखने की अनुमति भी मिल गयी थी। कम्बोज और सौराष्ट प्रदेशों में क्षत्रियों की श्रेणियाँ थी। कौटिल्य ने श्रेणी बल' का उल्लेख किया है।[46] श्रेणियों की अपनी सैन्य व्यवस्था उन्हें सुरक्षा तो प्रदान करती ही थी साथ ही साथ आवश्यकता पड़ने पर राज्य की भी सहायता करती थी। शिल्पी संगठनों की सैनिक शक्ति का संकेत हमें परवर्ती अभिलेखों से भी मिलता है। मंदसोर अभिलेख से विदित होता है कि रेशम बुनकरों की श्रेणी के लोग धनुर्विद्या में पारंगत होकर अच्छे योद्धा के रूप में प्रतिष्ठित थे।[47] शिल्पी संगठनों द्वारा शिक्षा की भी व्यवस्था किये जाने का संकेत मिलता है। यद्यपि यह औपचारिक शिक्षा नहीं थी जो ब्राह्मणों और भिक्षुओं के हाथ में ही रही । एक विशिष्ट शिल्प के कारीगरों तक ही सदस्यता को सीमित रखने के फलस्वरूप ये श्रेणियाँ तकनीकी शिक्षा का केन्द्र बन गयी थीं। खनन्, धातु–कर्म, रंगाई, बनाई, बढ़ईगीरी आदि का ज्ञान सम्बंधित श्रेणियों द्वारा सुरक्षित रखा जाता था और उसमें सुधार भी किया जाता था। इस प्रक्रिया से हुई प्रगति की सूचना उन सिक्कों से मिलती है जो अनेकों पुरास्थलों से उपलब्ध हुए है; मौर्यकाल और उन परवर्ती युगों के स्तम्भों में परिलक्षित है, जब पत्थर की कटाई और उस पर पालिश

करने की कला पूर्णता को प्राप्त हुई थी तथा उत्तरी काली पालिश के बर्तनों जैसी साधारण वस्तुओं तक में दिखालायी पड़ती है जिनकी प्रतिकृति बनाना आसान कार्य नहीं है। बाँधों और सिंचाई के जलाशयों के निर्माण में अभियांत्रिक कुशलता का प्रमाण उनके अवशेषों और उनसे सम्बंधित शिलालेखों में व्यवहारोचित सहायता देने के लिए हुआ, किन्तु धीरे–धीरे इस विद्या का उपयोग अधिक जटिल वास्तुकला में होने लगा।[48]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि बुद्ध और मौर्य काल से चली आ रही शिल्प–श्रेणियाँ मौर्योत्तरकाल में उत्पादन को नियोजित करने और लोकमत का अनेक प्रकार से निर्माण करने दोनों दृष्टियों से नागरिक जीवन में और अधिक महत्वपूर्ण बन गयी। शिल्पी बहुत बड़ी संख्या में इन श्रेणियों के सदस्य बनते थे क्योंकि व्यक्तिगत रूप में श्रेणियों से प्रतिस्पर्धा करना उनके लिए कठिन था। इसके अतिरिक्त श्रेणियाँ उन्हें सामाजिक मर्यादा और बहुत हद तक सामान्य सुरक्षा भी प्रदान करती थी। कुछ विशिष्ट वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग और उसके फलस्वरूप उनका उत्पादन बढ़ाने की आवश्कता अनुभव करके कुछ श्रेणियाँ किराए के श्रमिकों और दासों को काम पर लगाने लगी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक कुम्भकार द्वारा रखे गए भाड़े के मजदूर की चर्चा आयी है, जो दिन–भर चाक पर मिट्टी का सामान बनाने के बाद बदन में मिट्टी लगाए हुए ही तिनकों के गट्ठर पर बैठता है और थोड़े से घोल में ज्वार की टिकियों को डुबा–डुबाकर खाता है।[49] जिस क्षेत्र में ये श्रेणियाँ कार्य करती थी, उसमें उन्हें अपना पंजीकरण कराना पड़ता था और क्षेत्र परिवर्तन करने के लिए स्थानीय अधिकारियों से अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी । किसी भी व्यवसाय के शिल्पी अपनी श्रेणी बना सकते थे और लाभप्रद होने के कारण अधिकांश व्यवसायों के शिल्पियों ने अपनी–अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। प्रमुख श्रेणियाँ कुम्भकारों, धातुकारों और काष्ठकारों जैसे शिल्पियों की थी। उनके आकार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सद्दलपुत्त नामक एक धनी कुम्भकार मिट्टी के बर्तन बनाने की पाँच सौ कार्यशालाओं का स्वामी था।[50] इसके अतिरिक्त उसकी अपनी वितरण व्यवस्था थी और उसके पास बहुत सी नौकाएं थीं

जो तैयार मिट्टी के बर्तनों को कार्यशालाओं से गंगा पर स्थित विभिन्न बन्दरगाहों तक ले जाती थीं। ज्यो–ज्यों व्यापार बढ़ता गया, प्रमुख शिल्पी – संगठनों का आकार भी बढ़ता गया। ये श्रेणियाँ कार्य करने के नियम और तैयार माल की गुणवत्ता तथा उनके मूल्य निर्धारित करती थीं ताकि शिल्पी और उपभोक्ता दोनों के हितों की रक्षा हो सके। श्रेणियाँ निर्मित वस्तुओं के मूल्यों पर भी नियंत्रण रखती थीं और ये मूल्य या तो कार्य की गुणवत्ता पर निर्भर करते थे या एक निश्चित दर पर इनका हिसाब लगाया जाता था।[51]

शिल्पियों की सामाजिक स्थिति :

ऋग्वैदिक कालीन समाज में व्यवसाय अथवा शिल्प जाति का बोधक नहीं था। इसका आधार ऋग्वेद का वह मंत्र है जिसके अनुसार एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य कवि, भिषक् और पाठक पिसाई करने वाले का काम करते थे।[52] इससे प्रतीत होता है कि उस समय जातीय स्तर पर भेदभाव नहीं था जैसा कि परवर्ती काल में दिखलायी पड़ता है । *आर्य समुदाय के सदस्य कोई भी शिल्प एवं व्यवसाय अपना सकते थे और उन्हें किसी तरह हीन नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद की एक परवर्ती ऋचा में बढ़ई का वर्णन इस रूप में किया गया है कि सामान्यतः अपना काम वह तब तक झुककर करता रहता था जब तक उसकी कमर टूटने न लग जाए।[53] इससे लगता कि बढ़ई नामक शिल्पी का कार्य यद्यपि कठिन था परन्तु उसके कार्य को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।* उत्तरवैदिक काल में जाति कही जाने वाली अनोखी सामाजिक व्यवस्था का विकास हो गया था। ब्राह्मण और क्षत्रिय विशेषाधिकारों से सम्पन्न थे और उत्पादक शक्तियों के नियन्ता थे। अनेक प्रसंगों से पता चलता है कि इस काल में श्रमिक वर्ग या शिल्पकर्मी शूद्र वर्ण के थे। पुरूषमेध यज्ञ में ब्राह्मण ब्रह्मत्व को, राजन्य राज्य को, वैश्य मरूत (कृषक समुदाय) को और शूद्र तप शारीरिक श्रम को बलि चढ़ाये, ऐसा उल्लेख मिलता है।[54] यज्ञ में बलि दिये जाने वालों की सूची में चतुवर्णों के पश्चात् विभिन्न प्रकार के पेशेवर लोगों का स्थान आता है; यथा रथ निर्माता, बढ़ई, कुम्भकार, लोहार,

स्वर्णकार, चरवाहा, गड़ेरिया, किसान, मद्यनिर्माता, मछुआ और शिकारी इन सब को वैश्य या शूद्र की श्रेणी में रखा जा सकता है।[55]

ऐतिहासिक काल में प्राचीन पालि ग्रन्थों में अनेक शिल्पों का उल्लेख मिलता है फिर भी इन्हें अपनाने वाले लोग किस वर्ण एवं जाति के थे, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। मालूम होता है कि शूद्र समुदाय के कुछ लोग बुनकर के रूप में कार्य करते थे तो कुछ लकड़हारे लोहार, चर्मकार, कुम्भकार, रंगरेज आदि थे। गहपति सामान्यतया ब्राह्मणकालीन समाज के वैश्य से मिलता–जुलता है और उसके बारे में एक जगह कहा गया है कि वह कला और शिल्प का व्यवसाय करके जीवन निर्वाह करता था।[56] यदि साधन सम्पन्न व्यक्ति गहपति हो सकता था तो सम्भव है कि चुंद लोहार जिसने गौतम बुद्ध तथा उनके अनुयायियों को शानदार भोजन कराया था[57], और सम्पन्न कुम्भकार सद्दलपुत्र, जो पाँच सौ कुम्भकारी की दूकानों का मालिक था और जिनमें अनेकोनेक कुम्भकार कार्य करते थे,[58] जैसे कुछ धनवान शिल्पी गहपति थे। यह बात एक हजार लोहारों के गाँव के उस प्रधान के बारे में भी सत्य हो सकती है जिसने बोधिसत्व से अपनी कन्या का विवाह रचाया।[59] यद्यपि गहपति शब्द का प्रयोग अब इस प्रकार के शिल्पियों के लिए किया जाता है, यह सम्भव है कि अपनी सम्पत्ति के कारण ही उनमें से कुछ लोग ऊँची जगह पा सके। विनय पिटक में कृषि, व्यापार और पशुपालन को उच्च कोटि का काम बताया गया है।[60] उल्लेखनीय है कि परम्परागत रूप से ये कर्म वैश्यों के थे। लेकिन वैश्यों द्वारा शिल्पकारी एवं शूद्रो द्वारा कृषि, व्यापार आदि कर्म में संलग्न होना अपवाद नहीं था। मुख्य बात यह है कि ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था को चुनौती देने वाले बौद्ध ग्रन्थों में जन्म के बजाय कर्म को ऊँच–नीच का आधार बनाया गया है। जहाँ कृषि, व्यापार और पशुपालन को उच्च कोटि का काम बताया गया है वहीं बढ़ई और भंगी का काम हीन कोटि का समझा जाता था।[61] इसी ग्रन्थ में नलकार (बॉस का काम करने वाला), कुम्भकार, पेसकार (बुनकर), चम्मकार (चर्मकार) और नहापति (नापित या नाई) पाँचों को व्यवसायगत आधार पर हीन कोटि का बताया गया है।[62] किन्तु एक दूसरे ग्रंथ में बुनकर, नलकार, कुम्भकार और हज्जाम के कार्य को सामान्य

शिल्प की सूची में रखा गया है।[63] इससे यह पता चलता है कि अन्य शिल्पियों के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण मिला जुला था लेकिन कम से कम चर्मकार जैसे शिल्पी को सभी लोग हेय समझते थे।

सामान्यतया कुम्भकार के कर्म को समाज में बुरा नही माना जाता था। आजीवक सम्प्रदाय में भी कुम्भकारों की महत्त्वपूर्ण भागीदारी थी तथा उनके बीच इसका विशेष आकर्षण था।[64] लेकिन बुनकर के शिल्प को अच्छा नहीं माना जाता था।[65] लगता है कि हज्जाम भी उपहास का पात्र होता था।[66] ऐसा उल्लेख मिलता है कि उपालि नामक हज्जाम भिक्षु बन गया था, फिर भी भिक्षुणियाँ उसे ऐसे हीन कुल में उत्पन्न निंदित करती थीं, जिसका पेशा लोगों के सिर की मालिश करना और गंदगी को साफ करना है।[67] इससे लगता है कि कुछ शिल्पों को हीन कोटि का मानने की प्रवृत्ति प्रचलित थी। चूँकि ऐसे कार्य विभिन्न वर्ग के शूद्रों द्वारा किये जाते थे, इस लिए कालक्रम से पूरे शूद्रवर्ण के पेशे को कलंकित किया जाने लगा। यह बात दीघनिकाय के एक परिच्छेद से स्पष्ट हो जाती है, जिसमें शूद्रों के कृत्यों का निर्धारण करने में 'लुद्दाचार खुद्दाचार ति' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है।[68] इसका अर्थ यह हुआ कि शूद्र वे हैं जो शिकार और अन्य हीनकर्म द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। प्राचीनपालि ग्रंथों में जिन पाँच हीन जातियों की बार–बार चर्चा हुई है[69] उनमें वेण और रथकार जैसे वे शिल्पी भी हैं जो हमारे शोध विषय में भी महत्त्वपूर्ण हैं। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा था कि वे भिक्षुओं की पूर्व जाति, सिप्प, कम्म आदि का हवाला देकर उन्हें अपमानित न करें और इस प्रकार संघ में भेदभाव उत्पन्न न करें।[70] *इससे इतना स्पष्ट होता है कि बुद्ध भले ही हीनशिल्प और हीन कर्म में विश्वास न करते रहे हों लेकिन तत्कालीन और परवर्ती समाज में, जबकि विनय पिटक जैसे ग्रन्थों की रचना हुई, जन सामान्य में कुछ शिल्पों के प्रति दृष्टिकोण अच्छा नहीं था।*

काष्ठ शिल्प से सम्बंधित शिल्पियों में तक्षक (बढ़ई) के अतिरिक्त एक दूसरा शिल्पी भी हमारे शोध क्षेत्र में सम्मिलित है वेण। वेण शिकार और बाँस का काम करके निर्वाह करती थी। एक परवर्ती जातक में वेणुकार या वेलुकार का वर्णन आया

है जो बाँस काटकर बोझा बनाने के लिए चाकू लेकर जंगल जाता था ताकि उसका व्यापार कर सके।[71] विनयपिटक की टीका में यह उल्लेख मिलता है कि वेण के रूप में जन्म लेने का अर्थ हुआ बढ़ई के रुप में जन्म लेना।[72] *यहाँ उल्लेखनीय है कि विनयपिटक में बढ़ई के काम को भी हीन कोटि का बताया गया है। जब वेण और तच्छक समान अर्थबोधक हैं तो यह बात विचित्र लगती है कि जिस तक्षक को वैदिककालीन समाज में ऊँचा दर्जा मिला हुआ था उसे बौद्धग्रंथों में अधम जाति की कोटि में दिखाया जाए। तक्षक के विषय में तो नहीं कह सकते लेकिन वेणुकारों को बौद्धों द्वारा हीन मानने का एक मुख्य कारण यह हो सकता है कि चूँकि उनका एक काम शिकार करना भी था जिसमें जीवों की हिंसा होती थी और बौद्ध हिंसा के विरोधी थे।*

बौद्ध ग्रन्थों में रथकार को भी अधम जाति का माना गया है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में उसकी सामाजिक स्थिति उच्च कोटि की बतायी गयी है। रथकार नामक शिल्पी की अच्छी सामाजिक स्थिति का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि गृहसूत्रों में उसके उपनयन का भी उपबंध किया गया है।[73] रीज डेविड्स के अनुसार रथकार आदिम ज़ाति के थे।[74] लेकिन यह सही नहीं लगता क्योंकि वैदिककाल में रथकार आर्य विश के अंग थे। किन्तु सम्भव है बाद में कुछ आदिम जातियाँ रथकारों की पंक्ति में सम्मिलित कर दी गयी हों। परवर्ती जातक के एक विवरण के आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि रथकार का सामाजिक स्तर इसलिए गिर गया कि उसने चमड़े से सम्बंधित कुछ कार्य भी करना शुरू कर दिया था।[75] लेकिन रथकार राजा तथा अन्य विशिष्ट लोगों के रथ के पहिये बनाने में संलग्न रहता था।[76] *यहाँ उल्लेखनीय है कि चर्मकार का काम यद्यपि हीन कोटि का माना जाता था फिर भी वह अधम जातियों की सूची में नहीं रखा गया था। बौद्ध ग्रन्थों में रथकार को अधम जाति का मानने का एक कारण प्राय: यह था कि बौद्धों को युद्ध करने से घृणा थी और रथकार युद्ध के लिए रथों का निर्माण करते थे। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तर में अवनयन के बावजूद रथकार चांडाल ओर पुक्कुस के स्तर तक नहीं गिरे थे।*[77] यहाँ उल्लेखनीय

है कि बौद्ध ग्रंथों के विवरण से यह भी पता चलता हे कि निम्न वर्ग के व्यवसायी या शिल्पी जब बौद्धसंघ में प्रवेश ले लेते थे तो उन्हें भी सम्मान मिलने लगता था। सामन्नफलसुत्त के एक प्रसंग के अनुसार महात्मा बुद्ध और मगधनरेश अजातशत्रु के बीच जो बातचीत हुई थी उसके अनुसार अन्य निम्न जातीय व्यवसायियों के साथ नापितों, मालाकारों, धोबियों, बुनकरों, टोकरी–निर्माताओं और कुम्भकारों को भी बौद्धसंघ में आने पर सम्मानित करने की बात कही गयी है।[78]

मौर्य काल में अन्य क्षेत्रों की तरह शिल्प और उद्योग पर भी राज्य का प्रभावशाली नियंत्रण था। कौटिल्य के अनुसार राज्य व्यापार, उद्योग और खान का नियंत्रण तो करता ही है, राजकीय प्रेक्षेत्रों फार्मों का अध्यक्ष दासों और कर्मकारों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए लोहारों, बढ़इयों मिट्टी खोदनेवालों से भी काम लेता है।[79] चूँकि अर्थशास्त्र ब्राह्मण परम्परा का ग्रंथ माना जाता है अतः हम कह सकते हैं कि उसमें शिल्पियों से संबंधित जो सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा निर्धारित की गयी है वह ब्राह्मण ग्रंथों के ढांचे पर निरूपित है। ब्राह्मण ग्रंथों में शारीरिक श्रम वैश्य और शूद्रों के लिए बताया गया है। वैश्य कृषि, व्यापार एवं पशुपालन से तथा शूद्र द्विजों की सेवा से अपनी जीविका चला सकते थे। कौटिल्य ने भी शूद्र वर्ण के कृत्यों का निरूपण करने में धर्मशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार शूद्र की जीविका का निर्वाह द्विजों की सेवा से होता है।[80] लेकिन इसके साथ वे शिल्पियों, नर्तकों, अभिनेताओं आदि का व्यवसाय करके भी अपना निर्वाह कर सकते थे।[81] ये व्यवसाय स्पष्टतया स्वतन्त्र थे और इनमें द्विजों की सेवा करना आवश्यक नही था। उल्लेखनीय है कि सूत्र–ग्रंथों में भी शूद्रवर्ण को शिल्पकर्म में लगकर जीविका चलाने की छूट दी गयी है। सूत्र–ग्रंथों से पता चलता है कि शूद्रों को कला और शिल्प का प्रशिक्षण तो दिया जा सकता था किन्तु उन्हें वेद के अध्ययन से वंचित रखा गया था, जो बहुत कुछ साहित्यिक शिक्षा के समान था। इस तरह धर्म सूत्रों ने शास्त्रीय शिक्षा जो द्विज वर्णों तक ही सीमित थी और शिल्प शिक्षा जो शूद्रों के लिए अभिप्रेत थी– दोनों को पृथक् करने का प्रयास किया।[82] बौधायन के अनुसार जो ब्राह्मण शारीरिक श्रम वाली जीविका

अपनायेगा वह ब्राह्मणत्व खो देगा, अर्थात जो ब्राह्मण पशुपालन करे, व्यापार करके जीविका चलाये, शिल्पी, अभिनेता, सेवक या शूदखोर का काम करे उसके साथ शूद्रवत व्यवहार किया जाना चाहिए।[83] इससे लगता है कि सभी शिल्पी चूँकि शारीरिक श्रम करते थे। इस कारण वे शूद्र के सम्तुल्य माने जाते थे। बढ़ई, लोहार जैसे शिल्पी इसकाल में भी मुख्य रूप से कृषिकार्य से जुड़े थे। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य शिल्पियों को राज्य की ओर से खनन, भंडारपालन, धातुकर्म, आयुधनिर्माण और बुनाई आदि कार्यों में लगाया जाता था।[84] अर्थशास्त्र के दुर्ग निवेश विधान से ज्ञात होता है कि शिल्पी राजमहल के उत्तर में रह सकते थे और मजदूरों के शिल्पी संघो तथा अन्य लोगों को राजधानी के विभिन्न कोणों में आवास स्थान दिये जाएंगें।[85] यह भी कहा गया है कि जो शूद्र और शिल्पी ऊनी तथा सूती वस्त्र, बाँस की चटाई, चमड़ा, कवच, हथियार और म्यान बनाते हैं, उन्हें राजभवन से पश्चिम की ओर निवास स्थान दिया जाना चाहिए।[86] इससे भी लगता है कि शिल्पी की सामाजिक स्थिति शूद्रों से भिन्न नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्पी आम लोगों के साथ अथवा अपने ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी भी करते थें। 'कारूकर रक्षणम्' प्रकरण में इनसे बचने के बहुत से उपाय बताए गये हैं। शिल्पियों के लिए यह आवश्यक है कि वे समय, स्थान और काम के स्वरूप के विषय में किए गए करार की पूर्ति करें।[87] दूसरी ओर कौटिल्य ने शिल्पियों के संरक्षण सम्बंधी कुछ विनियम भी विहित किए है इसके अनुसार शिल्पियों के काम का दर्जा घटाकर या सामानों की खदीद बिक्री में बाधा डालकर उन्हें अपनी उचित कमाई से वंचित करने का प्रयास करेगा, उस पर एक हजार पण जुर्माना लगाया जायेगा।[88]

शिल्पियों के सामाजिक स्तर के विषय में एरियन का वह विवरण भी उल्लेखनीय है जिसके अनुसार किसान शिल्पियों के वर्ग में और शिल्पी किसानों के वर्ग में विवाह नही कर सकते थे।[89] लेकिन कौटिल्य के अनुसार कछ विवाह उच्च वर्ग के लोगों और शूद्रों के बीच भी हुए थे। उन्होंने अन्य वर्णशंकर जातियों के साथ वैश्य और रथकार जैसे शिल्पियों की उत्पत्ति के विषय में सूत्रकालीन सिद्धान्तों की ही आवृत्ति की है।[90] कौटिल्य के अनुसार वैश्य और रथकार के कार्य समान ढंग के

थे।[91] अतएव केवल चांडाल को घृणित जाति माना गया और बौद्ध सूची के रथकारों, वेणों आदि को अधम जाति नहीं माना गया। इससे लगता है कि मौर्यकालीन समाज में बौद्धसाहित्य में वर्णित समाज के विपरीत रथकार और वेणों की स्थिति अच्छी थी।

मौर्यकाल में राज्य की ओर से शूद्रों को बड़े पैमाने पर गुलाम, मजदूर और शिल्पी के रूप में नियोजित किया जाता था। यद्यपि शिल्पियों सहित इन सबकी मजदूरी निर्धारित थी फिर भी इनकी आर्थिक दशा संकट पूर्ण थी। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में शूद्रों के प्रति पुराना भेदभाव बना रहा किन्तु ऐसा लगता है कि कौटिल्य ने उच्च वर्गों के लोगों के शूद्रपुत्रों को अनेक रियायतें दी थीं। वे दास नहीं बनाए जा सकते थे, उन्हें पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा मिल सकता था। यह विशेषाधिकार रथकार और पारशव जैसे लोगों तक सीमित था।[93]

मौर्योत्तर काल में यद्यपि मनु ने इस विचार की पुनरावृत्ति की है कि शूद्रों को शिल्पियों का व्यवसाय तभी अपनाना चाहिए जब सीधे उच्च वर्णों की सेवा से उनकी जीविका नहीं चल सके[94]. फिर भी ऐसा लगता है कि इस काल में शिल्पियों की संख्या तो काफी बढ़ी ही, उनकी परिस्थिति में भी सुधार हुआ। यह बात बढ़इयों, लोहारों, गंधियों, जुलाहों, सुनारों और चर्मकार जैसे शिल्पियों एवं व्यवसायियों द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को उपहारस्वरूप दी गयी अनेक गुफाओं, स्तम्भों, पट्टों, ताबूतों आदि से प्रमाणित होती है।[95] इनके अतिरिक्त उत्कीर्ण लेखों में रंगसाजों, धातु और हाथीदाँत का काम करने वाले दन्तकारों, जौहरियों, मूर्तिकारों और मछुओं के भी कार्य दिखाई पड़ते हैं।[96]

मनु ने स्नातक को जिनका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए, उनकी लम्बी सूची में लोहार, निषाद, अभिनेता, स्वर्णकार, टोकरी निर्माता, शिकारी, कुत्ते पालने वाला, (शौण्डिकी) शराब बनाने और बेचने वाला, धोबी और रंगरेज को सम्मिलित किया है।[97] उनके अनुसार राजा का अन्न खाने से स्नातक का तेज क्षीण होता है, शूद्र का अन्न खाने से विद्या (ब्रह्मवर्चस्) का, स्वर्णकार का अन्न खाने से आयु का और चर्मावकर्त्तिन चर्मकार का अन्न खाने से यश का ह्रास होता है।[98] यह आश्चर्य

की बात है शूद्र समुदाय के विभिन्न वर्गों के अन्न के साथ राजा का अन्न भी स्नातक के लिए अकल्याणकारी बताया गया है। मनु ने यह भी बताया है कि शिल्पियों का अन्न खाने से स्नातक संतानविहीन होता है, धोबी का अन्न खाने से उसका बल घटता है और गण तथा गणिका वेश्या का अन्न उसे परलोक से च्युत करता है।[99]

कारूकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति।।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी प्रसंगों में प्रायः स्नातक का अर्थ है वेद पढ़ाने वाला ब्राह्मण वर्ण का छात्र। यदि इन प्रतिबंधों को लागू किया जाए तो परिणाम होगा नीच जातियों और कतिपय शिल्पियों तथा ब्राह्मणों के बीच सभी प्रकार के सामाजिक सम्पर्क को निषिद्ध करना। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कतिपय शिल्पियों को शिक्षित ब्राह्मण हीन मानते थे और इसी कारण उनका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहते थे। लेकिन इसी क्रम में राजा का अन्न भी ग्रहण करना वे अकल्याणकारी समझते थे, यह बात समझ में नही आती। ये सभी नियम असामान्य स्थिति में मान्य नहीं थे। पतंजलि के महाभाष्य से जो सूचना मिलती है उसके अनुसार बढ़इयों, धोबियों और लोहारों ने जिस थाली में भोजन किया हो, उसे अच्छी तरह साफ करके उसका इस्तेमाल किया जा सकता है।[100]

मनु के अनुसार कुछ संकर जातियों ने महत्त्वपूर्ण शिल्पों को अपनाया। आयोगव ने लकड़ी का काम शुरू किया[101] और धिग्वण तथा कारावर ने चमड़े का[102] एवं पांडुसोपाक ने बेंत के कार्य का पेशा अपनाया।[103] मार्गव या दाश नाविक के पेशे द्वारा जीविका अर्जित करते थे और आर्यावर्त के निवासी उन्हें कैवर्त कहते थे।[104] वेण ढोल पीटने वाले थे।[105] विभिन्न शिल्पों से जुड़े संकर वर्ण के इन लोगों की सामाजिक स्थिति निश्चित रूप से अत्यन्त दयनीय भी। इसकी पुष्टि मनु के उस विवरण से हो जाती है जिसके अनुसार सूत, वैदेहक, चंडाल, मागध, क्षतृ और आयोगव इन्ही जातियों की स्त्री से ऐसी संतान उत्पन्न करते हैं जो और भी अधिक

हेय तथा अपने पिता से भी अधिक अधम समझी जाती है और उसे वर्णव्यवस्था से बाहर रखा जाता है।[106]

मनुस्मृति के एक अन्य विवरण के अनुसार रूपए जिस व्यक्ति के पास जमा किए जाए, उसकी एक योग्यता यह होनी चाहिए कि वह आर्य हो।[107] इससे लगता है कि शूद्र उस योग्यता से वंचित थे। लेकिन पुरातात्विक साक्ष्यों से पता चलता है कि ई0 सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में अनेक शिल्पी संघो के पास धन जमा किए गये थे। उल्लेखनीय है कि अनेक शिल्पी शूद्र समुदाय के थे। ई0 सन् की दूसरी शताब्दी में सातवाहन राज्य में धन कुम्भकारों, तेल मिल के मालिकों[108] और बनुकरों[109] के पास भी जमा किए जाते थे। यह प्रथा बौद्ध उपासकों में प्रचलित थी, जो भिक्षुओं को वस्त्र देने और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रूपए जमा करते थे। ब्राह्मण धर्मावलम्बी भी इन प्रथाओं का अनुसरण करते थे क्योंकि ऐसा उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि हुविष्क के राज्यकाल लगभग 106–138 ई0 में एक प्रमुख ने मथुरा के आटा व्यापारी संघ के पास एक नियत धनराशि जमा की थी, जिसके व्याज से प्रतिदिन 100 ब्राह्मणों को खिलाया जाता था।[110] इन साक्ष्यों से शिल्पियों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति की सूचना तो मिलती ही है। इसके साथ ही उनकी सुधरती सामाजिक स्थिति की भी जानकारी मिलती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे किन्तु उनके विस्तार के साथ–साथ अनेकानेक शिल्प तथा उद्योग धन्धों का भी विकास हुआ। इन उद्योग–धन्धों में लगे रहने के कारण विभिन्न वर्गों का भी उदय हुआ। इस प्रकार विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए लोगों का विभिन्न वर्ग प्रकाश में आया। जब लोगों ने अपने घुमन्तू जीवन को छोड़कर विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों में अपने को लगाया तब अलग–अलग व्यावसायिक एवं शिल्पी संघो का निर्माण हुआ। इनमें कुछ ऐसे पेशेवाले थे जो उच्च थे और कुछ निम्न। निम्न पेशा अपनाने वाले कालान्तर में सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्य माने जाने लगे। जैसे चर्मकार, वेण, पाण्डुसोपाक, रजक, तंतुवाय (बुनकर या जुलाहा) आदि। उल्लेखनीय है कि अस्पृश्यता का संवैधानिक स्तर पर अन्त किए जाने के बावजूद उपरोक्त

शिल्पियों को आज भी कई क्षेत्रों में सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ रहा है। **यह आश्चर्य की बात है कि जिस चर्म शिल्पी द्वारा बनाये गए जूते, चप्पलें, बेल्ट आदि को पहनकर लोग न केवल अपनी आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं अपितु फैशन के प्रतीक भी मानते हैं उस चर्मकार के प्रति भेदभाव करते हुए उसे सामाजिक दृष्टि से निम्न मानते हैं। इसी प्रकार मशीनीकरण के बावजूद कपड़ा निर्माण में संलग्न परम्परागत जुलाहा समुदाय भी समाज में सम्मान का पात्र नहीं माना जाता। जिसके बनाये हुए वस्त्र हमें सर्दी, गर्मी, वर्षा में राहत प्रदान करते हैं और तीन मौलिक आवश्यकताओं रोटी, कपड़ा एवं मकान में से एक कपड़ा की पूर्ति करते हैं वह शिल्पी–बुनकर समाज में सम्मान का पात्र क्यों नहीं हो सकता।**

सन्दर्भ

1. दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया– ए.घोष पृ0 14–15 शिमला 1973।
2. पाणिनि कालीन भारतवर्ष – वी0 एस0 अग्रवाल पृ0 76 वाराणसी, 1969।
3. एंशियन्ट इंडिया, एन इट्रोडक्टरी आउटलाइन – डी0 एन0 झा पृ0 29 नई दिल्ली 1977
4. प्राचीन भारत का इतिहास–डी0 एन0 झा एवं के0 एम0 श्रीमाली पृ0 140 नई दिल्ली 1984
5. प्राचीन भारत में संघटित जीवन – आर0 सी0 मजूमदार (अनु0) के डी0 बाजपेयी पृ0 18 सागर 1966
6. ऋग्वेद 1.163.10
7. ऐतरेय ब्राह्मण 3.30.3।
8. वाजसनेयी संहिता 16,25, पंचविश ब्राह्मण 6–9–25।
9. जातक 6, 427।
10. जातक 2.12 (प्रमुख), जातक 3–281 (कम्मार जेटठक) जातक 3.405 (मालाकार जेट्ठक), जातक 4.161 (बड्ढकि जेट्ठक)
11. जातक 2–18, जातक 4–159, 207।
12. जातक 3–281।
13. जातक 4–158।
14. जातक 4–136।
15. जातक 2–12।
16. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1901 पृ0 865।
17. सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, जिल्द 2 पृ0 – 234।

18. आश्रमवासिक पर्व, अध्याय–7
19. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 248।
20. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 36।
21. दि एज ऑफ इंपीरियल युनिटी (सं.) आर.सी. मजूमदार पु0–604 बम्बई, 1968।
22. अर्थशास्त्र 4–2 (सं) वाचस्पति गैरोला वाराणसी, 1970।
23. अर्थशास्त्र 4–1।
24. अर्थशास्त्र 4.1.10।
25. अर्थशास्त्र 1.1.10।
26. एंशिएन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर–जे.डब्लू मैक्रिंडल पृ0 83–84 एवं 150–151, वेस्टमिंस्टर 1901।
27. प्राचीन भारत में संघटित जीवन–आर.सी. मजूमदार पृ0 26।
28. अर्थशास्त्र – 3.12.18।
29. अर्थशास्त – 3.12.19।
30. एंशियन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीय एण्ड एरियन–जे.डब्लू मैक्रिंडल पृ0 222,282 लंदन 1877।
31. मनुस्मृति 8–219, 8–220।
32. गाइड टु साँची–जान मार्शल पृ. 10 दिल्ली 1936।
33. सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स–डी0सी0 सरकार (द्वि.सं.) पृ0 164 कलकत्ता 1965।
34. सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स–डी0सी0 सरकार (द्वि.सं.) पृ0 164 कलकत्ता 1965।
35. सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स–डी0सी0 सरकार (द्वि.सं.) पृ0 164 कलकत्ता 1665।
36. अर्थशास्त्र 3.12.17।
37. सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स–डी0सी0 सरकार (द्वि.सं.) पृ0 164 कलकत्ता 1965।
38. अर्बन डिके– आर.एस.शर्मा पृ. 132–42 दिल्ली, 1987।
39. अर्बन डिके– आर.एस.शर्मा पृ. 8–9 दिल्ली, 1987।
40. एपिग्रापिया इंडिका जिल्द 21 पृ0 60।
41. गाइड टु साँची – जान मार्शल पृ0 10 दिल्ली (1936)
42. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी– आर.सी. मजूमदार (हि0 अनु0) पृ0 40–43 (चतु0 सं0) बम्बई 1968।
43. केटालॉग ऑन इंडियन क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम – जान एलन लंदन 1936 पृ0 214–16।
44. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया– एन्युअल रिपोर्ट 1911–12 पृ0 – 56।
45. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया– एन्युअल रिपोर्ट 1911–12 पृ0 – 57।

46. रामायण 2.123.5।

47. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, पृ080।

48. भारत का इतिहास – रोमिला थापर पृ0 110 दिल्ली–1975 (सं0 संस्करण 1989)

49. अंगुत्तर निकाय 6 पृ0 372।

50. उवासग दसाओ पृ0 184, ए0एफ. रूडाल्फ हार्नले कलकत्ता 1890।

51. भारत का इतिहास, रोमिला थापर, पृ0 99।

52. ऋग्वेद नवम मंडल 112.3

53. ऋग्वेद नवम मंडल 105.18

54. वाजसनेयी संहिता 30.5

55. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – राम शरण शर्मा पृ0 51 नई दिल्ली, 1992

56. अंगुत्तर निकाय 3 पृ0 363।

57. दीघनिकाय 2.126।

58. उवासगदसाव, पृ0 184।

59. जातक 3, 281।

60. विनयपिटक 4.6।

61. विनयटिक अट्ठकथा पृ0 439।

62. विनयपिटक 4.6।

63. दीर्घनिकाय 1.51।

64. हिस्ट्री एण्ड ड्राक्ट्रिन्स आफ आजीविकाज–ए0एल0 बाशम पृ0 134 लन्दन 1951।

65. लामक कम्म, जातक 1.356।

66. जातक 3–452.53।

67. विनयपिटक 4.308 कसवतो मलमज्जनो निहीन जच्चो।

68. दीघनिकाय 3.95।

69. मज्झिमनिकाय 2.183–84, 3.169–78।

70. विनयपिटक 4.4–11।

71. जातक 4 पृ0 251।

72. जातक 5 पृ0 306 वेणजाति ति तच्छक जाति।

73. बौधायन गृह्यसूत्र 2.5.6, 2.8.5

भारद्वाज गृह्यसूत्र 1.1 वसन्ते ब्राह्मणमुपनीत.....वर्षा रथकारं शिशिरे वा।

74. डायलाग्स ऑफ दि बुद्धं – रीजडेविड्स.... भाग एक पृ0 100।

75. जातक 6.51।

76. अंगुत्तर निकाय पृ0 111–113

77. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा, पृ0 120
78. दीघनिकाय 1.51, 1.60।
79. अर्थशास्त्र 2.14
80. अर्थशास्त्र 1.3
81. अर्थशास्त्र 1.3
82. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – रामशरण शर्मा पृ0 115
83. बौधायन धर्मसूत्र एक–5.10.24, वशिष्ट धर्मसूत्र दो–27।
84. अर्थशास्त्र 2.12–23
85. अर्थशास्त्र 2.4
86. वही, ततः परपूर्णासूत्र वेणुचर्म वर्म शस्त्रावरणकारवः शूद्राश्च पश्चिमम् दिशमधिवसेयुः।
87. अर्थशास्त्र 4.1
88. अर्थशास्त्र 4.2
89. इंडियन एंटीक्वेरी (बम्बई) 4 पृ0 92।
90. अर्थशास्त्र 3.7
91. अर्थशास्त्र 3.7
92. अर्थशास्त्र 3.7, 2.44
93. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – आर.एस.शर्मा, पृ0 167।
94. मनुस्मृति .99, 100
95. लूडर्स लिस्ट, सं0 53, 54, 68, 76, 95 आदि।
96. लूडर्स लिस्ट, सं0 32, 53, 54, 345, 857, 1005, 1092, 1129।
97. मनुस्मृति – 215–16।
98. मनुस्मृति – 218
99. मनुस्मृति – 219
100. पतंजलि आन पाणिनीज ग्रामर II 4.10
101. मनुस्मृति X . 48
102. मनुस्मृति X . 36,49 उल्लेखनीय है चर्मकार, धिग्वण तथा कारावर चमड़े से जुड़े तीन महत्वपूर्ण शिल्पी थे।
103. मनुस्मृति X . 37
104. मनुस्मृति X . 34
105. मनुस्मृति X . 49
106. मनुस्मृति X . 31

107.मनुस्मृति VIII . 179

108.लूडर्स लिस्ट, सं. 1127

109.लूडर्स लिस्ट, सं. 1133

110. एपिग्राफिया इंडिका, कलकत्ता और दिल्ली XXI , इंसक्रिप्शन नं0 10।

उपसंहार

प्राचीन भारतीय संस्कृति अपनी विशिष्टताओं के कारण आज भी अक्षुण्य है। इन विशिष्टाओं मे से एक है आध्यामित्कता। इसमें संदेह नहीं है कि धर्म और दर्शन पर विशेष बल देने के कारण भारतीय संस्कृति आध्यात्मोन्मुख रही है परन्तु साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्जक जीवन और उसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे। करीनेदार नगर, सुसज्जित महल, मंत्रियों, अंगरक्षकों और विद्वानों से युक्त राजदरबार वादक और नर्तक, विविध प्रकार के परिधान एवं वेश–भूषाएं, प्रसाधन के लिए अनेक प्रकार के आभूषण और गंध द्रव्य, धातु तथा काष्ठ निर्मित दैनिक प्रयोग की वस्तुएं एवं विविध प्रकार की आयुध सामाग्री ये सब भी तो भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक थे। प्राचीन भारतीय चिन्तकों को सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों में अस्थिरता भले ही दिखलायी पड़ी हो, लेकिन सांसारिकता में पड़े हुए जनसाधारण के लिए तो सभ्यता के ये प्रतीक सत्य और सुन्दर दिखलायी पड़ते थे। सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों से नीरस इतिहास को सरस बनाय जा सकता है।

सभ्यता के निरन्तर विकास के साथ उसके विविध पहलुओं में बदलाव आया। शिल्प एवं उद्योग इसका अपवाद नहीं हो सकते। शिल्प एंव उद्योग का जो स्परूप आज है, वह निश्चित रूप से पहले की तुलना में काफी भिन्न है। शिल्प एवं उद्योग काल विशेष के भौतिक जीवन पर तो प्रकाश डालतें ही हैं साथ ही सामाजिक जीवन स्तर के विषय में भी जानकारी देतें है। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग (600 ई0 पू0 से 100 ई0 तक)का क्या स्परूप था, उससे जुड़े लोगों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति कैसी थी इसी जिज्ञासा से मैनें प्रस्तुत शोध शीर्षक–"प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग" (Crafts and Industies in North India During Early Historic Period) का चयन किया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग के अध्ययन के प्रयास में हमारे द्वारा लगभग ई0पू0 छठी शदी ई0 पू0 से प्रथम शताब्दी ई0 तक के काल खण्ड को चयनित करने का कारण यह है कि इसी काल में भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के शिल्पियों की भूमिका के प्रमाण स्पष्ट एवं बड़ी संख्या में प्राप्त होते है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि ई0पू0 छठी शती से प्रथम शताब्दी ई0 तक का काल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सिर्फ इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं था कि इस काल में पूर्वकाल की तुलना में आधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है बल्कि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के दृष्टि से भी यह काल पहले की अपेक्षा प्रगतिशील रहा है।

मैनें अपने शोध प्रबन्ध को यथा सम्भव वैज्ञानिक तटस्थता से युक्त और मौलिक बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु अपने विषय के सन्दर्भ में दूसरों से अपनी भिन्नता और मौलिकता स्पष्ट करते हुए अपने शोध कार्य से पूर्व किये गये शिल्प एवं उद्योग सम्बंधी अध्ययन का संक्षेप में परिचय दिया गया है। जहाँ तक मुझे जानकारी है शिल्प एवं उद्योग पर उक्त काल खण्ड में स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं किया है। जो ग्रन्थ लिखे भी गये है उनमें स्फुट रूप से ही शिल्प एवं उद्योग सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया है, लेकिन ऐसे स्फुट विवेचन शिल्प और उद्योग का न तो समग्र अध्ययन प्रस्तुत करते है और न ही यह उनका उद्देश्य रहा है। इसके साथ मैं यह स्पष्ट करना चहाता हूँ कि अभी तक प्रस्तुत शोध विषय से सम्बंधित जो भी कार्य हुआ है, उसकी समीक्षा करना तथा जो कार्य शेष है उसे यथा सम्भव पूरा करना हमारे शोध का लक्ष्य है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में तर्कशास्त्र की प्रचलित दो विधियों–आगमन और निगमन के आधार पर साक्ष्यों के विवेचन करने का प्रयास किया गया है। इसमें नवीन खोज कार्य करने का उतना आग्रह नहीं है जितना कि जो कार्य हो गया उसके विवेचन और विश्लेषण करने का।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को निम्नलिखित अध्यायों में बाँटकर अध्ययन किया गया है–

1. अध्ययन क्षेत्र का भौगोलिक परिचय तथा शिल्प एवं उद्योग का अर्थ और परिभाषा।
2. राजनीति एवं सामाजिक स्थिति।
3. शिल्पियों का विवरण।
4. धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग।
5. मृतिका, प्रस्तर एवं काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग।
6. वस्त्र, चर्म तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग।
7. शिल्पी संगठन और उनकी सामाजिक स्थिति।

प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसमें शोध अवधि 'प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल' का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में शिल्प एवं उद्योग के अर्थ और उसकी परिभाषा पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि प्राचीनकाल के उद्योग वर्तमान उद्योगों से किस प्रकार भिन्न थे।

सिन्धु–गंगा मैदान का वह समस्त भूभाग हमारे शोध क्षेत्र में आता है जो भारतीय सीमा में है। इसमें पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश का उत्तरी भाग और बिहार के क्षेत्र सम्मिलित किये गये है। इतिहासकारों ने उत्तर भारत को जिस प्रकार स्वीकार किया है, उत्तर भारत की वही सीमा हमारे शोध की सीमा है। छठी शती ई0पू0 में उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकारों ने जिन महाजनपदों एवं गणराज्यों का उल्लेख किया है उनमें अश्मक को छोड़कर शेष उत्तर भारत में ही स्थित थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि गंधार और कम्बोज के भू–भाग सम्प्रति पाकिस्तान के अंग बन चुके है लेकिन प्रसंगानुसार उन्हें भी अपने अध्ययन क्षेत्र में स्थान दिया गया है।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल का आरम्भ बिन्दु छठी शताब्दी ई0पू0 को माना गया है जबकि अन्तिम बिन्दु प्रथम शताब्दी ई0 को भी हमने अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से माना है। भारत का सांस्कृतिक इतिहास यद्यपि प्राचीन है लेकिन राजनीतिक इतिहास अनेक कारणों से छठी शताब्दी ई0पू0 से आरम्भ माना

जाता है जैसे छठी शताब्दी ई0पू0 का अनेक कारणों से वैशिष्ट्य है वैसे ही प्रथम शताब्दी ई0 भी कई कारणों से महत्वपूर्ण है। उक्त कारणों के आलोक में हमने प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के अर्न्तगत 700 वर्षों (600 ई0पू0 से 100 ई0 तक) का समय सम्मिलित किया है।

शिल्प और उद्योग शब्दों का साथ–साथ प्रयोग होने के बावजूद दोनों में पर्याप्त अन्तर है। शिल्प शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में दो प्रमुख रूपों में मिलता है। प्रथम अर्थ में ललित कलाओं के लिए तथा द्वितीय अर्थ में कौशल एवं विशिष्टता लिए हुए कारीगर के कलात्मक कार्य के अर्थ में शिल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। प्राचीन साहित्य में शिल्प एवं उद्योग को पृथक्–पृथक् परिभाषित नहीं किया गया है और न ही उनकी पृथक्–पृथक् सीमाएं निर्धारित की गयी है। आधुनिक काल में शिल्प और उद्योग में मूल अन्तर यह है कि शिल्प की तुलना में उद्योग में अधिक पूंजी एवं श्रम के प्रयोग से बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य होता है। प्राचीन भारत के सन्दर्भ में भी इस आधार पर मौर्य और मौर्योत्तर काल में अन्य शिल्प की तुलना में प्रस्तरकारी, ईंट निर्माण आदि में बड़े पैमाने पर कार्य होता था। अतः इन्हें हम उद्योग की श्रेणी में रख सकते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में शिल्प की जो परिधि बतलायी गयी है उसके बाहर शायद ही कोई विनिर्माण कार्य आता हो। अतः अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर होने वाले विनिर्माण कार्य को उद्योग की श्रेणी में रख सकते हैं। उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल प्राक्–मशीन काल था। इसलिए शिल्प एवं उद्योग पूरी तरह शारीरिक श्रम पर आधारित थे। इसी अध्याय में हमने प्राचीन काल के उद्योगों के सन्दर्भ में वर्तमान काल के उद्योगों के बदलते मानदण्डों का भी संक्षिप्त विवरण दिया है।

द्वितीय अध्याय में तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। वैदिक कालीन जन किस तरह बड़े जनपदों में और जनपद महाजनपदों में परिवर्तित होते हुए बड़े राज्यों एवं गणराज्यों का रूप ग्रहण किये, मगध किस तरह सब पर भारी पड़ा और फिर मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई और उसके बाद शुंग–सातवाहनों की सत्ता स्थापित हुई। यही नहीं पारसीक,

मेसीडोनियन, इण्डोग्रीक, शक–पह्लव और कुषाण जैसे विदेशी आक्रान्ताओं ने किन परिस्थितियों में भारत पर आक्रमण किया और उनमें से कुछ ने तो भारत में दीर्घावधि तक शासन कैसे किया, इन सबका भी संक्षेप में विवरण दिया गया है। साम्राज्यों के उत्थान–पतन से शिल्प और उद्योग किस प्रकार प्रभावित हो रहे थे, इसका अध्ययन भी इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। उल्लेखनीय है कि राजनैतिक स्थिरता से वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग को बढ़ावा मिलता है औरा अस्थिरता का विपरीत प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी राज्य स्वयं शिल्प एवं उद्योग को अपने नियंत्रण एवं निर्देशन में विकसित करता था। जैसे अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि राज्य स्वयं अनेक उद्योगों का नियंत्रण करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य व्यापार, उद्योग और खान का नियंत्रण तो करता ही है, राजकीय प्रक्षेत्रों (फार्मो) का अध्यक्ष दासों और कर्मकरों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए, लोहारों, बढ़इयों और मिट्टी खोदने वालों से भी काम लेता है। अर्थशास्त्र में आकराध्यक्ष, लोहाध्यक्ष और कुप्पाध्यक्ष जैसे बड़े अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। आकराध्यक्ष का काम खनिज विज्ञान विशारदों और खनकों तथा आवश्यक यन्त्रों की सहायता से राज्य भर की खानों को देखना और उनमें कार्य कराना था। लोहाध्यक्ष ताँबा, सीसा, रांगा, वैकृन्तक (पारा), पीतल, कांसा और ताल आदि उत्पादन और उनसे पैदा होने वाली चीजों की देख–रेख करता था। कुप्याध्यक्ष जंगलों की देखभाल और उनकी सुरक्षा करता था और सब प्रकार की काठ की ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था करता था जो जीवन और दुर्ग रक्षा के निमित्त आवश्यक थी। इससे सम्बद्ध एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग पोत निर्माण का था जो कि बहुत बड़े पैमाने पर होता था। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य काल में राज्य का अनेक उद्योगों पर एकाधिकार था। आधुनिक शब्दावली में खानों, शस्त्रों, जंगलों, नमक तथा अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया था। इसके अतिरिक्त राज्य के न केवल कपड़े, तेल और चीनी के अपने कारखाने और मिले थीं बल्कि उसका निजी व्यापार और उद्योगों पर भी बहुत अंशो तक नियंत्रण था।

कनिष्क प्रथम के शासनकाल में कुषाण साम्राज्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति थी। उस समय उसके पूर्व में चीन का 'स्वर्गिक साम्राज्य' था। इसके पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य था और पार्थियन साम्राज्य से रोमन साम्राज्य की शत्रुता थी। रोमन एक ऐसा मार्ग चाहते थे जहाँ से रोम और चीन के बीच व्यापार शत्रु देश पार्थिया से गुजरे बिना हो सके। इसलिए वे कुषाण साम्राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने के इच्छुक थे। महान् सिल्क मार्ग पर कुषाण साम्राज्य का नियंत्रण था। परिणाम स्वरूप कुषाणों के समय में पश्मोत्तर भारत उस समय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। इससे शिल्प एवं उद्योगों को बढ़ावा मिला। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी पता चलता है कि कुषाणकालीन भारत अत्यन्त समृद्ध था।

राजनीति के साथ–साथ बदलती सामाजिक स्थिति का भी शिल्प और उद्योग पर प्रभाव पड़ा। ई0पू0 छठी शताब्दी से ई0 सन् की प्रथम शताब्दी तक का काल प्राचीन भारतीय राजनीति, समाज, अर्थ व्यवस्था और धर्म प्रत्येक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ ऐतिहासिक प्रथम मगध साम्राज्य की स्थापना हुई वहीं धर्म के क्षेत्र में महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के कांतिकारी अहिंसक उपदेश इस काल में सुनायी पड़े। ऐसे ही प्राचीन भारतीय समाजार्थिक जीवन के मूलाधार और विशेषताएं इसी काल में अपने रूप ग्रहण किये। एक ओर सैन्धव नगर सभ्यता और दूसरी ओर प्राचीन वैदिक साहित्य में जो धर्म प्रधान एवं ग्रामीण जनता की झलक मिलती है, इन दोनों सभ्यताओं की नींव पर प्रतिष्ठित एवं विकसित तत्कालीन प्राचीन भारतीय समाज एवं सभ्यता का स्वरूप इसी काल में स्पष्ट हुआ। जन से जनपद और जनपद से महाजनपदों का उत्कर्ष हो चुका था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था धीरे–धीरे जाति व्यवस्था की तरह अग्रसर हो रही थी। यद्यपि वैदिक काल में व्यापार एवं उद्योग के प्रति कुछ अनादर की भावना परिलक्षित होती है जैसे पणियों को सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन ई0पू0 छठी शताब्दी तक आते–आते इस दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। अब शिल्प और उद्योग को समाज में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। नगर–सभ्यता के पुनरुत्थान के प्रमाण भी सुस्पष्ट है। औद्योगिक और

व्यापारिक जीवन श्रेणियों के आधार पर संगठित होने लगे थे। आर्थिक जीवन में मुद्रा की भूमिका उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण होती जा रही थी । तत्कालीन समाज में इन गम्भीर परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक काल से ही नये–नये उद्योग–धन्धों के विकास के कारण विभिन्न प्रकार के शिल्पी समूहों के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी और परिणामस्वरुप शिल्प एवं व्यवसाय पैतृक होते गये जो समाज में अलग–अलग जातियों की उत्पत्ति में एक सहायक कारक सिद्ध हुए। इस तरह हम कह सकते है कि जातियों–उपजातियों तथा विभिन्न शिल्पी एवं पेशेवर समूहों की उत्पत्ति के प्रमुख आधारों में रक्त और भोजन की शुद्धता, क्षेत्रीयता के अलावा विभिन्न प्रकार के शिल्प एवं उद्योग तथा पेशों की शुद्धता को एक प्रबल आधार के रुप में स्वीकार किया जा सकता है।

अध्याय तीन में महत्वपूर्ण शिल्पियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। वैदिकोत्तर समाज में बढ़ते नगरीकरण और तीव्र आर्थिक विकास के साथ ही साथ शिल्प और उद्योग का भी न केवल और अधिक विकास हुआ अपितु उनमें विविधता और विशिष्टता भी आयी। शिल्प का क्षेत्र व्यापक मानते हुए संगीत और ललितकलाओं को भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया। कौशीतकी ब्राह्मण में नृत्य और गीत को भी शिल्प के अर्न्तगत रखा गया था। ऐसे ही बौद्ध ग्रन्थों में भी नट, लंघक आदि की कलाकारी को भी सिप्प (शिल्प) में सम्मिलित किया गया था। शिल्पियों के सम्बन्ध में पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी व्याकरण ग्रन्थ होने के बावजूद बहुत सी अन्य बातों का भी प्रामाणिक स्रोत है। इसमें शिल्प और उससे सम्बद्ध लोगों (शिल्पकारों) के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति मूलक जानकारी मिलती है। अष्टाध्यायी में शिल्पी शब्द 'चारु शिल्पी' और 'कारुशिल्पी' दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायक, वादक जिस नृत्य संगीत की साधना करते हैं उस ललित कला को भी उस समय शिल्प कहा जाता था लेकिन इन शिल्पियों को मैंने अपने शोध विषय में सम्मिलित नहीं किया है। अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य में उल्लिखित अन्य शिल्पियों में कुलाल, तक्षा, धनुष्कार, रजक, अयस्कार, कर्मार, मूर्तिकार, स्वर्णकार, खनक, तन्तुवाय, चर्मकार, नगरकार

(राजगीर), कटकार, रज्जुकार विशेष महत्वपूर्ण है। इन सभी शिल्पियों की तत्कालीन अर्थव्यवस्था, वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प और उद्योंग में विशिष्ट भूमिका को देखते हुए मैनें इन्हें अपने शोध का विषय बनाया है। इन शिल्पियों का विवरण देते समय उनकी तुलना वर्तमान शिल्पियों से की गयी है। जैसे तक्षा या बर्द्धकि नामक शिल्पी का उल्लेख करते समय यह बताया गया है कि प्राचीन काल में तक्षा दो तरह के होते थे–ग्राम तक्षा और कौटतक्षा। जो बढ़ई अपने घर पर अथवा अपने छोटे (आसन) पर बैठे–बैठे कार्य करता था और लोग उसके पास आकर कार्य कराते थे, वह कौटतक्षा कहलाता था जबकि मजदूरी (भृत्ति) पर गाँव में जाकर घूम–घूम कर काम करने वाला बढ़ई ग्राम तक्षा कहलाता था। इनमें कौटतक्षा का अपेक्षाकृत अधिक सम्मान था। ग्राम तक्षा जो गाँव में सभी निवासियों के लिए काष्ठ कार्य करता था और आवश्यकतानुसार उनके घर पर जाकर भी मरम्मत और नव निर्माण करता था उसे वर्ष में एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित मात्रा में अन्न राशि मिलती थी। **उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत के अधिकांश ग्रामों में बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, जैसे शिल्पकारों (इन्हें कुछ जगह 'प्रजा' भी कहा जाता है) को वर्ष में एक या दो बार उनकी सेवाओं के बदले निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता है जिसे कुछ क्षेत्रों में 'तिहाई' कहा जाता है। ऐसे क्षेत्रों में शोधकर्ता का गृह जनपद गोण्डा अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जा सकता है।** कौटतक्षा का समीकरण आजकल के नगरों में स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाले काष्ठ शिल्पियों से किया जा सकता है जो अपनी दूकान पर बैठकर कार्य करते हैं और किये काम के लिए उचित नकद राशि लेते हैं। प्राचीन भारत में आज की तह प्रत्येक ग्राम में एक बढ़ई का भी घर होता था और किसी–किसी ग्राम में एक से अधिक भी होता था। इसी तरह अन्य शिल्पियों का भी इस अध्याय में तुलनात्मक परिचय दिया गया है।

अध्याय चार में धातुओं पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। धातु से सम्बंधित शिल्प एवं उद्योगों में लौह, ताम्र, कांस्य, टिन, जैसी दैनिक उपयोग की धातुओं के साथ ही साथ सोना, चाँदी जैसी बहुमूल्य

धातु से सम्बन्धित शिल्पकारों में लोहार सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिल्पी था। भारत में लौह उद्योग की प्राचीनता विवादास्पद रही है लेकिन अधीतकाल में लोहे की भूमिका लगभग प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो गयी थी, इसमें सन्देह नहीं है। लोहे का प्रयोग किन–किन क्षेत्रो में किस प्रकार होता था और लौह उपकरण बनाने की प्रक्रिया और विधि क्या थी, इन सबका अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। साहित्य के अलावा पुरातत्व से भी इस अवधि में लोहे के विविध प्रयोग की सूचना मिलती है। उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में अधिकांश क्षेत्रों में यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र परम्परा के काल में लगभग 1000 ई0पू0 में हो गया था लेकिन एन0बीपी0 काल में लोहे के व्यापक स्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं जिससे लौह अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणें के बड़े पैमाने पर उपयोग से लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। प्रमुख लौह उपकरणों में वाणफलक, भाले के शीर्ष, वल्लम शीर्ष, बर्छी, कटार, चाकू, हँसिया, खुरपी–कीलें, बसूला, छेनी, कड़ाही तथा दीपक आदि हैं। उत्खनन से प्राप्त लौह धातुमल, धातुविगलन का संकेत देते हैं। खेती के कार्यो विशेषकर जुताई के कार्य में लोहें के बने हुए फालों के प्रयोग से गांगेय क्षेत्र की चूने से युक्त कड़ी जलोढ़क मिट्टी पर कृषि कार्य अधिक आसान हो गया है। लोहे के बर्मे (Drills) बसूले (Adzes), छेनियों एवं रूखानियों के निर्माण से विभिन्न शिल्पकार्यों विशेषकर लकड़ी की वस्तुओं के बनाने में विशेष प्रगति हुई। लोहे की लोकप्रियता के कारण ताँवें का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित होता गया। ताँबे का प्रयोग अब सिक्कों के निर्माण, अजंन, शलाकाओं खिलौनों, मुद्रिकाओं (Rings) मथा मनकों आदि के बनाने में किया जाने लगा। ये सब उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के साथ मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा की तिथि अधीतकाल के सीमा के अन्तर्गत ही आती है।

आभूषणें के प्रति मनुष्य का आकर्षण आदिकाल से ही रहा है। धातुओं के विषय में जैसे–जैसे जानकारी बढ़ती गयी उसकी गुणवत्ता और मांग के अनुसार

कीमतें भी बढ़ती गयी। कुछ धातुएं जो सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं, उनकी गुणवत्ता भी अधिक होने के कारण निरन्तर अधिक मूल्यवान होती गयी। यही कारण है कि सोना, चाँदी जैसी धातुएं बहुमूल्य धातुओं के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दू परम्परा में आनुष्ठानिक उद्देश्य से कतिपय धातुओं की पवित्रता का क्रम निर्धारित किया गया है जैसे सोना, तांबा, चांदी और लोहा। सौन्दर्य प्रेमी होने के कारण स्त्री–पुरुष दोनों अपने शरीर को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अलंकारों का भी प्रयोग करते रहे हैं। मनुष्य की यह सौन्दर्यप्रियता, प्रागैतिहासिक काल से ही रही है। मध्य गंगा घाटी में प्रतापगढ़ जनपद में स्थित मध्य पाषाणिक पुरास्थल से किसी विशिष्ट पुरुष कंकाल के साथ मनके के आभूषण मिलना निश्चित रूप से आभूषणें के प्रति मनुष्य के आकर्षण का एक प्रमाण माना जा सकता है। हड़प्पा और मोहन जोदड़ो के लोग मनके और ताबीज पहनते थे जो सीप की गुरिया के बने होते थे लेकिन धनिकों के आभूषण सोने और चाँदी के बने होते थे। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि स्त्री–पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। वैयाकरण पाणिनि ने सुनारों की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है–निष्टपति सुवर्णनम् (निसस्तपतावना से वने) इस वाक्य का ठीक अर्थ यह है– 'वह सोने की आँच में केवल एक बार तपाता है,' इसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार समझनी चाहिए। अपनी भट्ठी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहकों का काम निपटाता है। पहले वे जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना–चाँदी लाते हैं। दूसरे वे जो पुराने आभूषण लाकर देते है कि उन्हें गलाकर फिर नये गहने बनाये जाय। इन दोनें के सोने को लेकर वह उसे बार–बार तपाता और पीटता या बढ़ाता है उसके लिए भाषा का प्रयोग 'निस्तपति सुवर्णम्' था। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिए नहीं बल्कि सफाई और चमकाने के लिए जाते हैं। सुनार उन्हें लेकर एक बार अग्नि में तपाता है और रगड़कर या बुझाकर उन्हें फिर नए जैसा चमकीला कर देता हैं। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही भाषा में निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकारः' प्रयोग चलता था।

इसी प्रकार स्त्री–पुरुषों द्वारा धारण किये जाने वाले विविध प्रकार के रत्न जड़ित आभूषणों, उनके निर्माण की विधियों और सोने–चाँदी ताँबे तथा रत्नों एवं उपरत्नों जैसे कच्चे माल के स्रोतों का भी अध्ययन इस अध्याय में किया गया हैं विविध प्रकार की धातुओं, जैसे– लोहा, ताँबा, कांसा, सोना, चाँदी आदि के बने विविध प्रकार के उपकरण एवं आभूषण आदि तक्षशिला से बड़ी मात्रा में मिले हैं जिनका इस अध्याय में विस्तार से विवरण दिया गया है।

यहाँ मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि तक्षशिला अब पाकिस्तान में है जो शोध शीर्षक की दृष्टि से हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर है लेकिन यहाँ तक्षशिला के पुरावशेषों के विश्लेषण में अधिक बल दिया गया है। इसका कारण यह है कि तक्षशिला की तरह भारत में स्थित मथुरा जैसे नगर भी मौर्यकाल से लेकर कुषाणों के समय तक साथ–साथ ही एक ही सत्ता द्वारा प्रशासित थे और सम्भवतः शिल्पगत विशिष्टीकरण सुदूर पश्चिमोत्तर से लेकर उत्तर भारतीय नगरों तक एक ही जैसा रहा होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि तक्षशिला के अलावा किसी भारतीय नगर से ताँबे, कांसे तथा अन्य धातुओं के पुरावशेष प्राप्त ही नहीं हुए हैं। ताँबें और कांसे के पुरावशेष भारत के अन्य कई स्थानों से मिले हैं लेकिन दुर्भाग्यवश वे न तो सूचीबद्ध किये जा सके हैं, न ही उनका सादृश्य स्थापित किया जा सका है और न ही उनका विश्लेषण किया गया है। शोधकर्त्ता के अनुसार इस क्षेत्र में बहुत कुछ कार्य किया जाना बाकी हैं

अध्याय पाँच में मृत्तिका, प्रस्तर एवं काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का अध्ययन किया गया हैं। साहित्य एवं पुरातत्व दोनों से ही प्राचीन भारत में मृत्तिका, प्रस्तर और काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योगों के प्रचलन की सूचना मिलती है। मृत्तिका शिल्प से जुड़े वर्ग के लोगों को 'कुलाल' कहा जाता था जिन्हें आज कुम्हार या कुम्भकार कहा जाता है। साहित्यिक परम्परा में इस वर्ग के विकास के बारे में सूचना वैदिक साहित्य से ही मिलने लगती है; किन्तु मिट्टी पर आधारित शिल्प एवं उद्योग पहले से ही उन्नत था, इसमें सन्देह नहीं हैं। भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही मिट्टी के बर्तनों का निर्माण होने लगा था। इस सन्दर्भ में बागोर

(भीलवाडा–राजस्थान), आदमगढ़ (होशंगाबाद मध्य प्रदेश), भीम बैठका (रायसेन–मध्य प्रदेश), लेखहिया (मिर्जापुर–उत्तर प्रदेश) और चोपनी माण्डो (इलाहाबाद–उत्तर प्रदेश) जैसे मध्यपाषाणिक पुरास्थलों का उल्लेख किया जा सकता है जहाँ से मृदभाण्डों, के बहु संख्यक टुकड़े मिले हैं, यह बात दूसरी है कि वे अनगढ़, बेडौल और हस्त निर्मित हैं। साहित्य में ऋग्वैदिक काल से ही कुम्भ और उसके विभिन्न प्रयोगों के बारे में जानकारी मिलने लगती है। 'शतं कुंभान असिचतं सुरायाः' 'शतं कुंभान असिचतः मधूनाम्' और 'हिरण्यस्य इव कलशं' आदि पदावलियों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में मिट्टी के बत्रनों का न केवल निर्माण हो रहा था अपितु इनका दैनिक जीवन में विविध प्रयोग भी होता था।

इस अध्याय में मिट्टी के बर्तनों, खिलौने, ईंटों और मूर्तियों आदि के निर्माण की प्रक्रिया एवं विधियों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया हैं। इसके साथ इस उद्योग की वर्तमान अवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। उल्लेखनीय है कि मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुम्भकार आज भी अपनी शिल्पकारी के लिए प्रसिद्ध हैं। बढ़ते नगरीकरण एवं व्यावसायीकरण से मृत्तिका शिल्प एवं उद्योग भी अछूता नहीं रहा। यही कारण है कि इस उद्योग से जुड़े लोगों के आकर्षण के केन्द्र नगर बनते गये। गाँव हो या नगर मिट्टी के बर्तन बनाने वाले लोग अपने घर और उसके पास स्थित खुले क्षेत्र में मिट्टी के बर्तन बनाने का कार्य वर्ष भर करते हैं लेकिन गर्मी के दिनों में मिट्टी के बर्तनों की मांग बढ़ जाती है। बर्तनों के अतिरिक्त गर्मी में ये लोग मकानों के छाजन के लिए खपड़े भी बनाते हैं। यही नहीं फूल–पौधे और वनस्पतियाँ लगाने के लिए गमले बनाने का भी कार्य यही करते हैं। **यहाँ उल्लेखनीय है कि धातु विशेषकर स्टेनलेस स्टील के बर्तनों के प्रचलन, कूलर, फ्रिज एवं वातानुकूलित यंत्रों के प्रसार तथा प्लास्टिक एवं फाइबर की वस्तुओं के अधिकाधिक उपयोग से मृतिका शिल्प एवं उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस उद्योग से जुड़े लोग अपनी जीविका के लिए अन्य व्यवसाय अपनाने के पक्ष में है। इस सन्दर्भ में सलोरी, इलाहाबाद के चन्द प्रकाश प्रजापति और धन नगर, गोण्डा के**

जगराम प्रजापति ने शोधकर्त्ता से साक्षात्कार में बताया कि प्लास्टिक एवं फाइबर की तस्तरियाँ एंव गिलास के प्रचलन से उनके परम्परागत व्यवसाय–कुम्भकारी की कमर टूट गयी हैं। हाल हीं में रेलमंत्रीं, भारत सरकार द्वारा रेलवे स्टेशनों एवं ट्रेनों में प्लास्टिक गिलास के स्थान पर मिट्टी के कुल्हड़ों, के अनिवार्य रूप से प्रयोग करने कीं घोषणा से इस उद्योग को राहत मिलीं है।

मिट्टी के अलावा इस अध्याय में प्रस्तर एवं काष्ठ उद्योग का भी विवेचन किया गया हैं। प्रस्तर उद्योग के अन्तर्गत उपकरणों, भवनों एवं मुहरों, सिल–लोढ़े और बांटों के निर्माण में प्रस्तर की भूमिका और इससे जुड़े शिल्पियों की कार्य कुशलता पर साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रस्तर उपकरणों का निर्माण आदि मानव के जीवन का सबसे क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यह उसकी प्रकृति पर सर्व प्रथम विजय थी। शारीरिक रूप से प्रायः सभी जानवरों से कमजोर होने पर भी इन अशरीरी अवयवों (उपकरणों) द्वारा ही वह अपने से अधिक विशालकाय तथा शक्तिशाली जीवों से अपनी प्रतिरक्षा करने में न केवल समर्थ रहा अपितु उन पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सका। ऐतिहासिक काल में बौद्ध ग्रन्थों में महासिलाकण्टक और रथमूसल जैसे हथियारों (युद्ध–यन्त्रों) के विषय में जानकारी मिलती है जिनका प्रयोग अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों के विरुद्ध किया था। **महासिलाकण्टक सम्भवतः वह यन्त्र होता था जिसके द्वारा बड़े–बड़े पत्थरों को भीड़ पर फेका जाता था। इसी प्रकार रथमूसल एक प्रकार का रथ होता था जिसमें गदा लगी होतीं थीं। रथ जिस ओर से होकर गुजरता था गदा उसी ओर सैकड़ों का काम तमाम कर देतीं थीं। प्राचीन रथ मूसल की तुलना आजकल के युद्धों में प्रयोग किये जाने वाले टैंकों से कीं जा सकतीं है। चूँकि उस समय बारूद तथा अन्य विस्फोटकों का प्रचलन नहीं था। अतः इस बात कीं सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि रथमूसल और महासिलाकण्टक जैसे यन्त्रों से पत्थर के प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा होगा।** इसके अतिरिक्त सिल बट्टे, चक्की, मूसल जैसे दैनिक उपयोग की वस्तुएं पत्थर से बनती थी और

इसके बनाने वालों का एक पेशेवर समूह होता था जिसे 'पाषाण कुट्टक' कहा जाता था। *अन्न पीसने वाली चक्की के पाट के पुरातात्विक साक्ष्य भी उपलब्ध है जिसकी प्राचनीता प्रागैतिहासिक है और मुख्य बात यह है कि आज के वैज्ञानिक युग में भी मशीनों से चलने वाली आटा चक्कियों के पाट भी पत्थर के बनाये जाते हैं। अन्तर केवल तकनीकी कौशल का है। प्रस्तर शिल्पी को उत्तर भारत के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में 'पथर कट्ट' कहा जाता है। ये लोग पत्थर को तराशकर सिल–बट्टे और चक्कियों के पाट, जिसे कहीं–कहीं 'जाँत' और 'बंजारी' भी कहा जाता है बनाकर लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसके बदले में वे जिन्स अथवा नकद धनराशि लेते हैं।* इसी क्रम में भवन निर्माण एवं मूर्तिकारी में पत्थर की विशिष्ट भूमिका का भी विवेचन किया गया है।

इसी अध्याय में काष्ठ पर आधारित शिल्प एवं उद्योग का भी विस्तार से अध्ययन किया गया है। काष्ठ उद्योग के अन्तर्गत रथ एवं बैलगाड़ी, नाव, दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुओं के निर्माण के अलावा गृह निर्माण में काष्ठ की विविध वस्तुओं के निर्माण कार्य को सम्मिलित किया गया है। इसी के अन्तर्गत, वेणुकार जैसे शिल्पी का भी अध्ययन किया गया जिसका प्रमुख धन्धा बाँस अथवा लकड़ी के सामान बनाना था। यही नहीं काष्ठ उद्योग में सहायक उपकरणों का भी विवेचन किया गया है।

अध्याय छः वस्त्र, चर्म तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योग से सम्बन्धित हैं रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूलभूत आवश्यकताएं रहीं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा है। सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा भौतिक उन्नति के साथ रोटी, कपड़ा और मकान के मानदण्ड भी बदलते गये। जहाँ आदि मानव अपनी क्षुधा–तृप्ति के लिए मांस एवं कन्दमूल पर निर्भर था तथा शैलाश्रयों एवं गर्तावासों में रहता था वहीं तन ढकना या तो आवश्यक नहीं समझता था और जब आवश्यक समझता भी था तो वृक्षों के पत्ते एवं छालें ही पर्याप्त होती थी। यही उनकी रोटी और मकान के बाद तीसरी आवश्यकता

आवश्यकता ही नहीं विलासिता के परिचायक बन गये। इसी आवश्यकता और विलासिता के कारण सन, जूट, कपास, क्षौम, रेशम और ऊन आदि के कपड़े बनाये जाने लगे। प्राचीन भारत में ऐसे कपड़े बनाये जाने सम्बन्धी साक्ष्य साहित्य और पुरातत्व दोनों में उपलब्ध हैं। इस अध्याय में सूती वस्त्र उद्योग, रेशमी वस्त्र उद्योग और ऊनी वस्त्र उद्योग के साथ–साथ चर्म उद्योग और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण शिल्प एवं उद्योगों की विवेचना की गयी है।

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आरम्भिक ऐतिहासिक काल में वस्त्र उद्योग अत्यन्त विकसित था। वस्त्र उद्योग से जुड़े कुछ शिल्पी तो इतने प्रवीण थे कि बुने हुए मोटे वस्त्र को एक विशेष प्रक्रिया द्वारा बारीक वस्त्र में परिवर्तित कर सकते थे। यदि ऐसा था तो हम कह सकते हैं कि वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त होने वाली यह तकनीक आज के वैज्ञानिक युग के लिए भी एक चुनौती है। सूती, रेशमी और वस्त्रों का निर्माण कैसे किया जाता था, उस समय भारत में महत्वपूर्ण वस्त्र–निर्माण केन्द्र कौन–कौन थे, वस्त्र निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल कहाँ से प्राप्त होता था, विदेश में भारतीय वस्त्रों की कितनी माँग थी, इन सबके बारे में विस्तार से इस अध्याय में बतलाया गया है। यहीं नहीं वस्त्रों को रंगने और धुलने की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। पीले, नीले, लाल, हरे, काले, सफेंद रंग के वस्त्रों को किस समय पहना जाता था, इस का भी अध्ययन किया गया है। महाभारत के अनुसार विभिन्न सभाओं और समारोंहों में श्रीकृष्ण पीत–कौशेय वस्त्र धारण किये सम्मिलित होते थे। पीताम्बर(पीला वस्त्र) तो श्रीकृष्ण का प्रिय वस्त्र था। रामायण में बाल्मीकि ने रावण को 'पीताम्बर' धारण किये हुए वर्णित किया है। महभारत में अश्वत्थामा के वस्त्र नीले रंग के प्रदर्शित किये गये है। बलभद्र(बलराम) का भी वस्त्र नीले रंग का था। लाल वस्त्र उस समय भी खतरे का प्रतीक था जैसा आज भी है। लाल रंग के वस्त्र से रौद्र का वातावरण आधिक व्यक्त होता था। जिस समय मेघनाथ युद्ध के लिए तैयार होकर चला था उस समय उसने रक्त वर्ण का वस्त्र पहन रखा था। सत्यवान का प्राण लेने के लिए आये यमराज का वस्त्र भी रक्त वर्ण था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब कभी किसी के प्राण लेने का उपक्रम होता

था तब लाल रंग के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इसलिए रक्त रंजित युद्ध भूमि में वस्त्रों का रंग लाल होना स्वाभाविक था। इसी तरह काला वस्त्र मृत्यु, शोक और दुःख का परिचायक माना जाता था। महाभारत के अनुसार परीक्षित ने समूचे सर्प वंश के विनाशार्थ जो यज्ञ आयोजित किया था, उसमें सभी पुरोहित ने काले वस्त्र पहने थे। श्वेत वस्त्र शुभ और कल्याण का प्रतीक था। आज भी श्वेत वस्त्र शान्ति का प्रतीक माना जाता है। रामायण के अनुसार त्रिजटा ने स्वप्न में जब राम और लक्ष्मण को श्वेत वस्त्र पहने हुए देखा तो उसने यह निश्चित रूप से समझ लिया कि युद्ध में विजय इन्हीं की होगी। इससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न रंग के वस्त्रों का भिन्न–भिन्न अवसरों पर प्रयोग होता था।

चर्म उद्योग के अन्तर्गत प्रत्यंचा, गुलेल, रथों को कसने वाले पट्टे, लगाम, चाबुक, चमड़े के थैले, वाद्ययंत्र, चमड़े के पात्र, दुवाली (रस्सी), जूता(उपानह) चरस, मोट या पुर आदि का का निर्माण किया जाता था। उल्लेखनीय है कि कुएं से पानी निकालने के लिए प्राचीन काल में सिंचाई के साधन के रूप में चरस या मोट या पुर का प्रयोग किया जाता था। यह एक बड़ा थैला होता था जिसे बैलों से खींचा जाता था। इसके निर्माण में गाय–भैंस का पूरा का पूरा चमड़ा लग जाता था। ऐसी वस्तुों के अर्थ में ही शायद पाणिनि ने सर्व चर्मीण या सार्वचर्मीण शब्द का प्रयोग किया है। *यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि कुंए से पुर या चरस द्वारा पानी निकालने का कार्य आधुनिक काल तक चलता रहा है। आधुनिक काल में नहरों की बहुलता तथा नलकूपों के अधिकाधिक प्रचलन के कारण ढेकुल, चरस जैसे परम्परागत साधन लुप्त होते जा रहे हैं।* पाणिनि ने पनही (जूते) के लिए अनुपदीना शब्द का उल्लेख किया है। *'अनुपदीना' ऐसे जूते के लिए प्रयुक्त हुआ है जो मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर बनवाये जाते थे। लगता है कि आंजकल की तरह 'आर्डर' देकर जूते बनवाने का प्रचलन प्राचीन काल में भी था। 'अनुपदीना' ऐसे ही अग्रिम आदेश एवं भुगतान पर बनवाये जाने वाले जूते रहे होंगे। उल्लेखनीय है कि जूते प्रायः बाजार में या मोची के घर जाकर अपनी पसन्द एवं नाम के ही खरीदे जाते रहे हैं लेकिन कभी–कभी जब जूते अपनी पसन्द एवं नाप के नहीं मिलते तो*

उन्हें अग्रिम भुगतान एवं आदेश पर भी बनवाये जाते हैं। इसी सन्दर्भ में किन–किन पशुओं के चमड़े का प्रयोग किया जाता था और चमड़ा कैसे कमाया जाता था इसका भी विवरण दिया गया है।

इसी अध्याय में दन्तकारी, सुरा निर्माण आदि पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। हाथी दाँत से सम्बन्धित शिल्प प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में अत्यंत विकसित था। राजमहलों तथा सम्पन्न लोगों के महलों की सजावट में हाथी दाँत के बने सामानों की विशिष्ट भूमिका थी। इन्हें सम्पन्न लोग विशेष महत्व देते थे। इनके बने आभूषण भी विशेष रूप से पसन्द किये जाते थे। इस समय आज की अपेक्षा भारत कें बड़े जंगल थे जहाँ बड़ी संख्या में हाथी रहते थे। अतः कच्चे माल की सुलभता के साथ नवीन तकनीकी जानकारी ने भी इस उद्योग को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। भारत ही नहीं विदेशों में भी इन वस्तुओं की विशेष माँग थी। यही कारण है कि ई0 सन् की आरम्भिक शताब्दियों में भारत से में विदेशों को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में हाथी दाँत की वस्तुएं अनिवार्य रूप से सम्मिलित दिखलायी पड़ती हैं।

इसी प्रकार शराब निर्माण के बारे में भी विवरण दिया गया हैं। सुरा या शराब के प्रति शौक प्राचीनकाल से ही रहा है। विभिन्न प्रकार की शराब के निर्माण की विधियों का विस्तार से विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु नामक सुरा का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने सुरा के निर्माण में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं एवं उनकी मात्रा का भी उल्ेख किया हैं। मेदक नामक सुरा का निर्माण एक द्रोण जल, आधा आढ़क चावल और तीन प्रस्थ किण्व मिलाकर किया जाता था। खमीर उठाने के लिए उसमें किण्व डाला जाता था। 'प्रसन्न' सुरा को बनाने के लिए अन्न की पीठी के अतिरिक्त दालचीनी आदि मसाले भी पानी में मिलाए जाते थे। *देश के अन्दर बनने वाली इन विभिन्न प्रकार की शराबों के बावजूद लगता है कि राजपरिवारों में विदेशी मदिरा की भी माँग रहती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक बार बिन्दुसार ने एष्टिओकस को पत्र लिखकर अपने लिए सूखे अंजीर और एक दार्शनिक के साथ*

मीठी शराब की भी माँग की थी जिसमें दार्शनिक को छोड़कर अन्य चीजें भेजने पर एण्टिओकस सहमत हो गया था।

अध्याय सात में नवीन आर्थिक संस्थाओं, शिल्पी संगठन और समाज में शिल्पियों की स्थिति का अध्ययन किया गया है। ऐतिहासिक काल में पहली बार छठी शताब्दी ई0पू0 में शिल्प एंव उद्योग तथा वाणिज्य–व्यापार के विकास के फलस्वरूप अनेक नगरों का उदय हुआ जो राजनीतिक सत्ता के केन्द्र तो थे ही साथ ही शिल्प एवं उद्योग के केन्द्र के रूप में भी विकसित हुए। यह बात दूसरी है कि छठी शताब्दी ई0पू0 में ग्राम एवं नगर के बीच आज जैसा अंतर नहीं हो पाया था। पाणिनि ने ग्राम तथा नगर शब्दों का प्रयोग करते हुए बतलाया है कि उत्तर पश्चिम भारत में इनके बीच कोई अन्तर नहीं था लेकिन पूर्वी भाग में नगर ग्राम से भिन्न हुआ करते थे। जो भी हो ई0पू0 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। पालिग्रंथों में उस समय मध्य गंगा घाटी में विकसित अनेक नगरों का उल्लेख मिलता हैं जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, पाटलिपुत्र, कुशीनगर, वाराणसी, श्रावस्ती और कौशाम्बी विशेष महत्वपूर्ण थे। इन नगरों में स्वाभाविक रूप से शिल्प और उद्योगों का केन्द्रीकरण होता गया। जैसे–जैसे शिल्प एवं उद्योग विकसित होते गये, इनसे जुड़े लोगों में संघटक प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। बड़े–बड़े व्यापारी तथा चोर लुटेरों के उत्पीड़न से बचने के लिए शिल्पियों ने वर्गीय संगठन की आवश्यकता समझी। शिल्पियों के संगठन को 'श्रेणी' और व्यापारियों के संगठन को 'निगम' कहा जाता था। भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ भिन्न–भिन्न शिल्पों एवं व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थीं। प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन को समुन्नत करने में श्रेणियों का महत्वपूर्ण योगदान तो था ही, साथ ही इन संगठनों की प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में बढ़–चढ़कर भागीदारी दिखलायी पड़ती है। शिल्पी संगठनों के अपने–अलग नियम थे जो राज्य द्वारा मान्य थे। राजा इन संगठनों के नियमों का आदर और सम्मान करता था तथा उनके प्रतिनिधियों को राज्य की प्रशासनिक समिति में सदस्य मनोनीत करता था।

इस अध्याय में वैदिक काल से लेकर कुषाण काल तक के विभिन्न प्रकार के शिल्पी संगठनों के क्रमिक विकास का लेखा–जोखा है। शिल्पी संगठनों का निर्माण, सदस्यों की योग्यता, संगठन के नियमों की सीमाएं, शिल्पी संगठनों की सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं राजकीय संरक्षण, राजनीतिक गतिविधियों में शिल्पियों की भूमिका, शिल्पियों को क्षति पहुँचाने वाले को राज्य द्वारा निर्धारित दण्ड, दुर्घटना के समय क्षतिपूर्ति आदि का विवरण इस अध्याय में दिया गया हैं। जैसे स्ट्रैबों के अनुसार जो व्यक्ति किसी शिल्पी के एक हाथ को तोड़ देता था, एक आँख को फोड़ देता था तो उस व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। शिल्पी संगठनों द्वारा कल्याणकारी कार्यों के अलावा बैंकिंग का भी कार्य किया जाता था। उनके पास एक निश्चित धनराशि जमा कर दी जाती थी जिसे 'अक्षय नीवी' कहा जाता था। इसका मूलधन खर्च नहीं किया जाता था बल्कि इससे जो ब्याज मिलता था वही खर्च किया जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रेणियाँ जहाँ अपने व्यवसाय को संगठित रूप से संचालित करती थी वही दूसरे लोगों का धन भी धरोहर के रूप में रखकर उस पर व्याज देती थीं। श्रेणियों की स्थिति समाज में इतनी सम्मानजनक तथा विश्वसनीय थी कि उनके पास धन जमा करने में किसी को संकोच नहीं होता था। मुख्य बात यह थी कि धन मूल रूप में लौटाया नहीं जाता था। केवल उसका व्याज किसी धर्म कार्य में लगाया जाता था। इस प्रकार के जमा धन से शिल्पियों के आर्थिक कार्यों के लिए पूंजी इकट्ठा हो जाती थी और वे अनेक सांस्कृतिक गतिविधियों में बढ़ चढ़कर भाग लेती थी। जहाँ मौर्योत्तर काल में शिल्पी संगठनों में लोगों का अधिक विश्वास दिखलायी पड़ता है, वहीं इसके पूर्व मौर्यकाल में श्रेणियों द्वारा धोखा–धड़ी किये जाने का उल्लेख मिलता है और इसीलिए कौटिल्य ने लोगों को शिल्पियों के पास धन न जमा करने का सुझाव दिया था। जबकि इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि नासिक अभिलेख में केवल इस बात का ही उल्लेख नहीं है कि वहाँ की कुछ श्रेणियाँ के पास कतिपय धार्मिक कार्यों के खर्च के लिए धन जमा किया गया था बल्कि इस जमा धन के सम्बन्ध में निगम सभा के कार्यालय में नियमानुसार इसकी लिखापढ़ी भी करायी

गयी थी जिसे आज की भाषा में पंजीकरण माना जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि श्रेणियों और अक्षयनीवी के रूप में धन जमा करने वाले व्यक्तियों के बीच में लिखित अनुबंध भी किया जाता था।

विभिन्न प्रकार के शिल्पों को अपनाने वाले लोग किस वर्ण और जाति के थे, समाज में उनकी क्या स्थिति थी, इसका भी अध्ययन इसी अध्याय में किया गया है। जैसे काष्ठ शिल्प से संम्बंधित शिल्पियों में तक्षक (बढ़ई) के अतिरिक्त एक दूसरा शिल्पी–वेणुकार उल्लेखनीय है। वेण, शिकार और बांस का काम करके निर्वाह करने वाली जाति थी। एक परवर्ती जातक में वेणुकार या वेलुकार का वर्णन मिलता है जो बांस काटकर बोझा बनाने के लिए चाकू लेकर जंगल जाता था ताकि उसका व्यापार कर सके। विनय पिटक की टीका में यह उल्लेख मिलता है कि वेण के रूप में जन्म लेने का अर्थ हुआ बढ़ई के रूप जन्म लेना। यहाँ उल्लेखनीय है कि बढ़ई के काम को भी विनय पिटक में हीन कोटि (हीन सिप्प) का बताया गया है। *जब वेण और तच्छक (बढ़ई) समान अर्थ बोधक हैं तो यह बात विचित्र लगती है कि जिस तक्षक को वैदिक कालीन समाज में ऊँचा दर्जा मिला हुआ था उसे बौद्ध ग्रन्थों में अधम कोटि में दिखया जाए। तक्षक के विषय में तो नहीं कह सकते लेकिन शोधकर्त्ता के अनुसार वेणुकारों को बौद्धों द्वारा हीन मानने का एक मुख्य कारण यह हो सकता है कि चूँकि उनका एक काम शिकार करना भी था जिसमें जीवों की हिंसा होती थी और बौद्ध हिंसा के विरोधी थे।*

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कृषि पशुपालन और व्यापार आर्यों के प्रधान कर्म थे किन्तु उनके विस्तार के साथ–साथ अनेकानेक शिल्प तथा उद्योग–धन्धों का भी विकास हुआ। इन उद्योग–धन्धों में लगे रहने के कारण विभिन्न वर्गों का भी उदय हुआ। इस प्रकार विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए लोगों का विभिन्न वर्ग प्रकाश में आया जब लोगों ने अपने घुमन्तू जीवन को छोड़कर विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों में अपने को लगाया, तब अलग–अलग व्यावसायिक एवं शिल्पी संघों का निर्माण हुआ। इनमें कुछ ऐसे पेशे वाले थे जो उच्च थे और कुछ निम्न। निम्न पेशा अपनाने वाले कालान्तर में सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्य माने जाने लगे। जैसे

चर्मकार, वेणुकार, पाण्डुसोपांक, रजक, तंतुवाय (बुनकर या जुलाहा) आदि। उल्लेखनीय है कि अस्पृश्यता का संवैधानिक स्तर पर अन्त किए जाने के बावजूद उपरोक्त शिल्पियों को आज भी कई क्षेत्रों में सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ रहा है। *यह आश्चर्य की बात है कि जिस चर्म शिल्पी द्वारा बनाये गए जूते, चप्पलें, बेल्ट आदि को पहनकर लोग न केवल अपनी आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं अपितु फैशन के प्रतीक भी मानते हैं उस चर्मकार के प्रति भेदभाव करते हुए उसे सामजिक दृष्टि से हीन मानते है। इसी प्रकार मशीनीकरण के बावजूद कपड़ा निर्माण में संलग्न परम्परागत जुलाहा समुदाय भी समाज में सम्मान का पात्र नहीं माना जाता जिसके बनाये हुए वस्त्र हमें सर्दी, गर्मी, वर्षा से राहत प्रदान करते हैं और तीन मौलिक आवश्यकताओं (रोटी–कपड़ा और मकान) में से एक–कपड़ा की पूर्ति करते हैं वह शिल्पी– बुनकर, समाज में सम्मान का पात्र क्यों नहीं हो सका।*

अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी गयी है जिसमें प्राथमिक एवं द्वितीय स्रोतों का विवरण है। इनमें मुख्य रूप से वैदिक साहित्य परम्परा से सम्बद्ध सूत्र और स्मृति साहित्य महत्त्वपूर्ण हैं। सूत्र ग्रंथों में गौतम, वशिष्ठ, बौधायन, आपस्तम्ब धर्म सूत्र विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति अपनी प्राचीनता के कारण प्रस्तुत शोध कार्य के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्य स्मृतियों की रचना बाद के काल में होने के कारण अधिक सहायक सिद्ध नहीं हुई है। स्मृतियों के काल निर्णय के लिए हमने डॉ0 पी0वी0 काणे के मत को ही मानक माना है। प्राचीन पालि प्राकृत ग्रन्थों विशेष रूप से बौद्ध एवं जैन साहित्य को भी मूल स्रोत के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि जातकों के रचनाकाल के बारे में विद्वानों में अभी तक मतैक्य नहीं है, फिर भी सर्व श्री गर्गर, विमल चरन लाहा, रीज डेविड्स दम्पत्ति, फिक्, गिरजा शंकर प्रसाद मिश्र इत्यादि विद्वानों का अनुसरण करते हुए जातकों की सामग्रियों का उपयोग किया गया है। अर्थशास्त्र के साक्ष्यों का उपयोग व्यापक स्तर पर किया गया है। मैनें अर्थशास्त्र के विद्वान प्रोफेसर कांग्ले द्वारा सम्पादित संस्करण को ही अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय पाया है। जातक की

तरह ही महाकाव्यों का भी प्रयोग इसी आधार पर किया गया है कि रामायण और महाभारत की सामग्रियाँ प्रस्तुत शोध प्रबंध के काल के लिए प्रयोज्य हैं। यही नहीं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी और पतंजलि कृत महाभाष्य यद्यपि मुख्य रुप से व्याकरण ग्रंथ है फिर भी शिल्प एवं उद्योग से संबन्धित शब्दावलियों और उनके विस्तृत अर्थ के मानक ग्रंथ होने के कारण ये दोनों ही ग्रंथ हमारे अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य के साथ–साथ पुरातात्विक सामाग्री से भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। इस कारण ये हमारे शोध के मूलस्रोत के रूप में उल्लेखनीय है।

हमने प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में उत्तर भारत में शिल्प एवं उद्योग तथा उससे जुड़े लोगों की समाजार्थिक स्थिति के सर्वेक्षण का प्रयास किया है। अधीतकाल में शिल्प एवं उद्योग के स्वरूप को समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में वैदिक साहित्य का भी अध्ययन किया गया है। उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों के विश्लेषण से शिल्प एवं उद्योग की क्रमिक उन्नति का बोध होता है।

छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में द्वितीय नगरीकरण हुआ। नगरीकरण ने शिल्प और उद्योग को तथा शिल्प एवं उद्योग ने नगरीकरण को बढ़ावा दिया। यहाँ उल्लेखनीय है कि लौह प्रौद्योगिकी (Iron Technology) ने गंगा धाटी की अर्थ व्यवस्था में क्रांतिकारी भूमिका निभायी।

जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के उत्थान से वणिक वर्ग का विकास हुआ क्योंकि उन्हें व्यापार हेतु विदेश यात्रा करने एवं ब्याज लेने (सूदवृत्ति) का अधिकार मिला। उल्लेखनीय है कि ब्राहमण व्यवस्था के अन्तर्गत उक्त दोनों कार्य निन्दनीय माने गये थे। वणिक वर्ग के विकास से शिल्प एवं उद्योग का भी उत्थान हुआ।

बड़े–राज्यों की स्थापना से देश में स्थिरता एवं शान्ति का वातावरण बना। स्थिरता एवं शान्ति वाणिज्य–व्यापार तथा शिल्प एवं उद्योग के विकसित होने की अनिवार्य शर्त है। अतः ऐसे वातावरण में विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उत्थान होना स्वाभाविक था।

मौर्यकाल में सशक्त राजकीय नियंत्रण एवं संरक्षण से शिल्प एवं उद्योग भी अछूता नहीं रहा। समकालीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अनेक उद्योग राजकीय नियंत्रण में थे। आधुनिक शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि मौर्यकाल में अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो गया था। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की अपनी सीमाएं एवं सम्भावनाएं होती है। यही कारण है कि मौर्य काल में शिल्पी संगठनों का उतना विकास नहीं दिखलायी पड़ता जितना कि मौर्योत्तर काल में। उल्लेखनीय है कि विवेच्यकाल के आर्थिक जीवन में शिल्पियों का महत्वपूर्ण योगदान था। शिल्पी आर्थिक जीवन के मेरुदण्ड थे। ग्राम तथा नगर के जीवन में शिल्पियों की विशिष्ट भूमिका थी। शिल्पियों ने अपने आर्थिक तथा सामाजिक हितों की रक्षा के लिए संगठन बनाये। शिल्पी अपने दायित्वों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सतत सचेष्ट रहे।

विकसित शिल्पी संगठनों के जितने पुरातात्तिवक साक्ष्य मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल के मिले हैं उतने इससे पूर्व काल के नहीं मिलते। पुरातात्त्विक साक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणिक होते हैं, इस बात को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोधकार्य को वर्तमान स्वरूप दिया गया है। शिल्पियों और उनके व्यवसायों से सम्बन्धित भौतिक साक्ष्य विविधताओं से युक्त है। अभी भी शिल्प एवं उद्योग के विषय में किए गए अनुसन्धानों में अनेक अन्तराल है, उनकी भौतिक पृष्ठभूमि को ठीक ढंग से तथा विस्तार से समझने की नितान्त जरूरत है। अधीतकाल में शिल्पियों से सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्य बहुत कम मिलें हैं जो मिले भी हैं वे अधिकांशतः उत्तर भारत में नहीं आते जो कि प्रस्तुत शोध का भौगोलिक क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में अभिलेखों के अलावा जो पुरातात्त्विक साक्ष्य उत्तर भारत में मिले हैं उसी के आधार पर शिल्प एवं उद्योगों के विकास की अवस्था का सर्वेक्षण किया गया है। विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों से सम्बन्धित पुरातात्त्विक साक्ष्यों के स्पष्टीकरण की नितान्त आवश्यकता है।

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

मूल ग्रंथ :

1. अंगविज्जा — मुनि श्री पुण्य विजय (सम्पादक) वी0 एस0 अग्रवाल, वाराणसी, 1957
2. अथर्ववेद (शौनकीय) — (सं0) विश्व बंधु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1962 ई0
3. अंगुत्तर निकाय — आर0 मोरिस एवं ई0 हार्डी, लन्दन, 1885–1900 (हिन्दी अनु0) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, कलकत्ता
4. अष्टाध्यायी — (सम्पा0) एस0 सी0 बसु, दो भाग,मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1980 ई0
5. अवदानशतक — जे0 एस0 स्पेयर सेंट पीटर वर्ग, 1902–1909
6. अर्थशास्त्र — आर0 पी0 काँगले, बम्बई, 1969
आर0 शामशास्त्री, मैसूर, 1909
वाचस्पति गैरोला, वाराणसी, 1977
7. आपस्तम्ब धर्मसूत्र — हरदत्त की टीका चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
8. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र — रिचर्ड गार्बे, जिल्द कलकत्ता 1882–1902 ई0
9. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र — सुदर्शनाचार्य की टीका सहित मैसूर गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी सीरीज
10. आश्वलायन श्रौतसूत्र — गार्ग्य नारायण एवं राम नारायण विद्यारत्न, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता 1989 ई0
11. आचारांग सूत्र — अनु0 जैकाबी 22, आक्सफोर्ड, 1884 (हि0

अनु0) पं0 मुनि श्री सौभाग्य मलजी महाराज, जैन साहित्य, नयापुरा, उज्जैन वि0 सं0 2007

12. ऋग्वेद संहिता — (सं0) एस0 सोनटक्के, वैदिक समाशोधन मण्डल, पूना, 1972 ई0

13. ऐतरेय ब्राह्मण — (सं0) आर0 अनन्त कृष्ण शास्त्री जिल्द एक, भास्कर प्रेस, त्रिवेन्द्रम, 1942 ई0

14. ऐतरेय आरण्यक — सम्पादक, कीथ, ए0 बी0 आक्सफोर्ड, 1909

15. काशिका — आर्येन्द्र शर्मा, संस्कृत परिषद उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद, 1969

16. काशिका वृत्तिः — स्वामी द्वारिका दास शास्त्री एवं आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल वाराणसी, 1983

17. काठक संहिता — श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, गुजरात (च0 सं0)1983

18. खुददक निकाय — भिक्षु जगदीश काश्यप, बिहार गवर्नमेंट, 1959

19. गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1910 ई0 (सं0) उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1993 ई0

20. चुल्लवग्ग पालि — भिक्षु जगदीश काश्यप, बिहार 1956

21. छान्दोग्योपनिषद — सम्पादक ओ0 बोथलिंग, लीपजिंग, 1889

22. जातक अट्कथा जातक — भिक्षु धर्मरक्षित, काशी, 1951, बी0 फासवेल लन्दन 1963, प्रो0 ई0 बी0 कावेल, लन्दन, 1973 (हिन्दी अनु0) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

23. जैनसूत्राज — आक्सफोर्ड, 1884, 1895

आनन्द आश्रम 1938 ई0

25. तैत्तरीय ब्राह्मण — प्रथम खण्ड, एन0 एस0 सोनटक्के, टी0 एन0 धर्माधिकारी, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना 1970 ई0

26. तैत्तरीय आरण्यक — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1926

27. तैत्तरीय संहिता — श्रीपाद शर्मा, औधनगर 1945, कलकत्ता, 1854

28. थेर एण्ड थेरी गाथा — हरमन ओलडेनवर्ग एण्ड रिचर्ड पिसेल, लुजैक एण्ड कम्पनी लि0 1966

29. दिव्यावदान — सम्पादक ई0 वी0 कावेल एवं आर0 ए0 नील, कैम्ब्रिज 1886, दरभंगा 1959

30. दि कमेन्टरी ऑन दि धम्मपद — लुजैक एंड कम्पनी लि0 लन्दन, 1946

31. दीघनिकाय — भिक्षु जगदीश काश्यप, बिहार गवर्नमेंट 1958 (हिन्दी अनु0) महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा सारनाथ, 1936

विपासना रिसर्च इंस्टीट्यूट, धम्मगिरि इगतपूरी, नासिक,

32. दीपवंश — सम्पादक, ओल्डेनवर्ग, लन्दन 1879

33. धम्मपद — सम्पादक, राहुल सांस्कृत्यायन, बुद्ध बिहार रिसालदार पार्क लखनऊ, अनुवादक एवं सम्पादक भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, 1959

34. नामलिंगनुशासन (अमरकोष) — श्री पं0 हरगोविन्द शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, 1970 ई0

35. निदान कथा — एन0 के0 भागवत, बम्बई, 1935

36. पन्नवणासूत्र (मलयगिरि की टीका सहित) — दो जिल्द , बनारस, 1884 ई0

37. पंचविंश ब्राह्मण — कलकत्ता, 1931

39. वृहदारण्यकोपनिषद — स्वामी माधवानन्द, अल्मोड़ा, 1950 ई0

40. बौधायन धर्मसूत्र — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज

41. बौधायन गृहसूत्र — आर0 शामशास्त्री, मैसूर, 1920

42. भगवती सूत्र — सं0 मुनि दीप रत्न सागर, आगम आराधना केन्द्र, अहमदाबाद, 2000 ई0

43. मज्झिम निकाय — भिक्षु जगदीश काश्यप बिहार गवर्नमेंट, 1958 (अनुवाद) राहुल सांस्कृत्यायन (द्वि0 सं0) 1964

44. मनुस्मृति — बी0 एन0 माण्डलिक, बम्बई, 1886 मेघातिथि की टीका संहित कलकत्ता, 1932 (सम्पादक / अनुवादक) जार्ज व्यूलर दि लाज ऑव मनु सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट सिरीज, दो भाग (सं0) जयन्त कृष्ण देव हरिकृष्ण देव, भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1972 ई0

45. महाभाष्य — सम्पादक, गुरू प्रसाद शास्त्री बनारस, एफ कीलहार्न, महाभाष्य ऑव पंतजलि (दि0सं0) 3 खण्ड 1892–1909

46. महाभारत — पूना, 1927 एवं आगे, गोरखपुर 1955–58 अनुवाद पी0 सी0 राय, कलकत्ता 1895

47. महावंश — अनुवाद – डब्लू गाइडर, सीलोन गवर्नमेंट इनफार्मेशन डिपार्टमेंट कोलम्बो

48. महावस्तु — (अनु0) भिक्षु धर्मरक्षित, बनारस ज्ञान मण्डल लिमिटेड, 1969 ई0

49. महावग्ग — एन0 के0 भागवत, बाम्बे, 1944

50. महावग्गपालि — भिक्षु जगदीश काश्यप बिहार गवर्नमेंट, 1958

51. मिलिन्दपन्हों — आर0 डी0 बाडेकर, बम्बई, 1940 (सम्पादक) बी0 ट्रेंकनर, लन्दन, 1880

52. मैत्रायणी संहिता — (सं0) भट्टाचार्य श्री पादशर्मा दामोदर भट्ट

53. यजुर्वेद संहिता – (सं0) महर्षि दैवरात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1973 ई0

54. याज्ञवल्क्य स्मृति – चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस, 1929

55. रामायण (वाल्मीकिकृत)– गीता प्रेस गोरखपुर 1975 ई0

56. ललित विस्तर – (सम्पादक) पी0 एल0 वैद्य दरभंगा, 1958
(सम्पादक) आर0 एल0 मित्र, कलकत्ता 1877

57. वशिष्ठ धर्मसूत्र – सम्पादक ए0 ए0 फूहरर बम्बई, 1916 ई0

58. वाजसनेयी संहिता – (सं0) वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंसिकर, बम्बई 1919 ई0 (माध्यंदिन पाठ)

59. विनय पिटक – अनुवाद, रीजडेविड्स, आक्सफोर्ड 1881–1885, हिन्दी अनुवाद–राहुल सांस्कृत्यायन, सारनाथ, 1935 ई0

60. विष्णु धर्मसूत्र – सम्पादक, जोली, कलकत्ता 1881

61. सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र – (सं0) एन0 दत्त कलकत्ता, 1952 ई0

62. सत्याषाढ़े श्रौतसूत्र (हिरण्यकेशिन) – महादेवी टीका सहित, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, 1907 ई0

63. संयुक्त निकाय – दो भाग (अनु0) भिक्षु जगदीश काश्यप बिहार गवर्नमेंट, 1959 भिक्षु धर्मरक्षित (प्र0 सं0) सारनाथ 1954

64. सांख्यायन श्रौत्रसूत्र – कलकत्ता, 1886–89

65. सुत्त निपात – भिक्षु धर्मरक्षित (प्र0 सं0) वाराणसी, 1977 सम्पादक, राहुल सांस्कृत्यायन रंगून, 1937 पालि टेक्टस सोसायटी, लन्दन, 1913

66. सुत्तनिपात अष्ट्कथा– डॉ0 अंगराज चौधरी, नालन्दा, 1975

67. सूत्रधारा – डेविड्स टी0 डब्लू रीज एवं डब्लू स्टीड, एनल्स ऑव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, 1972

68. सौन्दरानन्द – (सम्पादक) हर प्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, 1910

69. शतपथ ब्राह्मण – (अनु0) गंगा प्रसाद उपाध्याय, गोविन्द राम हासानन्द, नई दिल्ली 1988 ई0

सहायक ग्रंथः

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण – पाणिनिकालीन भारतवर्ष (द्वि0 सं0) वाराणसी, 1969, भारतीय कला, वाराणसी 1966
2. अग्रवाल, डी0 पी0 – दि कॉपर ब्रोंज एज इन इंडिया, नई दिल्ली, 1971
3. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल – पंतजलि कालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1963 ई0
4. आयंगर, के0 बी0 आर0 – एंशयंट इंडियन इकोनामिक थॉट, बनारस, 1934 एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई 1966 ई0
5. आद्या, जी0 एल0 – अर्ली इंडियन, इकोनामिक्स
6. आपर्ट , जी0 – आन द एंशयंट : कामर्स ऑव इंडिया, मद्रास, 1879
7. उपाध्याय, जी0 पी0 – ब्राह्मणाज इन एंशयंट इंडिया, नई दिल्ली, 1976
8. एलन, जे0 – केटालॉग ऑव क्वायन्स ऑव एंशयंट इंडिया इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन, 1936 (पुन मुद्रित) नई दिल्ली, 1975
9. कनिंघम, ए0 – आर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट भाग II शिमला, भाग III V X कलकत्ता
10. काणे, पी0 बी0 – धर्मशास्त्र का इतिहास (अनुवादक) अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, 1973
11. कुमारस्वामी, ए0 के0 – अर्ली इंडियन आर्केटेक्चर पैलेसेज, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्रा0 लि0 नई दिल्ली, 1975 ई0, दि इंडियन क्राफटसमेन, लन्दन, 1909
12. क्रेंमरिश, स्टेला – इंडियन स्कल्पचर्स (प्रथम भारतीय पुनर्मुद्रण) दिल्ली, 1981
13. कौशाम्बी डी0 डी0 – ऑव इंडियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956 इंडियन हिस्ट्री कल्चर एण्ड सिविलाईजेशन, ए, हिस्टोरिकल आउट लाइन (चं0 सं0) 1976, प्राचीन

भारत की संस्कृति और सभ्यता एक एतिहासिक रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद) नयी दिल्ली, 1977

14. कोनो, स्टेन — कारपस इंस्क्रिपशन्स इंडिकेरम भाग I (1) कलकत्ता, 1929

15. कोनो एंड विज्क — दि इरा ऑव द इंडियन खरोष्ठी

16. वी0 ई0 वैन — इंस्क्रिपशन्स ए0 बी0 II , 1925

17. गोपाल, लल्लन जी — इकोनॉमिक लाइफ ऑव नार्दन इंडिया, वाराणसी, 1965

18. गौड, आर0 सी0 — एक्सकेवेशन्स एट अतरंजीखेड़ा, दिल्ली, 1983

19. घोष, ए, — दि सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इंडिया शिमला, 1973

20. चक्रवर्ती, एच0 पी0 — ट्रेड एंड कामर्स ऑव एंशयंट इंडिया (200 ई0 पू0 650 ईसवी) कलकत्ता, 1967

21. चार्ल्स, बर्थ — रोमन ट्रेड विद इंडिया : ए रिसर्वे पी0 आर0 कोलमन नोर्टन (सं0) स्टडीज इन रोमन इकोनोमिक एंड सोसल हिस्ट्री इन ऑनर ऑव एलन चेस्टर जानसन, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1951

22. जायसवाल, के0 पी0 — हिन्दू पोलिटी, बंगलोर, 1943

23. जैन, कैलाशचन्द्र — प्राचीन भारत में सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश अकादमी, भोपाल (तृ0 सं0) 1976

24. जैन, जे0 सी0 — लाइफ इन एंशयंट इंडियां ऐज डेपिक्टेड इन दि जैन केनॅन्स, बम्बई, 1947

25. जोशी, एन0 पी0 — मथुरा स्कल्पचर्स, मथुरा, 1977

26. ठाकुर, विजय कुमार — अर्बनाइजेशन इन एंशयंट इंडिया, नई दिल्ली, 1981

27. थापर, रोमिला — अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन; नयी दिल्ली, 1977 एंशयंट इंडियन सोसल हिस्ट्री, दिल्ली, 1978

28. थार्नर, डेनियल — "मार्क्स आन इंडिया एण्ड द एशियाटिक मोड ऑव प्रोडक्शन" "कंट्रीव्यूशन टु इंडियन सोसालॉजी संख्या 9

29. दत्त, आर० सी० — हिस्ट्री ऑव सिविलाइजेशन, इन एंशयंट इंडिया, लन्दन, 1893

30. दास, एस० के० — इकोनामिक हिस्ट्री ऑव एंशयंट इंडिया, कलकत्ता, 1929

31. दीक्षित, एम० जोशी — इचेड बीड्स इन इंडिया, पूना 1949 एक्सकेवेशंस एट त्रिपुरी 1952, पूना

32. दीक्षित वार वी० आर० आर० — दि मौर्यन पालिटी, मद्रास 1932, शिल्पादिकारम, आक्सफोर्ड, 1939

33. देव, एस० बी० — एक्सकेवेशन्स एट नैकुण्ड, पूना 1980

34. नारायण, ए० के० एण्ड पी० सिंह— एक्सकेवेशन्स एट राजघाट पार्ट II वाराणसी, 1977

35. निगम, एस० एस० — इकोनामिक ऑर्गनाइजेशन इन एंशयंट इंडिया दिल्ली, 1975

36. नियोगी, पी० — द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव नार्दन इंडिया, कलकत्ता, 1962

37. परट्राई , फलाइन्डर्स — टूल्स एंड वेपन्स, लन्दन, 1901

38. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र — बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास (द्वि० सं०) लखनऊ, 1976

39. पाण्डेय, चन्द्रभान — आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास (प्र० सं०) 1963

40. पाण्डेय जयनारायण — पुरातत्व विमर्श, इलाहाबाद 1983
भारतीय कला एवं पुरातत्व, इलाहाबाद 1989

41. प्रसाद, कामेश्वर — सिरीज क्राफ्ट एंड कामर्स अंडर दि कुषाणाज, दिल्ली, 1981

42. प्राणनाथ — ए स्टडी इन दि इकोनॉमिक कंडीशन्स ऑव एंशयंट इंडिया, लन्दन, 1929

43. पुरी, बी0 एन0 — इंडिया अंडर कुषाणाज बम्बई, 1965
इंडिया इन दि टाइम ऑव पंतजलि, बम्बई, 1957
इंडिया एज डिस्क्राइब्ड वाई अर्ली ग्रीक राइटर्स इलाहाबाद, 1939
ट्रेड गिल्ड्स इन संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर (आई0 सी0 XVI)

44. फिक, रिचर्ड — दि सोसल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम (अनु0) शिशिर कुमार मित्र, कलकत्ता, 1920

45. बनर्जी, एन0 आर0 — आयरन एज इन इंडिया, दिल्ली, 1965

46. बसु, जोगिराज — इंडिया ऑव दि एज ऑव दि ब्राह्मणाज, कलकत्ता, 1969

47. बुच, मगनलाल ए0 — इकोनॉमिक लाइफ इन एंशयंट इंडिया, आर0 एस0 पब्लिसिंग हाउस, इलाहाबाद, 1979

48. बंद्योपाध्याय, एन0 सी0 — इकोनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशयंट इंडिया यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, 1945

49. बॉग्ले, नरेन्द्र — सोसायटी एट दि टाइम ऑव बुद्धा, बम्बई, 1966

50. बिंटरनित्स, एम0 — ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर जिल्द 1–2 (द्वि0 सं0) नई दिल्ली, 1972

51. बुच, एम0 एन0 — इकोनामिक लाइफ इन एंश्यंट इंडिया, बड़ौदा, 1924

52. बेक, एच0 — दी बीड्स फाम वेविसला, कलकत्ता 1941

53. बोस, ए0 एन0 — सोसल एंड रूरल इकोनॉमी ऑव नार्दन इंडिया, भाग 1 एवं 2 कलकत्ता, 1967

54. भट्टाचार्या, एस0 सी0 — सम आस्पेक्ट्स ऑव इंडियन सोसायटी (द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 से चतुर्थ शताब्दी ईसवी) कलकत्ता,

55. मजूमदार, आर० सी० – प्राचीन भारत में संघटित जीवन अनु० के० डी० बाजपेयी, सागर, 1966
द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1960
हिन्दू कालोनीज इन द साउथ ईस्ट एशिया
हिन्दू कालोनीज इन द फार ईस्ट कलकत्ता, 1944

56. मजूमदार, वी० पी० – सोशियो–इंकोनामिक हिस्ट्री ऑव नार्दन इंडिया, कलकत्ता, 1950

57. मजूमदार, जी० पी० – सम आस्पेक्टस ऑव इंडियन सिविलाइजेशन, कलकत्ता, 1938

58. मजूमदार, एन० जी० – लिस्ट ऑव खरोष्ठी इंसिक्रिप्शंस

59. मजूमदार, एंड पुसलकर – (सं०) दि एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी

60. महतो, मोहनलाल – जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, 1958

61. मार्गबन्धु, सी – आर्कलॉजी ऑव सातवाहन क्षत्रप टाइम्स, दिल्ली, 1985

62. मार्शल, जे० एच० – गान्धार आर्ट, कैम्ब्रिज 1960

63. मार्शल, जॉन – तक्षशिला, भाग 1, 2, 3 कैम्ब्रिज, 1951

64. मिश्रा, आर० एन० – एंश्यंट आर्टिस्ट एंड आर्ट एक्टिविटी, शिमला, 1975

65. मिश्र, सच्चिदानन्द – प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, गोरखपुर, 1984

66. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, 1980 ई०

67. मिल, जेम्स – हिस्ट्री ऑव ब्रिटिश इंडिया, लन्दन, 1817

68. मित्रा, देबला – बुद्धिस्ट मानुमेन्टस, कलकत्ता, 1970

69. मुकर्जी, राधाकुमुद – हिन्दू सभ्यता बम्बई, 1955
एंश्यंट इंडिया, इलाहाबाद, 1956
चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल
(द्वि० सं०) नयी दिल्ली, 1990

आक्सफोर्ड, 1920, इंडियन शिंपिग एंड मेरीटाइम्स एक्टिविटीज, आक्सफोर्ड, 1912

70. मुकर्जी, बी0 एन0 — दि इकोनॉमिक फैक्टर इन द कुषाण हिस्ट्री, कलकत्ता, 1976

71. मेहता, आर0 एल0 — दि बुद्धिस्ट इंडिया, बम्बई, 1939

72. मैग्डानल एवं कीथ — वैदिक इंडेक्स (अनु0) राम कुमार राय, वाराणसी, 1962

73. मैक्रिंडल, जे0 डब्लू — एंश्यंट इंडिया कलकत्ता, 1902

74. मैक्रिंडल — एंश्यंट इंडिया एज डिस्क्राइण्ड वाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता 1877

75. मैक्स बेवर — दि थ्योरी ऑव सोसल एंड इकोनॉमिक आर्गनाइजेशन, न्यूयार्क, 1967

76. मोती चन्द्र — सार्थवाह, पटना, 1953

77. यादव, बी0 एन0 एस0 — "सम एस्पेक्टस ऑव चेंजिग आर्डर इन इंडिय ड्यूरिंग शक कुषाण एज," कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद, 1968

78. राय, टी0 एन0 — दि गैंगेज सिविलाइजेशन, दिल्ली, 1983

79. राय, यू0 एन0 — प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन इलाहाबाद, 1965

80. राय, जे0 सी0 — एंश्यंट इंडियन लाइफ, कलकत्ता, 1948

81. राय, जयमल — दि रूरल–अर्बन इकोनॉमी एंड सोसल चेंज इन एंश्यंट इंडिया, वाराणसी, 1974

82. राय चौधरी, हेमचन्द्र — पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एंश्यंट इंडिया (ष0सं0) कलकत्ता, 1953

83. (श्रीमती) राज, भारती — प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन इलाहाबाद, 1985

84. रामगोपाल — इंडिया ऑव वैदिक कल्पसूत्राज, दिल्ली, 1963

85. रालिन्सन, एच0 जी0 – इंटरकोर्स बेटवीन इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, लन्दन, 1916

86. राव, वी0 एस0 एल0 हनुमंथ – दि एज ऑव सातवाहनाज, हैदराबाद, 1976

87. (श्रीमती) रीज डेविड्स टी0 डब्ल्यू – नोट्स ऑन अर्ली इकोनॉमिक कंडीशन्स इन नार्थ इंडिया, जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, 1901

88. रीज डेविड्स, टी0 डब्ल्यू – बुद्धिस्ट इंडिया, कलकत्ता, 1950

89. (श्रीमती) रीज डेविड्स टी0 डब्ल्यू – "इकोनॉमिक कंडीशन्स टु अर्ली बुद्धिस्ट लिटरेचर" कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया जिल्द प्रथम कैम्ब्रिज 1921 (सं0 ई0 जे0 रैप्सन)

90. रीज डेविड्स (अनुवादक) – दि क्वेश्चन ऑव किंग मिलिन्द सेक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट सिरीज 36, 1890

91. रे, एस0 सी0 – स्ट्रेटोग्रैफिक इविडेंस ऑव क्वायन्स इन इंडियन एक्सकेवेशंस एण्ड सम एलाइड इश्यूज मोनोग्राफ नं0 8, वाराणसी 1959

92. रे, निहार रंजन – मौर्य तथा मौर्योत्तर कला (हिन्दी अनुवाद) (प्र0 सं0) नई दिल्ली, 1979

93. रैप्सन, ई0 जे0 – कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया (पुन र्मुद्रित) दिल्ली, 1962

94. रोलैंड, बैजामिन – दि आर्ट एण्ड आर्किटिक्चर ऑव इंडिया (तृ0 सं0) बेंग्वुइन, 1956

95. ला0, वी0 सी0 – इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्टस ऑव बुद्धिज्म एंड जैनिज्म, लन्दन, 1941

96. लाल, बी0 बी0 – "एक्सकेवेशंस एट हस्तिनापुर एंड अदर एक्सप्लोरेंशस इन दि अपर गंगा एंड सतलज बेसिन्स 1950–52" एंश्यंट इंडिया नं0 10–11 1954–55

एंड त्वूमीज जोना के0 — दि रिलिजस फैक्टर्स इन इंडिया, न्यूयार्क, 1969

98. वार्मिंगटन, ई0 एच0 — कामर्स बैटवीन इंडिया एंड रोमन इम्पायर, कैम्ब्रिज?, 1928

99. विलियम हेनरिक वाइजर — दि हिन्दू जजमानी सिस्टम (द्वि0 सं0) दिल्ली, 1958

100. ह्वीलर, मार्टीमर — रोम वियांड द इंपीरियल फ्रंटियर्स, पेलिकन हामर्डवर्थ, 1954

101. ह्वीलर, आर0 ई0 एम0 — अर्ली इंडिया एंड पाकिस्तान, लन्दन 1959

102. वैडल, एल0 ए0 — रिपोर्ट ऑन दि एक्सकेवेशन्स एट पाटलिपुत्र, कलकत्ता, 1903

103. स्कॉफ, डब्ल्यू0 एच0 — दि पेरियल्स ऑव इरिथ्रियन सी, लन्दन, 1912

104. समद्दर, जे0 एन0 — इकोनॉमिक कंडीशन्स ऑव एंशयंट इंडिया, कलकत्ता, 1922

105. सरकार, डी0 सी0 — सेलेक्टेड इन्सिक्रिप्शन्स (द्वि0 सं0) कलकत्ता, 1942 अशोक के धर्म (हिन्दी अनुवाद) (अनुवादक) जनार्दन भट्ट, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, दिल्ली, 1957

106. सरस्वती एस0 के0 — ए सर्वे ऑव इंडियन स्कल्पचर्स

107. सिन्हा वी0 पी0 — पॉटरीज इन एंश्यंट इंडिया पटना, 1969

108. सिन्हा वी0 पी0 एंड आदित्य नारायण लाल — पाटलिपुत्र एक्सकेवेशंस 1955–56, पटना, 1970

109. सिन्हा वी0 पी0 एंड सीताराम राय — वैशाली एक्सकेवेशंस 1958–62, पटना 1969

110. सिन्हा के0 के0 — पुरातत्व नं0 5 1971–72 एक्सकेवेशन्स एट श्रावस्ती 1959, वाराणसी, 1967

111. सिंह, मदन मोहन — लाइव इन नार्थ ईस्टर्न इंडिया इन प्रि–मौर्यन, टाइम्स, दिल्ली, 1967

112. सिंह गुरूचरन — पॉटरी इन इंडिया, नई दिल्ली, 1979

113. स्मिथ, विसेंट — अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, आक्सफोर्ड, 1904

114. सुब्बाराव, एन0 एस0 – इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल कंडीशन्स इन एंश्यंट इंडिया, मैसूर, 1911

115. श्रीवास्तव, बलराम – ट्रेड एंड कामर्स इन एंश्यंट इंडिया फ्राम अर्लियस्ट टाइम टु 300 ई0, वाराणसी, 1968

116. शर्मा आर0 एस0 – एसपेक्ट्स ऑव पालिटिकल आइडियाज एंड इस्टीच्यूशंस इन एंश्यंट इंडिया (द्वि0 सं0) दिल्ली, 1968

अर्बन डिके (300–600 ईसवी) दिल्ली 1987

स्टेजेज इन इंडियन इकोनॉमिक लाइट ऑन अर्ली इंडियन सोसायटी एंड इकोनॉमी बम्बई, 1966

शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1977

पर्सपेक्टिव्स इन सोसल एंड इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव अर्ली इंडिया (प्र0 सं0) नयी दिल्ली, 1983

पूर्वकालीन समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश (हिन्दी अनु0) वाराणसी, 1978

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था की विभिन्न अवस्थएं (हिन्दी अनु0) वाराणसी, 1978

प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं (हिन्दी अनु0) नयी दिल्ली, 1990

पूर्व मध्यकाल में सामाजिक परिवर्तन दिल्ली, 1975 (हिन्दी अनु0)

मेटीरियल कल्चर सोसल फार्मेन्स इन एंश्यंट इंडिया (पुनर्मुद्रित सं0) दिल्ली, 1985

सर्वे ऑव रिसर्च इन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑव इंडिया दिल्ली, 1986

लाइट ऑन अर्ली इंडियन सोसायटी एंड इकोनॉमी, बम्बई, 1954

117. शर्मा, जी0 आर0 – एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी 1957–59 इलाहाबाद,1960
कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद 1968
एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी (1949–50) मेमोयर्स ऑव दि आर्कियलार्जिकल सर्वे ऑव इंडिया नं0 74 दिल्ली, 1969

118. शर्मा, आर0 सी0 – मथुरा, 1987

119. शास्त्री, के0 आर0 आर0 – साउथ इंडियन गिल्ड्स मद्रास, 1925

120. शास्त्री, के0 ए0 नीलकंठ – नन्द मौर्य युगीन भारत (हिन्दी अनु0) बनारस, 1969
दि चोलाज, जिल्द 1 एंव 2 , मद्रास, 1937
मौर्याज एंड सातवाहनाज, कलकत्ता, 1957
दि एज ऑव नन्दाज एण्ड मौर्याज, दिल्ली, 1967

121. शाह, के0 टी0 – एंश्यंट फाउन्डेशन्स ऑव इकोनॉमिक्स, बम्बई, 1954

122. हुल्श, ई0 – इंस्क्रिप्शन्स ऑव अशोक कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम जिल्द 1, लन्दन, 1925

123. त्रिपाठी, राम नरेश – प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार (प्र0 सं0) इलाहाबाद, 1981

शब्द कोशः

1. अभिधानचिन्तामणि – हलायुध, लन्दन, 1861

2. अमर कोषः – अमर सिंह
चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, वि0 सं0 2026

3. अमरकोष (विद द कमेन्टरी ऑव माहेश्वर) आर0 जी0 भण्डारकर एवं वामनाचार्य झालकीकन, बम्बई, 1857

4. अमरकोष (विद द अनपब्लिश्ड साउथ इंडियन कमेन्टरी) – ए0 पी0 रामनाथन, द अदयर लाइब्रेरी एंड रिसर्च सेन्टर, 1978

5. अर्थशास्त्र परिभाषा कोश – नयी दिल्ली, भारत सरकार, 1977

दिल्ली, 1976

7. डिक्शनरी ऑव पालि प्रापरनेम्स – जी0 डी0 मलालसेकर खण्ड 1 एवं 2, लन्दन 1960

8. डिक्शनरी ऑव इकोनॉमिक – आई0 एच0 बरकिल

9. देशीनाममाला – सम्पादक, हेमचन्द्र, आरपिसेल, जर्मन, बॉम्बे संस्कृत सीरीज नम्बर 17, 1938

10. पालि–इंग्लिश डिक्शनरी – रीज डेविड्स एवं स्टीड डब्ल्यू लन्दन, 1959

11. मानक हिन्दी कोश – सम्पादक रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1973

12. संस्कृत–इंग्लिश डिक्शनरी– बी0 एस0 आप्टे, दिल्ली, 1970

13. संस्कृत–हिन्दी कोश – बी0 एस0 आप्टे, दिल्ली, 1988

14. अंग्रेजी–हिन्दी कोश – बुल्के कामिल, कथालिक प्रेस, राँची (द्वि0 सं0) 1974